ईश्वर-साक्षात्कारकी भूमिका

ऋषियोंका साक्षात्कारका अनुभव

धर्ममें 'ईश्वरका स्वरूप' जिस प्रकारका माना जाता है, उस तरहका उस धर्मका स्वरूप बन जाता है, इसलिये वैदिक धर्ममें ईश्वरका स्वरूप किस प्रकारका वर्णन किया है, यह बतानेके लिये इस ग्रंथका लेखन किया है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् यह वेदके धर्मका मूल है, इसमें भी संहिताभाग अतिप्राचीन है। सनातन वैदिक धर्मका यही आदि मूल है। इस आदि मूलमें 'ईश्वर' का वर्णन किस प्रकारसे किया है, यह यहा बताया है।

इसमें सपूर्ण ६ सूक्त दिये हैं, और फुटकर मंत्रभाग सैकडों हैं, कुल-मंत्र करीब करीब ३०० हैं। जिन ऋषियोंने ईश्वरतत्त्वका साक्षात्कार किया था, और जिनके मंत्र यहा दिये हैं, उनके नाम ये हैं– (ऋषयः—) नारायणः, प्रजापतिः, परमेष्ठी, अथर्वा, कुत्सः, विश्वामित्रः, अयास्यः, ब्रह्मा, यमी, मेधातिथिः, गृत्समदः, दीर्घतमा, गर्ग, मृदाद्विः, इषः, वामदेवः, नृमेध, मधुच्छन्दाः निशोकः, भृगु, विश्वकर्मा। अर्थात् इन इक्कीस वैदिक ऋषियोंने ईश्वरतत्त्वका जिस रूपमें साक्षात्कार किया था, वह सब वर्णन उनकेही मन्त्रोंसे यहां दिया है। इसमें हमने अपने पहलेसे कुछभी मिलाया नहीं है। यह लेखसे अन्ततक प्रायः जो लिखा है, वह वैदिक ऋषियोंके वचनोंकी सगतिही है। प्रारभिक पांच लेख प्रस्तावमात्र हैं। अर्थात् इन लेखोंमें वेदमें वर्णित ईश्वरका स्वरूप पाठक देख सकते हैं।

क्या संहिताओंमें अध्यात्मविद्या नहीं है ?

संहिताओंमें अध्यात्मज्ञान नहीं है, ऐसा सब मानते हैं। इस लिये संहिता और ब्राह्मणग्रंथोंको मिलकर 'अ-परा' (अर्थात् अ-श्रेष्ठ या कनिष्ठ) विद्या कहते हैं। बहुत ग्रंथोंमें ऐसा कहा है और सब आचार्य ऐसाहि मानते हैं। इस मतका प्रतिवाद करनेके लिये यहां दिये गये अनेक सूक्त और अनेक मंत्र सहायक हो सकते हैं। ये सभी सूक्त और मन्त्र अध्यात्मविद्याके तत्वको स्पष्ट रूपसे बता रहे हैं। संपूर्ण सूक्तके सूक्त यहां इसीलिए दिये हैं कि पाठकोंको पता लगे कि संहिताओंमें भी वैसीहि अध्यात्म-विद्या है, जैसी उपनिषदादि ग्रंथोंमें है। हमारा यह कहना है कि संहिताके मंत्रोंमें अध्यात्मविद्या अधिक परिपूर्ण है और उपनिषदोंमें उसमेंसे एकही भागका दर्शन है।

इस 'ईश्वर-साक्षात्कार' के कई विभाग प्रकाशित किये जायँगे, जिनमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, इतिहास, पुराण, सन्तवचन आदिमें ईश्वरका वर्णन जैसा है, वैसा दर्शाया जायगा। इस ग्रंथमालाका यह प्रथम भाग है।

इसमें काटछांट न करते हुए कई संपूर्ण सूक्तही दिये हैं, इसका कारण यह है कि, पाठक स्वयं ऋषियोंकी स्वयंस्फूर्त वाणीका मनन करें और उनके अनुभवको अपनाएं। ईश्वरका साक्षात्कार करनेवाला ऋषि ईश्वरतत्वका अनुभव किस तरह करता है, कहां और किस रूपमें करता है, यही यहां पाठक पूर्वग्रहरहित मनसे देखें और स्वयं समझनेका यत्न करें।

तत्वका साक्षात्कार करनेवालाही 'ऋषि' कहलाता है। यहां करीब इक्कीस ऋषियोंके साक्षात्कारके वचन हैं, इनसे ऋषियोंके ईश्वरविषयक अनुभवका पता लग सकता है।

ये सभी ऋषि 'ईश्वर विश्वरूप है' ऐसाही एक स्वरसे कह रहे हैं। पाठक यहां यह बात स्पष्ट रीतिसे समझें कि, 'ईश्वर विश्वमें व्यापक है,' ऐसा इसका भाव यहां नहीं है, प्रत्युत 'जो विश्वका रूप दीख रहा है, या अनुभवमें

जा रहा है, वही प्रत्यक्ष ईश्वरका स्वरूप है' ऐसाही इनका कथन है। आज ईश्वरको अदृश्य माना जाता है, पर विश्वरूप दृश्य होनेसे, वैदिक ईश्वर भी दृश्यही है। यही उपनिषद् और गीताके 'विश्वरूप' वर्णनसे स्पष्ट होता है। आजकलकी प्रचलित कल्पनासे यह वैदिक कल्पना सर्वथा विभिन्न है, इसमें संदेह नहीं है, पर यह ऋषियोंके साक्षात्कारके समयकी स्फुरणमयी स्थितिका तथा उसीके पश्चात् आनेवाली जाग्रतिकी अवस्थाका भी अनुभव है। ऋषि जो कहते हैं उनका मत अन्य मानवोंके लिये सदा आदरणीयही होने योग्य है। ऋषियोंका मत 'स्वतः प्रमाण' है और हमारा मत ऋषिवचनके अनुकूल होनेसे प्रमाण होना संभव है।

यहां जो संपूर्ण सूक्त दिये हैं और कई फुटकर मंत्रभाग भी दिये हैं, उनको जैसे वे हैं, वैसेही स्वीकार करनेका यत्न पाठक करेंगे, तो पाठक कभी न कभी ऋषियोंकी विचारधाराको अपनानेमें समर्थ होंगे। पर जब अपने मतके अनुकूल ऋषिवचनको खींचकर तोडमरोड करके लगा लेनेमेंही पाठकोंकी रुची बढेगी, तब ऋषिवचनोंसे उनकी सहायता नहीं हो सकेगी। इतना मन निर्विकार रखना कठिन है, पर इसकी बडी आवश्यकता है। इस-लिये यह सूचना दी है।

संहिताओंमें कई सूक्तके सूक्त ऐसे हैं, जिनमें ईश्वरका वर्णन विशेष रूपसे किया गया है। इन सूक्तोंका विचार अगले विभागोंमें किया जायगा। अर्थात् ये सूक्त अगले विभागमें पाठक देख सकते हैं। संहिता-विभागके सूक्तों और मन्त्रोंको कर्मकाण्डियोंने कर्ममें नियुक्त किया है, इस कारण उनका ईश्वरपरक अथवा आत्मपरक अर्थ मारा गया है, ऐसा माननेके लिये कोई योग्य कारण नहीं है। जैसा 'पुरुषसूक्त' का उपयोग कर्मकाण्डमें किया जाता है, क्या इस कारण उसका आध्यात्मिक भाव नष्ट हो सकेगा? कदापि नहीं 'सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति।' सब वेद एक आत्म-तत्त्वका वर्णन करते हैं। यही सत्य है। इसलिये कर्मकाण्डमें नियुक्त होनेवाले मन्त्रोंमें भी अध्यात्मभाव है, ऐसा मानना ही युक्तियुक्त है। ईश्वरसाक्षात्कारकी इस ग्रंथमालासे यही तत्त्व सिद्ध होनेवाला है।

(१) ईश्वर बहुत दूर है, (२) ईश्वर हरएक वस्तुमें है, (३) ईश्वर अन्दर है और बाहर भी है, (४) ईश्वर सबमें है और सब ईश्वरमें है, (५) ईश्वरही सब कुछ है, इनमें अन्तिम धारणा वैदिक है। यह धारणा मनमें धारण करके अन्य धारणाओंका भाव तदनुकूलतासे मनन करके समझना उचित है।

'पुरुष एव इदं सर्वं। सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत। सर्वं खलु इदं ब्रह्म' ये वचन स्पष्ट रूपसे बता रहे हैं कि विश्वरूपही परमेश्वर है, अतः वह अज्ञानियोंको ज्ञानतः बहुतही दूर है, वह हरएक वस्तुमें है जैसा जेवरमें सोना रहता है, इस तरह उक्त सब वाक्योंका भाव समझना उचित है। हरएक वस्तुमें ईश्वरका साक्षात्कार इसी तरह करना चाहिये, इसका यही मार्ग है। 'नेह नानास्ति किंचन' यहां अनेक तत्व नहीं हैं, यही अनुशीलनसे जानना चाहिये। इस तरह 'एकतत्वका दर्शन' करनाही मानवके लिये अत्यंत आवश्यक है।

आजकल 'ईश्वर' शब्दके साथ कई विशेष अनपेक्षित भाव संयुक्त हुए हैं। उन सबको मनसे दूर करके 'सत्, ब्रह्म, आत्मा' आदि पदोंसे बोधित होनेवाला 'आदिम एक अद्वितीय महती चेतनमयी सत्ता' इतनाही भाव पाठकोंको मनमें धारण करना चाहिये। इसी भावसे यहां हमने 'ईश्वर' पदका प्रयोग किया है।

आशा है कि इस लेखमालासे वैदिक 'विश्वरूप ईश्वर'का साक्षात्कार पाठकोंको होगा और वे इस विश्वरूपकी सेवा अनन्यभावसे और कुशलतासे किये स्वकीय सहज कर्मसे करके कृतार्थ बनेंगे।

औंध (जि. सातारा)
१ चैत्र सं. २००३

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष, स्वाध्याय-मण्डल

ईश्वर-साक्षात्कारकी

विषयसूची

ईश्वर का साक्षात्कार

(१)

सब लोक क्या चाहते हैं ?

मानव को 'आनन्द' चाहिये

सब लोग, इस पृथ्वीपर के सब देशों के सब मानव, क्या चाहते हैं ? ऐसा प्रश्न पूछा जाय, तो क्या उत्तर मिलेगा ? सब लोग सुख चाहते हैं, सब लोग आनन्द प्राप्त करने के इच्छुक हैं, सब मानव आराम तथा आरोग्य चाहते हैं, केवल चाहते ही नहीं, परन्तु सब लोग रातदिन जो जो यत्न कर रहे हैं, वह एकमेव सुख के लिये, केवल एकमेव आनन्द के लिये ही है। कोई ऐसा मानव नहीं है कि, जो दुःखप्राप्ति के लिये यत्न करता हो।

जो लोग सत्याग्रह आदि करके जेल जाते हैं, लाठी का मार खाते और कष्ट भोगते हैं, उन को भी उस में कर्तव्य करने का सुख है। अर्थात् सब मानव सुख के अथवा आनन्द के पीछे पडे हैं। आनन्द को ही चाहते हैं।

कई लोग योगसाधन करते हैं, हठयोग, राजयोग, लययोग करते हुए कई लोग अपने शरीर को कष्ट देते हैं, इन्द्रियों को नियमोंमें रख कर कष्ट देते हैं, इन के बाह्य व्यवहार से ऐसा दीखता है कि, ये अपने शरीर को

दु:ख दे रहे हैं, पर उन के मन के अन्दर प्रविष्ट होकर देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, वे परम आनन्दप्राप्ति के लिये ही यत्न करते हैं। जिस समय वे अष्टांगयोगसाधन करते हैं, उस समय भले ही उन के शरीरको कष्ट होते हों, पर उन का ध्येय '**परम आनन्द**' प्राप्त करना ही है, इस-लिये उस साधन के करने के समय होनेवाले कष्ट भी उन के लिये सुखवर्धक ही प्रतीत होते हैं।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि, सपूर्ण मानव सुख की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं। अर्थात् सब को आनंद चाहिये।

मानव के सभी व्यवहार देखिये। मानवोंने अपनी राजकीय, सामाजिक अथवा धार्मिक व्यवस्था निर्माण की है और इस तरह की व्यवस्थाएं प्रत्येक देश में भिन्न भिन्न भी हैं। इन सब का उद्देश्य यही है कि, मानव को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो। राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था से इहलोक में जीते जी अधिक सुख मिले और धार्मिक व्यवस्था से मृत्युके पश्चात् पर-लोकमें भी अधिक सुख मिले, ऐसी मानवों की इच्छा सदा रहती है।

आज यूरोप में बडा भारी जागतिक युद्ध चल रहा है, दोनों ओर के युद्ध करनेवाले वीर कह रहे हैं कि, हम संसार में नयी शासनव्यवस्था निर्माण करना चाहते हैं और वे ऐसा विश्वास प्रकट कर रहे हैं कि, अपनी नूतन सुव्यवस्था से ही संसार अधिक सुखी होनेवाला है। यूरोप के सब देशों की जनता पूर्णतया शिक्षित है और युद्धके नेता तो बडे बुद्धिमान हैं, तथा उन का यह विश्वास है कि, इस यत्न से ही संसार का सुख बढनेवाला है। अर्थात् इन का निश्चय यह है कि, इस युद्धमें जो प्रतिदिन हजारों मनुष्यों का वध हो रहा है, इसी वध से मानवों के सुख की वृद्धि होनेवाली है, मानवों का सुख बढाने के लिये ही यह मानवों की कतल की जा रही है! यद्यपि यह प्रत्यक्ष विरोधी कथनसा दीखता है, तथापि वे युद्ध करनेवाले वीर अपने दिल से सचमुच ऐसा ही मानते होंगे, जैसा कि, वे कहते हैं।

यदि सचमुच उन का दुःख बढ़ेगा, ऐसा उन का विश्वास होता, तो वे इतना व्यय, इतना प्रयत्न और इतना वध क्यों करेंगे ? इसलिये उन के ये प्रयत्न भी निःसंदेह सुखप्राप्ति के लिये ही हैं। उन का मार्ग अशुद्ध होगा, पर उन के मन में ऐसा ही निश्चय है।

इस राष्ट्र के अन्दर देखते हैं कि एक जाति दूसरी जाति को दबाने का यत्न कर रही है, थोड़ेसे कारण के लिये एडमरने के लिये तैयार होती है, इतना ही नहीं, पर अल्पस्वल्प कारण से ही फिसाद भी मचाती है। इस कारण एक राष्ट्र की जनता में भी एकता नहीं है। उस जाति के नेताओं से पूछा जाय कि, तुम लोग ऐसा क्यों करते हो, तो वे ऐसाही उत्तर देंगे कि, हम यहां सुखसे रहना चाहते हैं, इसलिये ऐसा करते हैं। अर्थात् वे सुखप्राप्ति के लिये ही फिसाद मचाते हैं !! उनका मार्ग गलत हो, पर दिलसे वे ऐसा ही समझते हैं कि, ऐसा करने से हमारा सुख अवश्य बढ़ेगा !!! प्रायः प्रत्येक राष्ट्र में ऐसी फिसाद मचानेवाली जातियां हैं और वे सब अपने सुख के लिये फिसाद मचाती हैं, इससे उनको सुख मिलता है या नहीं, इस विषय में हम कुछ कह नहीं सकते, पर उनका विश्वास तो यही है कि, इससे उनको अखण्ड सुख प्राप्त होगा।

जातीय झगडों में, दंगेफिसादों में एक दूसरे का गला घूटना, एक दूसरे के पेट में छुरी घुसेडना, एक दूसरे के मकान जलाना आदि सब प्रकार के अत्याचार आते हैं। इन फिसादों में दोनों ओर का बडा नुकसान होता है, यह सब वे देखते हैं, अनुभव करते हैं, पर समझते हैं कि, इससे अपनी जाति का सुख बढ़ेगा। दूसरी जाति के लोग अधिक मरें, दूसरी जाती के मकान अधिक जलें, तो यह विध्वंस देखकर उनको ऐसा आनंद होता है कि, शायद सचमुच अपनी जातिकी उन्नति होने से भी उतना न हो ! यह सब अपना सुख बढ़ाने के लिये मानवप्राणी कर रहे हैं, और इसी में

वीरता है, ऐसा मानते हैं। सचमुच इससे सुख बढ रहा है वा नहीं, यह बात दूसरी है, पर वे इसी को सुख का मार्ग मानते हैं, इस में सन्देह नहीं है।

दूसरे देशों, दूसरे राष्ट्रों, दूसरी जातियों पर किसी ने अत्याचार किये, तो दूसरेपन के भाव से वे कदाचित् सुयोग्य कहे जायेंगे, पर जिस समय ऐसा हम देखते हैं कि अपने ही देशमें, अपने ही राष्ट्र में, अपने ही धर्मके माननेवाले लोगों पर अत्याचार किये जाते है, तब अधिक हैरानी होती है! पर इन अत्याचार करनेवालों से पूछा जाय, तो वे यही कहते हैं कि, 'हमें सुख चाहिये' और हमारा सुख बढाने का यही एक मार्ग हमारे सामने इस समय उपस्थित है। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारा सुख बढेगा नहीं, इसलिये यही एक मार्ग इस समय हमारे लिये कर्तव्य के नाते हमारे सामने उपस्थित हैं, अत इसी का आलंबन हम कर रहे हैं।

प्रत्यक्ष अत्याचार तो दूर रहा, पर अप्रत्यक्ष अत्याचार भी कोई कम नहीं हो रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को धोखे से अथवा वीरता से परास्त करता और उसको दबाने का यत्न करता है। उसको पराधीन रखने की पराकाष्ठा करता है। अनेक बहाने बताकर अपना कब्जा छोडना नहीं चाहता। कठिन से कठिन प्रसग आने पर भी इन राष्ट्रों को पराधीन तथा अपने आधीन रखने के लिये पराकाष्ठा का यत्न करता है। ऐसे प्रयत्न करते हुए उनको हानि पहुचती रही, तो भी उसकी पर्वाह वह नहीं करता। दूसरों को पराधीन रखने से अपना सुख बढनेवाला है, ऐसा इनका ख्याल है। जिस तरह एक व्यक्ति दूसरों को गुलाम रखकर अपना सुख बढाने की चेष्टा करता है, इसी तरह एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम रखने से अपना सुख बढ जायगा, ऐसा मानता है और वैसा यत्न करता रहता है! संसार के इतिहास इस प्रकार के यत्नों से भरे हैं।

यह सब आनन्दप्राप्तिके लिये किया जा रहा है। इतना ही नहीं, वैयक्तिक

जीवन में देखिए। लेनदेन करनेवाले, व्यापारव्यवहार करनेवाले, सेठसाहुकार आदिकों के व्यवहार कैसे हो रहे हैं ? विचार कीजिए, एक दूसरे को खाने का यत्न ले कर रहे हैं, धनी कर्जदार को खाने की चेष्टा करता है, दुकानदार ग्राहक को लूटना चाहता है, राजा प्रजा को निचोडना चाहता है, पूंजीपति मजूरों को निगलना चाहते हैं, शिक्षित अशिक्षितों को ठगाना चाहते हैं। जहां जहां व्यक्तिगत व्यवहार की गति है, वहां एक दूसरे को खा जानेका यत्न हो रहा है। पूंजीपति मजूरों से ज्यादा काम लेना चाहते हैं और कम मजूरी देने के इच्छुक हैं। इसके विपरीत मजूर काम कम करके वेतन अधिक लेने के यत्न में रहते हैं । यही नियम सर्वत्र कार्य करता हुआ दिखाई देता !

राष्ट्र के अन्दर का व्यवहार देखिये और राष्ट्रान्तरीय व्यवहार देखिये, दोनों जगह एक दूसरे को खा जाने की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। इस सारे कुव्यवहार को जड में यही एक बात कार्य कर रही है और वह यह है कि, दूसरे को पीस कर खाने से मैं सुखी हो जाऊंगा ! मुझे अखण्ड सुख प्राप्त करने का और दूसरा कोई मार्ग नहीं है !! देखिये और देशदेश के तथा व्यक्तियों के व्यवहारों की पडताल कीजिये। आप को यही दीखेगा कि, धोखा सर्वत्र राज्य कर रहा है, और जनताका विश्वास ऐसा है कि, इस धोखेबाजी से अपना सुख बढेगा। छल, कपट, धोखा, मक्कारी, ठगी, लुचपन आदि सब प्रकार मानव मानव के साथ होनेवाले व्यवहार में करता है और यह सब अपना सुख बढाने के लिये ही करता है !

मानव अपना सुख बढाने के लिये जैसे कुव्यवहार करता है, एक दूसरे को खाता है, एक दूसरे को मारता और काटता है, और अपना सुख बढाने की चेष्टा कर रहा है, उसी तरह सुव्यवहार भी करता है। सुशिक्षित देशों और राष्ट्रोंमें आरोग्यस्थापन के प्रयत्न, रोग दूर करने के यत्न, धर्मार्थ दवाखाने अथवा धन लेकर दवाईयां देकर आरोग्य देनेवाले दवाखाने, यंत्रों

से सस्ती वस्तुएं बनाने की कलाएं, विविध प्रकार के आरोग्य बढाने के स्थानों का निर्माण इत्यादि एक ही नहीं, परन्तु सहस्रों प्रकार के साधन मानव प्रति दिन तैयार कर रहा है। धान्य की पैदावार अधिक करने के शास्त्रीय शोध मानवने किये हैं और उनमें धान्य, भक्ष्य, भोज्य, पेयों की उत्पत्ति वह अधिकाधिक कर रहा है। इस से जो सुख सर्वसाधारण मानव को पूर्वकाल में नहीं मिलता था, वह सुख आज मिल रहा है।

ऐसा होने पर कई आपत्तियां भी मानव पर आ गिरी हैं, पर यह सब सुख बढाने के प्रयत्न से ही हो रहा है।

रेल, समुद्रयान, जहाज, वायुयान, विमान, मिलें, कलें, मोटरें, तथा अन्यान्य यंत्र साधन आज हजारों प्रकार के हैं। ये साधन मानव के पास उपस्थित हैं और नये नये साधन उपस्थित हो रहे हैं। ये मन्त्र मानव का सुख बढाने के कार्य तो कर रहे हैं, पर मानव का कुटिल मन और स्वार्थ भाव इन यन्त्रों के पीछे रहता है, इसलिये इन साधनों से भी एक जगह सुख बढने लगा, तो दूसरे स्थान में दुःख बढने लगता है। तथापि ये साधन सुख बढाने के लिये निर्माण हो रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

गत सहस्रों वर्षों में जितने सुख के साधन मानव के पास नहीं थे, उतने गत शताब्दी में हुए हैं और प्रतिदिन साधन बढ रहे हैं। इन साधनों से मानव के दुःख भी बढ रहे हैं, यह बात छोड दें, पर केवल साधन का ही विचार किया जाय, तो ये साधन मानव का सुख बढा सकते हैं, इस में संदेह नहीं है। मानव की मति शुद्ध होगी, तो ये ही साधन मानव का सुख बढाने में सहायक होंगे। अतः हम कह सकते हैं कि, मानव इन सब प्रयत्नों को अपना सुख बढाने के लिये ही कर रहा है।

उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्य आनन्द की प्राप्तिकी इच्छा से ही इन सारे प्रयत्नों को कर रहा है। अनेक मानवों के मार्ग अशुद्ध हैं,

विरुद्ध मार्ग से मानव जा रहे हैं, इसलिये दुःख बढ रहे हैं, यह बात सत्य है, पर आनन्दप्राप्ति की इच्छा से ही मानव के सब प्रयत्न हो रहे हैं, यह निःसंदेह सत्य है।

आनन्द भोगने के लिये [सत] अस्तित्व चाहिये

मनुष्य अखण्ड आनन्द, अखण्ड सुख, अखण्ड आराम चाहता है, इसीलिये वह यत्न करता है, यह ऊपर हमने दिखा दिया। इस इच्छा के साथ साथ उसके अन्दर यह भी इच्छा है कि, मैं उस आनन्द के भोग के लिये दीर्घ जीवन प्राप्त करूं, अर्थात् मैं सतत रहूँ और सतत आनन्द भोगता रहूं। मुझे आनन्द चाहिये, इसीलिये आनन्द भोगने के लिये मेरी स्थिति, जीवन दशा– मेरा अस्तित्व, मेरी हस्ति सतत रहनी चाहिये। आनन्द मिला और जीवन न रहा, तो क्या लाभ? जीवन ही न रहा, तो आनन्दप्राप्ति के लिये किये सब यत्न विफल हो जायेंगे। इसलिये आनन्दप्राप्ति के लिये यत्न करता हुआ मनुष्य चाहता है कि, मेरा अस्तित्व अनन्त काल तक रहे, अखण्ड रहे। मैं सदा रहूं और सदा आनन्द भोगूं।

मनुष्य अपनी हस्ती के लिये, अपने अस्तित्व के लिये कितने यत्न कर रहा है; देखिए, चारों ओर दवाखाने हैं, जो रोगों को दूर करके मृत्यु के भय से मानवों को सुरक्षित रखते हैं, नाना प्रकार के शस्त्रप्रयोग तथा औषधिप्रयोग किये जा रहे हैं, दीर्घायु की प्राप्ति के लिये अनेक प्रयोग वैद्यशास्त्र में कहे हैं। वृद्धों को तरुण बनानेवाले औषध थोडे नहीं हैं। वृद्धों को तरुण बनाने का अर्थ ही यह है कि, मृत्यु का भय दूर करना। प्रति दिन नये नये औषध निर्माण किये जा रहे हैं, जिन से रोग हटाने, आरोग्य बढाने और मृत्यु को दूर करने का यत्न मानव कर रहे हैं।

मनुष्य प्रति दिन का भोजन किस लिये खा रहा है? सुखप्राप्ति तो एक हेतु है ही, पर भोजन खाकर मेरी शक्ति कायम रहे और मैं दीर्घ

जीवन प्राप्त करूं, अर्थात् मेरी स्थिति चिरकाल रहे, यही इस मे प्रधान हेतु है। गीता में भोजन के गुणों का वर्णन करते हुए आयुष्यप्राप्ति को ही प्रथम स्थान दिया है–

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना.।
रस्या स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा. सात्त्विकप्रियाः॥
(गी १७ ८)

दीर्घ आयुष्य, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले सात्त्विक भोजन से दीर्घ आयुष्य मिलता है। दीर्घ आयुष्य मिलने का आशय यही है कि, अपना अस्तित्व चिरकाल तक रहना। अपना अस्तित्व चिरकाल तक टिकानेका भी हेतु यही है कि, मै दीर्घ काल यहा रहू और सुख भोगू।

मनुष्य दीर्घ प्रयत्न कर के अपने शत्रुओं को दूर करने का यत्न करता है। शत्रु से इस की घृणा क्यों है? क्यों यह शत्रुओं का नाश करना चाहता है? इस मे प्रबल हेतु यही है कि, शत्रु मेरे अस्तित्व को मिटाते हैं, इस कारण शत्रुओं का नाश करना और अपना अस्तित्व कायम रखना चाहिये। इतिहासमे जो युद्ध और महायुद्ध होते रहे, वे सब अपने अस्तित्व को चिरकाल टिकाने के लिये ही होते रहे हैं। अपना अस्तित्व टिकने के पश्चात् सुख भोगना, यह दूसरी प्रबल इच्छा रहती ही है। अथवा यू भी कहा जा सकता है कि, सुख भोगने के लिये ही मुझे अपना अस्तित्व टिकाना है, यह वासना हरएक मानव मे सदा रहती है।

अपनी स्थिति सदा के लिये रहे, यह गुप्त इच्छा छोटे जीव मे भी दीखती है, क्योंकि छोटेमे छोटे जीव भी जिधर से भय की सम्भावना होती है, उस ओरसे पीछे हटते हैं और जहा सुरक्षितता है, वहा जाते हैं। छोटा बालक भी अपरिचित मनुष्य अथवा अपरिचित वस्तु का अपने पास आना पसन्द नहीं करता। अपरिचित मनुष्य के पास बालक जाता नहीं,

इस का हेतु यही है कि अपनी सुरक्षा वह चाहता है।

कानून में तथा स्मृति में आत्महनन (Suicide) के प्रयत्न करनेके लिये बडा कठोर दंड रखा है, इस का यह हेतु स्पष्ट है कि मानवजीवन पवित्र है, अतः वह सुरक्षित रखना और चिरकाल टिकना चाहिये, सब सभ्य देशों के कानूनों में आत्मघात के प्रयत्न को दंडनीय ही माना है।

इसलिये बालहत्या, गर्भपात, भ्रूणहत्या आदि अपराध दंडनीय हैं, ऐसी संमति सब कानूनों की है। जो गर्भ बना, उसे पूर्ण आयु तक जीने का अधिकार है, अतः गर्भघातक को दंडनीय समझा जाता है।

सब शासनसंस्थाओं पर प्रजा रक्षा करने का भार है, बाल-मृत्यु न हों, ऐसा प्रबंध करनेका भार सब सरकारों पर है, इसकी जड में मानवी जीवन चिरकाल टिकाने की इच्छा ही है। मानव के सब व्यवहार अपने जीवन को चिरकाल सुरक्षित रखने के लिये ही हो रहे हैं। इतने अनन्त काल जीने की प्रबल इच्छा मानव में है।

हिंदुधर्मशास्त्रकारोंने पुनर्जन्म माना है, इस में अनेक हेतु होंगे, पर इस में मृत्यु के पश्चात् भी अपना नाश नहीं होता, मैं आत्मरूप से शाश्वत टिकनेवाला हूं, यह भाव प्रबल है। इस से मनुष्य को बडा समाधान प्राप्त होता है, और यदि इस जन्म में मुझे सुख न मिला, तो दूसरे जन्म में मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करूंगा और सुखी बनूंगा, यह आशा मानव का समाधान करती है। पुनर्जन्म की कल्पना से यह स्पष्ट हो जाता है कि, मनुष्य में अपनी सत्ता कायम रखने की इच्छा कितनी है।

ईसाई और मुसलमीन पुनर्जन्म न माननेवाले हैं, तथापि उन्होंने मृत्यु के पश्चात् जीव का रहना माना है; वे भी मृत्यु से जीव के नाश होनेकी कल्पना को पसंद नहीं करते। इन धर्मों के आचार्यों पर विश्वास रखनेवाला स्वर्ग में चिरकाल रहेगा, और अविश्वासी नरक में चिरकाल रहेगा, पर

मृत्यु के पश्चात् चिरकाल रहेगा, इसमें सन्देह नहीं है। जिस समय न्याय का दिन आयेगा, उस समय परमेश्वर के सामने सब मानवों के पापपुण्यों का निर्णय होगा, उस समय कबरों से सब मानव उठेंगे और परमेश्वर के सम्मुख निर्णयार्थ खडे रहेंगे। अर्थात् मृत्यु होनेसे जीव का नाश नहीं होता, यह बात इन धर्मों में भी मानी है। इस तरह एक जन्म माननेवाले भी जीव को अनन्त काल तक टिकनेवाला मानते हैं।

जैनबौद्ध भी जो जीव को उत्पन्न हुआ मानते हैं, वे पुनर्जन्म को मानते हैं और पूर्ण उन्नत होने तक पुनर्जन्म होता रहता है और पूर्ण मुक्त होनेके पश्चात् यह जीव उस मुक्त स्थिति में शाश्वत काल तक आनन्द भोगता है, ऐसा मानते हैं। अर्थात् जीव अनन्त काल तक रहता है, ऐसा ही ये मानते हैं। नास्तिक भी अपने जीव को शाश्वत रहनेवाला मानने के इच्छुक हैं, इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि, मानव अपनी सत्ता कायम रखने का कितना इच्छुक है। वह अपने नाश की कल्पना को सह नहीं सकता। अपनी अखण्ड सत्ता रखने के विषय में उस का इतना आग्रह है।

जैन और बौद्ध परमेश्वर को मानते नहीं, सृष्टि को अर्थात् संसार को बन्धन मानते हैं, जगत् को तुच्छ मानते हैं। वासनाक्षय होकर जन्म न होना ही उन का ध्येय है, तथापि वे नाना उपायों से जीव को स्थायी मानते हैं। पुनर्जन्म से जीवभाव का सातत्य माना जाता है और मुक्ति से अक्षय आनन्द की प्राप्ति उन्होंने मानली है। इस तरह बुद्धधर्मी भी जीव को शाश्वत मानने के इच्छुक हैं।

ईसाई, मुसलमान, यहुदी, आदि धर्मों में जहां एक ही जन्म माना है, वे भी यदि जीव को शाश्वत रहनेवाला मानने का यत्न करते हैं, तब तो अन्य मतावलम्बी जीव की सत्ता अखण्ड मानने का यत्न करेंगे, तो उस में आश्चर्य काहे का है ?

इस तरह सब लोग अपनी सत्ता, अपनी स्थिति, अपना अस्तित्व, अपना जीवन, इसी जीवन में अतिदीर्घ कालतक टिकाना चाहते हैं, तथा मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म की सहायता से अथवा अन्यान्य युक्तियों से सतत और शाश्वत जीवन टिकाने के इच्छुक हैं। अर्थात् 'सत्' गुण अपने में आवे और स्थायी रहे, ऐसा ही इन सब का प्रयत्न है।

इस समय तक के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्य 'आनन्द' प्राप्त करने के इच्छुक हैं और उस आनन्द को भोगने के लिये शाश्वत काल रहने की अर्थात् 'सत्' भाव की प्राप्ति की इच्छा वे करते हैं। 'आनन्द और सत्' की प्राप्ति के लिये संपूर्ण मानवों का सतत प्रयत्न हो रहा है, यह यहां सिद्ध हुआ।

[चित्] ज्ञान की इच्छा

अब और भी एक गुण है, जिस की प्राप्ति के लिये मानव तड़प रहा है, वह है ज्ञान अथवा चिन्तन करने की शक्ति, चित् जिस को कहा जाता है। चिन्तन, चित्, चित्त, ज्ञान ये सब एक ही भाव के वाचक पद हैं। मानव इस की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न करता है, वह इसलिये करता है कि—

१. मानव को सुख अथवा 'आनन्द' चाहिये,
२. उस आनन्द को भोगने के लिये उस को जीवन की सत्ता अथवा 'सत्' चाहिये,
३. और आनन्द की प्राप्ति एवं जीवकी सत्ता प्राप्त करने के साधनों का 'चित्' ज्ञान भी उसको चाहिये।

आनन्द और स्थिति चाहता है, इसीलिए मानव ज्ञान चाहता है। यदि मानव में 'आनन्द' की प्राप्ति की आतुरता न होगी और उस आनन्दभोग के लिये वह शाश्वत स्थिति नहीं चाहेगा, तो वह ज्ञान की भी पर्वाह नहीं करेगा। परन्तु मानव हर अवस्था में आनन्द चाहता है और उसको भोगने

के लिये अपना दीर्घ जीवन भी चाहता है, इसीलिये वह आनन्दप्राप्ति के और शाश्वत स्थिति के साधनों का ज्ञान भी चाहता है। मानव का यह निश्चय है कि, ज्ञान के विना उक्त दोनों की प्राप्ति होना असम्भव है, इसी-लिये वह चिंतन या मनन की शक्ति अपने में बढे, ऐसा चाहता है।

पाठकों को यहां यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि, मनुष्य वास्तव में एक ही ' आनन्द ' चाहता है, इसको दूसरे किसी की जरूरत नहीं है। पर अपनी सत्ता ही न रहेगी, तो आनन्दभोग नहीं हो सकता, इसलिये वह आनन्दभोग के लिये अपनी ' सत्ता ' शाश्वत काल टिकाने के लिये यत्न-वान् होता है। इस तरह यह चाहता था केवल आनन्द, पर आनन्द की प्राप्ति के साथ साथ उसे दो बातों को स्वीकारना पडा है, वे दो बातें अपनी ' सत्ता ' और ' आनन्द ' हैं। जब मनुष्यने अपने ये दो ध्येय निश्चित किये, तब उसके ध्यान में यह बात आ गयी कि, अपनी सत्ताको शाश्वत टिकाने के उपायों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और आनन्दप्राप्ति के मार्ग का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस तरह ' ज्ञान ' को भी प्राप्तव्यों में रखना उसको आवश्यक हुआ।

छोटेसे छोटा बालक भी अपने आपको समझदार मानता है। मैं ज्ञान-वान् हूं और मैं ज्ञान प्राप्त करूंगा, यह इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य कुछ भी नहीं जानता, तो वह ' मैं हूं ' इतना तो जानता ही है। ' मैं हूं ' यह हरएक जाग्रत मानव जानता है, यह इसके अन्दर विद्यमान् ' चित् ' गुण का द्योतक है। ' मैं हूं ' इतना जानने से वह जीवित है, इसकी सिद्धि होती है। इस के पश्चात् अनेक विद्याएं और कलाएं वह हस्तगत करता है। जितना ज्ञान मिले, उतना वह हस्तगत करता है, नया ज्ञान प्राप्त करता है, नये आविष्कार करके ज्ञान की वृद्धि करता है। आज इस भूमण्डल पर जो इतना ज्ञान का भण्डार खुल गया है, वह सब मानव

के ज्ञानप्राप्ति की हलचल का ही फल है, इस तरह मनुष्य इस ' चित् ' शक्ति को भी चाहता है, जानना चाहता है। अर्थात् अज्ञान में रहना नहीं चाहता।

इस जगत् में कितनी पाठशालाएँ, स्कूलें, कालेजें, गुरुकुलें, आचार्यकुलें हैं और हो रही हैं। पर इतने से मनुष्य संतुष्ट नहीं है। वह चाहता है कि, इनकी संख्या बढ़े! सौ में सौ ही ज्ञानसम्पन्न बनें, यह इसकी इच्छा है। इस संसार में कितने पुस्तक तैयार हो रहे हैं, कितने प्रेस छपाई में लगे हैं, कितने दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, कितने शिक्षक, उपदेशक और संपादक ज्ञानदान में लगे हैं, कितने आदमी साक्षर होकर ज्ञान लेनेकी इच्छा से अनेक ग्रंथों का पाठ करते हैं। जिस समय छापे करने के यंत्र नहीं थे, उस समय हाथ से लिखे ग्रंथ भी बहुत उपलब्ध होते थे। यह सब ग्रंथभण्डार जो शत सहस्रों वर्षों से बढ़ रहा है, यह मानव की ज्ञानपिपासा की [illegible] रहा है।

कई लोग यहा ऐसा कहेंगे कि, इस जगत् में ज्ञानी का महत्त्व कम है और वीर और धनी का महत्त्व ज्यादा है। राजालोग ज्ञानी का मूल्य नहीं करते और धनी भी ज्ञानी की कदर नहीं करते। इसके उत्तर में कहना इतना ही है कि, धनी वैश्य को अपने कारोबार में धन कमाने और उसकी रक्षा करने के लिये ज्ञान लगता है और जो वीर होते हैं, उनको शत्रु के साथ युद्ध करने के प्रयत्न में युद्धविद्या का ज्ञान लगता ही है, इससे वीर और धनी का महत्त्व मानने पर भी उसको ज्ञान लगने के कारण उनके महत्त्व से ज्ञान का ही महत्त्व सिद्ध हो रहा है। आजकल के व्यवहार में कैसी भी उथलपुथल क्यों न हुई हो, शाश्वत नियम की दृष्टि से ज्ञान ही सर्वोपरि है और ज्ञान ही राज्यपद देता है और धन की वृद्धि करनेवाला भी ज्ञान ही है।

राजा राजगद्दीपर बैठे और धनी अपनी पेढीपर बैठा रहे, पर ज्ञानी अपने कवल पर पर्णकुटि में बैठा हुआ ऐसी विचारधाराएं फैलावेगा कि, जिससे वह राजगद्दी और वह धन की पेढी रहेगी या न रहेगी, यह सब उस ज्ञानी की विचारधारा पर सर्वथा ही निर्भर रहेगा। विश्व के इतिहास में ज्ञान का महत्त्व हम इस तरह देख रहे हैं। ज्ञानी के पास न राजा का अधिकार रहता है और नाही धनी का धन रहता है, पर ज्ञानी अपने ज्ञानसे मानवी मनों पर शाश्वत राज्य करता है, वैसा प्रभाव राजा का कभी हो ही नहीं सकता।

देखिये वसिष्ट, वामदेव, कपिल, कणाद, व्यास, पतञ्जली, भगवान् कृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ईसामसीह, महम्मद पेगंबर, आदिकों ने इस लोक को छोड देने के बाद भी जनता पर प्रभाव बैठे हैं, वैसे प्रभाव किस राजा के हैं? राजा जीवित रहने तक जनता को सतावेगा, इसलिये उस राज्य के लोग उससे डरेंगे, पर उसके मरने पर उसे कौन पूछेगा? अथवा उसके राज्य के बाहर उसे कौन पूछता है?

पर ज्ञानी का ज्ञान जनतापर स्थायी प्रभाव रखता है और उनके देह छूटने पर भी यह प्रभाव रहता है । इससे ज्ञान का महत्त्व सिद्ध हो सकता है । पर यहां जो ' चित् ' अर्थात् ' ज्ञानशक्ति ' का हम विचार कर रहे हैं, यह प्रति मानव में रहनेवाली शक्ति है । जैसा प्रत्येक मानव सुखके लिये यत्न करता है, अपने अस्तित्व न मिटने अर्थात् शाश्वत टिकने के लिये प्रयत्न करता है, वैसा ही वह ज्ञान को प्राप्त करने के लिये भी यत्न करता है । अबालवृद्ध स्त्रीपुरुष सभी इन तीन शक्तियों की प्राप्ति के लिये रात-दिन यत्न करते हैं ।

अपमार्ग में प्रवृत्ति

हम यहां यह नहीं कहते कि, सब मानव शुद्ध मार्ग से ही आनन्द आदि की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं । उन के प्रयत्न अशुद्धमार्ग से होते हों, अथवा शुद्ध मार्गसे होते रहें, हम इतना ही कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, सुख भोगने के लिये दीर्घ जीवन चाहता है और सुख तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिये ज्ञान भी चाहता है । सब मानवोंके प्रयत्नों में ये तीन इच्छाएं अनुस्यूत हैं । कोई मानव दुःख, विनाश और अज्ञान नहीं चाहता । यह बात और है कि, मनुष्य न चाहता हुआ भी दुःख भोगता, नाश की ओर जाता और अज्ञान में रहता है । यह उन के अशुद्ध मार्ग के पकडने के कारण हो रहा है । पर वह आनन्द, अक्षय जीवन और ज्ञान दिल से प्राप्त करना चाहता है, सब हलचल इसी लिये करता है, इसी लिये ही वह तडपता रहता है । जो करता है, वह इसीलिये करता है । अर्थात् आनन्द, जीवन और ज्ञान ही उसके ध्येय हैं । इन तीनों के मिलने से ही मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य समझेगा और न मिलने से वह निरुत्साह होगा । इस तरह मानव के ये तीन ध्येय अथवा प्राप्तव्य हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

मनुष्य को ये तीनों प्राप्त नहीं हो रहे हैं, क्योंकि मानव का मार्ग अशुद्ध होने के कारण वह सुख कमाने के लिये दौडता है और दुःख के पहाड को पहुंचता है। दीर्घ जीवन की आशा से दौडता है और मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होता है। इसी तरह ज्ञान को प्राप्ति का यत्न करता है और अज्ञान के जाल में फंसता है। इस का कारण इतना ही है कि, इस को मार्ग ठीक ठीक नहीं मिलता। जिस को ठीक मार्ग मिल जाता है वह कृतकृत्य बनता है। अन्य लोग दुःख भोगते हैं, पर सब लोग आनन्द-सत्ता-ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं, इस में संदेह नहीं।

आनन्द का अर्थ सुख, आराम, प्रसाद, प्रसन्नता आदि है, जीवन की स्थिति का अर्थ दीर्घायु, सत्ता, स्थिति, सद्भाव अथवा सत् है और ज्ञान का अर्थ ज्ञान, विज्ञान, विचारशक्ति, बुद्धि, मननशक्ति, आदि हैं। संक्षेप से 'आनन्द-चित्-सत्' ऐसा कहेंगे, अथवा 'सत्-चित्-आनन्द' ऐसा कहेंगे। दोनों का आशय एक ही है। 'सत्-चित्-आनन्द' अर्थात् 'सच्चिदानंद' की प्राप्ति करने के लिये ही सब मानव यत्न करते हैं, यह बात ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो चुकी है। पर बिचारे अप-मार्ग से जाते हैं, इसलिये सच्चिदानन्द के स्थान में तद्विरुद्ध आपत्तियों को प्राप्त करते हैं। उन को आपत्तियां प्राप्त होती हैं, इस का कारण अशुद्ध मार्ग से जाना ही है, पर उन के मन में 'सत्-चित्-आनन्द' प्राप्त करना ही है, यही उन का साध्य है, इस में संदेह नहीं है। सब मनुष्य जो चाहते हैं, वह सच्चिदानन्द है, पर वे भी नहीं जानते कि, अपना ध्येय सच्चिदानन्द है, यही इस में एक बडा भारी आश्चर्य है!!

मनुष्यों से पूछने पर वे कहेंगे कि- (१) हमें सुख चाहिये, (२) सुख भोगने के लिये अपनी सत्ता चिरकाल रखने की हमारी इच्छा है तथा (३) हमें सुखप्राप्ति का और चिरकालिक सत्ता सिद्ध करने का ज्ञान

चाहिये । ऐसा हरएक मनुष्य कहेगा, अथवा समझदार मानव तो इतना अवश्य कहेगा । इन तीन प्राप्तव्यों का, इन तीन ध्येयों का, इन तीन उद्देश्यों का सूत्रबद्ध सार ' सत्-चित्-आनंद ' ही है, पर यह बात हरएक मनुष्य नहीं जानता । वह न जाने, पर जो ज्ञानवान् हैं, वे मानवों के इन हलचलो का सूत्रबद्ध सार जान सकते हैं, उनके सब प्रयत्नों के अन्दर जो अनुस्यूत भाव है, वह ' सच्चिदानंद ' की प्राप्ति ही है । मानव-जानें या न जाने, उनके अन्तर्हृदय में यही गुप्तता से छिपा हुआ ध्येय है ।

सत्-चित्-आनंद- (सत् = अस्तित्व Existence, चित् = ज्ञान Knowledge, आनन्द Bliss) यही मनुष्य को चाहिये । मनुष्य जीवित रहना चाहता है, जानना चाहता है और आनन्द भोगना चाहता है। इस के विपरीत ' मृत्यु-अज्ञान-दुःख ' को वह दूर करना चाहता है। इससे सिद्ध हुआ कि, वह जानते हुए, अथवा न जानते हुए, सच्चिदानन्द को प्राप्ति करना चाहता है ।

' सत्-चित्-आनन्द ' क्या है ? ईश्वर ही ' सच्चिदानंद ' है। दूसरा कोई सच्चिदानन्द नहीं है । इसलिये यदि मनुष्य सचमुच अपने लिये अस्तित्व-ज्ञान-आनन्द प्राप्त करने का इच्छुक है, तब तो वह सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही चाहता है और उसका अर्थ ऐसा ही है कि, वह 'ईश्वर की प्राप्ति ' करना चाहता है।

ईश्वर का नाम उच्चारण करते ही सब पाठक घबरा जायेंगे और कहेंगे कि नहीं नहीं, इस संसार में ईश्वर को न माननेवाले नास्तिक लोग हैं और वे ईश्वर को मानते नहीं, ईश्वर को अफीम की गोली समझते है, जहर समझते हैं, वे ईश्वर को सामाजिक और राजकीय तथा वैयक्तिक क्षेत्र से दूर करना चाहते है । अत. वे नास्तिक ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसा किस तरह माना जा सकता है ? ऐसा प्रश्न कई सुविज्ञ पाठक पूछेंगे।

यह प्रश्न सरल है और ठीक भी है। इस समय रूस में साम्यवादी (Communist) हैं, वे ईश्वर को नहीं मानते। इनके अतिरिक्त कई लोग निरीश्वरवादी भी हैं, वे भी ईश्वरको मानते नहीं। अतः ये लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं, ऐसा कहना शुद्ध नहीं होगा। हम भी ऐसा नहीं कहते कि, वे जानबूझकर ईश्वर की प्राप्ति करने के उद्देश्य से प्रयत्न करते हैं। हमारा कहना इतना ही है कि, वे न समझते हुए जिन प्राप्तव्यों को प्राप्त करने का यत्न करते हैं, उन का मिलकर रूप ईश्वर प्राप्ति ही है। जैसा वे अपनी हस्ती सुरक्षित रखनेके लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे 'सत्' की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। वे ज्ञानप्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे 'चित्' की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। इसी तरह 'सुख' प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे 'आनन्द' को चाहते हैं। वे कुछ भी मानें, पर जो वे चाहते हैं, वह सत् है,' चित् है और आनन्द है, इस में कोई सन्देह नहीं। यदि यह सत्य है तब वे 'सच्चिदानन्द' को प्राप्त करने के इच्छुक है, इस में भी कोई शंका नहीं है।

यदि 'सच्चिदानन्द' परमेश्वर का ही स्वरूप है, तब तो ये सब लोग परमेश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, यह भी सत्य ही है। वे ईश्वर को मानें अथवा न मानें, वे सत्-चित्- आनन्द को मानें या न माने, वे चाहे ईश्वरवाद का निषेध करें अथवा उदासीन रहें। इस की कोई पर्वाह नहीं है। वे जिन तीन शक्तियों को अपने अन्दर सुरक्षित रखना चाहते हैं, वह स्वरूप 'सच्चिदानन्द' है और जो सच्चिदानन्द है वही ईश्वर है, अतः सब लोग ईश्वर की प्राप्ति करने के इच्छुक है, ईश्वर-प्राप्ति के लिये यत्नवान् हैं, ईश्वरप्राप्ति के लिये उत्सुक हैं, अथवा ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये तड़प रहे हैं, ऐसा कहना अत्युक्ति का कथन नहीं होगा।

जानते हुए सब मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न करना यह बात

और है और न जानते हुए यथाकथंचित् उन ही शक्तियों की प्राप्ति के लिये यत्न करना और बात है, पर दोनोंका तात्पर्य एक ही है। जैसा एक मनुष्य जानता है कि, फलाने स्थान पर खोदने से सोने की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि वहां सोने की खान है। यह तो जानते हुए इसने यत्न किया और शीघ्र सफलता प्राप्त की। पर दूसरा एक आदमी है, वह सुवर्ण प्राप्त करने के लिये केवल भूमि खोदता है, इस का मार्ग गलत है, इसलिये इस को सुवर्ण प्राप्त नहीं होगा, केवल परिश्रम करने का दुःख ही होगा, परन्तु उसे सुवर्ण चाहिये था, इस ध्येय की सत्यता में कोई भेद नहीं है। हम भी यही कहते हैं, सब का ध्येय ईश्वरप्राप्ति है, कई लोग सत्य मार्ग पर हैं, उन को ईश्वर प्राप्त होता है, दूसरे लोग गलत मार्ग पर हैं, अतः उन को दुःख मिलेगा। पर वे जिसको प्राप्त करना चाहते थे, वह ईश्वर ही था।

यदि सब को ईश्वर क्या है, उस की प्राप्ति का सत्य मार्ग कौनसा है, उस पर से किस तरह जाना चाहिये, इत्यादि बातों का यथार्थ ज्ञान होगा, तो विना आयास वे ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और कृतकार्य भी हो सकते हैं। पर बहुत लोग ऐसे हैं कि, जिन को इस का ज्ञान नहीं है, अतः वे तड़पते हैं, उन को पता नहीं कि, उन को सचमुच क्या चाहिये, सचमुच किस मार्ग से जाना चाहिये और क्या करना चाहिये।

वैदिक धर्मने यह सत्य मार्ग बताया है। पर इस समय वैदिकधर्मियों में भी मतमतान्तर का प्रचार हो चुका है और वे भी वेद के सिद्धांत पर स्थित नहीं हैं। फिर अन्यान्य लोगों के विषय में कहना ही क्या है ?

इस समय के लोग धर्म के नाम से जो कुछ कर रहे हैं, उनके मार्गोंका विचार करके उन में से कितना भाग वेदानुकूल है और कितना प्रतिकूल है, इस का निश्चय करना चाहिये और शुद्ध वैदिक धर्म क्या कहता है, इस का भी विचार करना चाहिये जिसको अगले लेख में बतावेंगे—

(२)

नास्तिकों के मतों का मनन

सच्चिदानन्द की प्राप्ति

गत लेखमें हमने बताया कि, सारी मानवजाति 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति अर्थात् (सत्, चित्, आनन्द) अपना अस्तित्व, अपना ज्ञान, और अपना सुख बढाने के लिये ही यत्न कर रही है। इन सब मानवों के ये प्रयत्न देख कर ज्ञानी पुरुष मनमें समझता है कि, ये सब लोग 'सच्चिदानन्द प्रभु' की प्राप्ति के लिये ही यत्न कर रहे हैं, पर इन का मार्ग अशुद्ध है। यदि वे सब लोग शुद्ध मार्ग से यत्न करेंगे, तो उन को कितना लाभ होगा।

सत्-चित्-आनन्द ही ईश्वर है, इसलिये 'अस्तित्व, ज्ञान और सुख' के लिये यत्न करने का अर्थ ही ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न करना है। सब लोग अपने सुख की पराकाष्ठा करने में लगे हैं, इसी का अर्थ ये सब लोग ईश्वर प्राप्ति करने के यत्न में हैं। सब मनुष्यों के संपूर्ण प्रयत्नों का जो एक सूत्र है, वह सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही है।

पर आश्चर्य की बात यह है कि, सब लोग जानते नहीं कि, हम ईश्वर प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं। कई लोग इन में ऐसे हैं कि, वे अपने मुख से तो कहते हैं कि, हम 'ईश्वर को मानते नहीं।' ऐसा कहते हुए वे अपना अस्तित्व, अपना ज्ञान और अपना सुख बढाने के भरसक प्रयत्न करते हैं!! वे इन तीन चीजों को ही चाहते हैं। सत्-चित्-आनन्द के लिये ये यत्न करते है! सत्-चित्-आनन्द के लिये ये लालायित हैं! सत्-चित्-आनन्द के लिये ये तडप रहे हैं और मुख से कहते हैं कि, हम ईश्वर नहीं मानते!!! यह उनके अज्ञान का ही खेल है! सत्-

चित्- आनन्द ही ईश्वर का स्वरूप है। लोग मानें, या न मानें, जिन लोगों को अपना अस्तित्व, अपना ज्ञान और सुख चाहिये, उन को वास्तव में सच्चिदानन्द प्रभु की प्राप्ति की ही अभिलाषा है।

यदि सब मनुष्यों को इस बात का पता लग जायगा कि, हम सचमुच सच्चिदानन्द प्रभु को ही चाह रहे हैं और उस की प्राप्ति का शुद्ध मार्ग चलाना है, तो इन लोगों के अधे से अधिक कष्ट दूर होंगे और जो इनको चाहिये, वह इनको अति शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा। पर इस सत्य के विषय में ही जनता में बड़ा मतभेद हुआ है।

इस संसार में जितने धर्म और जितने धर्मपन्थ उत्पन्न हुए हैं, वे सब के सब मनुष्य को सच्चा आनन्द देने के लिये ही शुरू हुए, इस में सन्देह नहीं। अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति का सत्य मार्ग बताना ही इन धर्मप्रवर्तकों का मुख्य उद्देश था। पर अब विश्व में हम क्या देखते हैं? हम यही देखते हैं कि धर्म के विषय मे ही अनन्त झगडे खडे हुए हैं और किसी तरह धर्मोधर्मों के अन्दर समझौता नहीं होता, यह कितना आश्चर्य है?

प्रत्येक धर्म की जडमें, धर्म की थाह मे, या बुनियाद में कुछ न कुछ ईश्वरविषयक मन्तव्य रहता ही है। जैसा जिस का मन्तव्य होता है, वैसा ही वह धर्म बनता है और वैसे ही उसके माननेवालोंके स्वभाव भी बनते हैं। हम ससार मे देखते हैं कि, प्रत्येक धर्म के माननेवालो के स्वभाव, आचार और व्यवहार विभिन्न हैं। ऐसा होने का एकमात्र कारण यह है कि, उस धर्मने विशेष प्रकार से ईश्वर का स्वरूप माना है, उस कारण वैसा उनका मन्तव्य बना और वैसे ही उन धर्मवालोंके आचारव्यवहार भी बने।

इन सब धर्ममतवालो का हमे यहाँ विचार करना है और देखना है कि, मानवों में सत्य धर्म का प्रकाश अति सुगमता के साथ किस तरह हो सकेगा और सब मानवों का जो उद्देश है, वह उनको अल्प परिश्रम से

किस तरह प्राप्त हो सकेगा। इस का विचार करने के लिये हमें सब से प्रथम धर्म के मूल मे जो जो विचार कार्य कर रहे हैं, उन का मनन करना चाहिये और उस की समालोचना कर के किस मूल विचार से जनता का सच्चा कल्याण होगा, इस का निर्णय करना चाहिये। यही कार्य इस लेख माला में करना है।

इस ससार मे अनेक धर्म हैं। उन सब का विचार करना बडे प्रयास का कार्य है। हमारे कार्य के लिये इतना प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। हम अपने प्रतिपादन की सुविधा के लिये प्रथम इस विषय के दो विभाग करते हैं–

१ ईश्वर को न माननेवाले धर्म, और

२ ईश्वर को माननेवाले धर्म।

इस तरह सब धर्मपथो के दो विभाग हो सक्ते है। इस के पश्चात् इसी के उपविभाग निम्नलिखित होंगे—

ईश्वरवाद के तीन भाग

३ सुदूर स्थान मे ईश्वर रहता है ऐसा माननेवाले,

४ ईश्वर को सब भूतों में और सब भूत ईश्वर मे माननेवाले, तथा–

५ ईश्वर को विश्वरूप माननेवाले।

ईश्वरवाद के ये तीन विभाग हो सकते हैं। इस तरह अपने विषय के चार विभाग हुए। (१) एक ईश्वर को न माननेवाले, (२) दूसरे ईश्वर को सुदूर माननेवाले, (३) तीसरे ईश्वर को सब भूतों मे और सब भूत ईश्वर मे हैं, ऐसा माननेवाले और (४) चौथे ईश्वरको विश्वरूप माननेवाले। इन चार विभागो मे ससार के सब धर्म और धर्ममत समाविष्ट हो सकते हैं। इसलिए इन चार विभागो का हमें क्रमश विचार करके इस बात का निर्णय करना है कि, इनमें से किस मतव्य को माननेवालों का धर्म सचमुच

मानवों का अधिक से अधिक हित करनेवाला हो सकता है।

सब से प्रथम हम 'ईश्वर को न माननेवालों' के मतों का विचार करना चाहते हैं।

नास्तिकों की विचारधारा

'ईश्वर नहीं है' ऐसा मान कर जिन्होंने अपने धर्म को चलाया, अथवा जिन्होंने ईश्वरके विषयमें कुछ भी नहीं कहा, उनको इस लेखमाला में हम 'नास्तिक' कहेंगे। पाठक इस लेखमालामें 'नास्तिक' शब्द का अर्थ 'ईश्वर का स्वीकार न करनेवाले' ऐसा समझें और अर्थात् 'आस्तिक' का अर्थ 'ईश्वर का स्वीकार करनेवाले' ऐसा समझना उचित है। नास्तिक और आस्तिक शब्द के अन्यान्य अर्थ हैं, इसलिए यहाँ इनके इन अर्थों का निर्देश करना पडा है। अब हम इन अर्थों का स्वीकार करके अपने विषय की आलोचना करते हैं।

नास्तिक ईश्वर के अस्तित्व का स्वीकार नहीं करते। इस तरह ईश्वर का स्वीकार न करनेवाले इस समय अनेक धर्म और अनेक पन्थ हैं। 'जैन-धर्म' और 'बुद्धधर्म' ये बडे धर्म इस समय प्रबल हैं और ये अपने धर्म के लिये ईश्वर का स्वीकार नहीं कर रहे हैं। इसी तरह बार्हस्पत्य, चार्वाक, देवसमाजी, आदि कई अन्य धर्मपन्थ ऐसे हैं कि, जो ईश्वर का स्वीकार नहीं करते।

आधुनिक लोगों में अज्ञेयवादी (Agnostic), साम्यवादी (Communist) आदि अनेक लोग हैं, पर अबतक इनके बडे धर्म-पन्थ बने नहीं हैं और इनको उत्पन्न हुए पर्याप्त वर्ष भी नहीं हुए हैं। इसलिये इनका निर्देश हम 'धर्म' करके नहीं कर सकते। जैन और बौद्ध ये दो धर्म ऐसे हैं कि, जिन के प्रभाव से प्रभावित हुई जनता इस समय

बहुत हैं, इसलिए इन मुख्य नास्तिकवादी धर्मों का ही यहां हम विचार करते हैं।

इनका विचार करने के समय सामान्य रूप से हम इनके मुख्य दोचार मंतव्यों को ही लेंगे और बतायेंगे कि, इनके मंतव्योंने जगत् में क्या किया ? हम इन धर्मों के सूक्ष्म विभेदों में नहीं जायेंगे, और इनके दार्शनिक सूक्ष्म सिद्धांतों का भी यहां विचार नहीं करेंगे। अत. इनके मुख्य तत्त्वों का ही विचार हम यहा करते हैं-

इन का पहिला तत्त्व यह है कि, इस विश्वका नियामक कोई नहीं है, ईश्वर कोई नहीं है। जिस तरह अराजक राज्य होता है, वैसा ही यह विश्व विना अधिष्ठाता के है।

ये नास्तिक ईश्वर को नहीं मानते, परन्तु ये पञ्चभूतों को मानते हैं। पञ्चमहाभूत हैं, ऐसा इनका विश्वास है और इन पंचमहाभूतों से यह सब संसार बनता है, ऐसा इनका कथन है। पंचमहाभूतों के विशेष प्रकार के मेल से यह जीव बनता है, ऐसा इनका विश्वास है और जब यह जीव बन जाता है, तब वह स्थायी रहता है, इसलिए मरने के पश्चात् पुनर्जन्म प्रत्येक जीव को होता है, ऐसा इनका कथन है।

दुःखमय संसार

पंचमहाभूतों से जो यह संसार बनता है, वह क्षणिक है और दु.खमय है। इस जगत्में दु ख, कष्ट, मृत्यु आदि आपत्तियोंके सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह संसार जीव के लिये बंधन करनेवाला है, इसलिये इस से शीघ्र छुटकारा पाना चाहिए। यह इनकी विचारधारा है। जब तक जीव संसार में रहेगा, तब तक दुःख के सिवाय और इस को कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह संसार असार है, अतः असार से सार किस तरह मिलेगा ? यह इनके तत्त्वज्ञान का सिद्धान्त है।

हम इन नास्तिकों के सब सिद्धान्तों का यहां विचार करना नहीं चाहते। जितने सिद्धान्तों का विचार इस लेख में करना है, उतने ऊपर दिये हैं। देखिये इन के मन्तव्यों का प्रभाव जनता पर कैसा हुआ है।

सबसे प्रथम 'ईश्वर का अभाव' लीजिये। नास्तिकों के मत से ईश्वर नहीं है। ईश्वर तो अन्तिम प्राप्तव्य है, वही इस मतमें नहीं है। उस स्थान पर इन के मत से शून्य (अभाव) है। अर्थात् इन का प्राप्तव्य (अभाव) शून्य है। अब शून्य क्या है? यह अनन्त संख्यावाला गणित-शास्त्र का शून्य नहीं है। जिस का अर्थ 'अभाव' है, वह शून्य इन नास्तिकों का अन्तिम और आदिम है। आदि में भी शून्य था और अन्त में भी शून्य ही रहेगा। इसका भाव यह है कि, आदि में भी अभाव ही था और अन्त में भी अभाव ही रहनेवाला है।

अभावसे उत्पत्ति

अभाव से वा शून्य से सब की उत्पत्ति है। यह संसार अभाव से बना है और सब का निरास होकर अन्त में भी क्या बनेगा? जो पहिले था, वही बनेगा। अन्त में भी अभाव अथवा शून्य ही बनेगा। यह इनका अन्तिम साध्य नि सन्देह आकर्षक नहीं है।

यदि किसी से कहा जाय कि, बडी तपस्या करो और अन्तमें तुम अभाव में लीन हो जाओ, तो वह तपस्या किसलिये करेगा? यदि अपना अभाव ही होना है, यह सब को मालूम होगा, तो कौन उस अभाव की प्राप्ति के लिये यत्न करेगा? अतः यह इनका ध्येय जनता का चित्त आकर्षित करनेवाला नहीं है। प्रत्युत उदासीनता पैदा करनेवाला ही यह मन्तव्य है।

ईश्वर न होने से इनके पास उच्चतम प्राप्तव्य कुछ भी नहीं रहा है। सब संसार की उत्पत्ति अभाव से होने के कारण संसार का लय अभाव में ही होगा, यह बड़ा भारी भयप्रद डर इन के मन में है। हम

कर रहे हैं, उन का परिणाम यदि अभाव ही होनेवाला होगा, तो कौन किसलिए क्या करेगा ? इस तरह इन के मन्तव्य में उत्साह की वृद्धि होने-योग्य आकर्षकता नहीं है ।

अभाव से सृष्टि क्यों हुई ? सब से प्रथम अभाव से उत्पत्ति किस कारण हुई, इसका कोई समाधानकारक उत्तर इनके पास नहीं है । पर ये ऐसाही मानते हैं कि, अभाव से संसार उत्पन्न हुआ । यह केवल मानना ही है, क्योंकि यह मानना निर्मूल है ।

जैसा इनका ईश्वर नहीं, वैसे पंचमहाभूत भी नहीं थे । पहिले केवल अभाव था, कुछ भी नहीं था, एकदम अचानक पंचमहाभूत उठ खडे हुए अथवा बनते बनते बने । कैसा भी माना तो भी अभाव से भाव मानना सर्वथा असम्भव और अशास्त्रीय ही है । प्रेरक ईश्वर के अभाव में अभाव के अन्दर कैसी प्रेरणा हुई और यदि हुई, तो किस चीजपर हुई ? ये सब अनवस्था के प्रसंग इस मत में हैं ।

आगे महत्व की बात यह है कि, इन के मत से सब संसार दुःखमय है ! संसार का स्वभाव ही दुःख है । ऐसा इन का मन्तव्य होनेसे संसार से विमुख होना, संसार से विरक्त होना, इनके मन्तव्यों में प्रधान मन्तव्य हुआ !! यदि संसार दुःखमय, दुःखरूप, क्लेशस्वभाव है, तब तो इस संसार से छुटकारा पाना ही साधनमार्ग सिद्ध होता है । यही इनके मत में हुआ । सब कुछ छोड देना और विरक्त होकर देहत्याग तक चुपचाप रहना, यही मन्तव्य उक्त कारण इन्होंने मान लिया है !!!

पापों और दोषों के कारण फल भोगने के लिये इस संसार में जीव आते हैं, अतः पापमूलक यह संसार है, ऐसा ये मानते हैं । संसार से घृणा उत्पन्न करने के जितने इन्होंने प्रयत्न किये, उतने किसीने भी नहीं किये हैं । संसार को दुःखमय मानने के कारण इनका तत्वज्ञान भी कैसा हुआ, यह देखिए, ये कहते हैं—

नास्तिकों का तत्त्वज्ञान

प्रश्न– संसार दुःखमय है, यहां दुःख के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यहां जहां देखो, वहां दुःख, मृत्यु, रोग, जीर्णता, क्लेश, आपत्ति, विनाश, क्षीणता ही है। यह सुख की प्राप्ति कैसी होगी ? देखो सर्वत्र संसार में दुःख भरा है, प्रत्येक मनुष्य क्षीण हो रहा है, मृत्यु की ओर जा रहा है, नाना प्रकार के रोगोंके आक्रमण होकर मनुष्य जर्जर हो रहा है। इस के लिये क्या उपाय किया जाय ?

उत्तर– इस संसार का स्वभाव ही दुःख है, अतः इस में रहते हुए दुःख छूटेगा, यह कदापि नहीं हो सकता, इसलिये इस बात का उपाय करना चाहिये कि, यहां जन्म ही प्राप्त न हो, अर्थात् शरीरधारण ही न हो, शरीरधारण होने से दुःख होना अनिवार्य है, क्योंकि इस शरीर के साथ ही रोग, क्षीणता, दुःख और मृत्यु लगे हैं।

प्रश्न– यह तो ठीक ही दीखता है कि, शरीर धारण होने से रोग, क्षीणता, दुःख और मृत्यु हो। अतः यह कहिये कि, शरीरधारण किस तरह नहीं होगा, इस शरीरधारण से मुक्तता होने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर– यह आप का प्रश्न उत्तम है। शरीरधारण तो स्त्री के सम्बन्ध से होता है, अतः इस सम्बन्ध से मनुष्य को निवृत्त होना चाहिये। तब तो शरीरधारण नहीं होगा और शरीर से होनेवाले दुःख भी नहीं होंगे। स्त्री ही सब दुःखों और आपत्तियों की खान है। यह स्त्रीजाति संसार में बन्धन उत्पन्न करने के लिये ही निर्माण हुई है। इसलिये संपूर्ण दुःखों को देनेवाला शरीर स्त्री से उत्पन्न होता है। इसलिये स्त्रीजाति की ओर घृणा से देखना आवश्यक है।

प्रश्न– स्त्रीजाति सब बन्धनों का कारण है, यह सत्य है और स्त्री से ही जन्म प्राप्त होता है, यह भी सत्य है। इसलिये इस संसार में किसी का

भी नहीं, वह पत्थर जैसा ही हुआ। न वह स्वय हिल सकता है और दूसरों के हिलाने पर भी वह स्थिर नहीं रह सकता। प्रवृत्तिशून्य मनुष्य की कल्पना करना ही कठिन है और ऐसे मनुष्यको श्रेष्ठ कहना भी असभव है। पर इनके मत से यही श्रेष्ठ है!! जिस में किसी तरह की प्रवृत्ति नहीं, वह श्रेष्ठ पुरुष है! इनके मत से वही पूर्ण पुरुष है!!!

असत् प्रवृत्ति तो बुरी है ही, पर सत्प्रवृत्ति भी इनके मत मे बुरी है, क्योंकि सत्प्रवृत्ति से सत्कर्म होंगे, कर्मों से दोष या गुण होंगे और उनके भोगने के लिए शरीर धारण करना पडेगा। शरीर धारण हुआ, तो रोग, दु ख, क्षीणता आदि आपत्तिया आ जायेंगी। इसलिए जैसी अशुभ प्रवृत्ति बुरी है, वैसी शुभ प्रवृत्ति भी बुरी है, ऐसा इनका कहना है।

इस तरह मनुष्यो की जो सहज कर्म की ओर प्रवृत्ति है, उसे रोकने का यत्न इन्होंने किया। पर किस तरह इस की सिद्धि होगी? निसर्गप्रवृत्ति रुक कैसे सकती है? पर इन्होंने इस दिशा से भरसक प्रयत्न किया, इसमे सन्देह नहीं।

वास्तविक रीतिसे देखा जाय, तो यह बात सच है कि, मनुष्य में सदा सत्कर्मप्रवृत्ति ही जाग्रत रहनी चाहिये। पर जिस समय उक्त कारणपरपरा के अनुसार सत्कर्मप्रवृत्ति भी मारी जाने लगी, तब मानव की उन्नति ही रुक गयी। और ऐसे लोग बनने लगे कि, जो स्वय कुछ भी करेंगे नहीं और दूसरोंद्वारा कराने पर ही जो किया जाय, उतना ही करेंगे। इस तरह क्रियाहीनता को अति श्रेष्ठता मानने से मनुष्य के विकास की बडी हानि हुई, जो किसी अन्य कारण से होने की सभावना ही नहीं थी। इस हानि के सर्वथा उत्तरदाता ये ही नास्तिक हैं।

इधर इन्होंने कर्मप्रवृत्ति को रोक दिया और इधर दूसरी ओर ससार को दु खमय और क्षणिक मानने के कारण विश्व की ओर तुच्छता और हीनता के

भाव से देखने का विचार बढ़ गया।

यह जगत् ही दुःखमय है, दोषमूलक है, हेय है, त्याज्य है, ऐसी विचार-धारा इन के द्वारा बढ़ाई गई, स्त्री को इसी कारण सब दुःखों की खान ठहराया, क्योंकि इनसे ही संतानें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार के विचित्र विचारप्रवाह इन नास्तिकों के द्वारा शुरू हुए। इस कारण इस जगत् में रहना ही इनके लिए बहुत बुरा और क्लेशकारक प्रतीत होने लगा। शरीर को ये लोग पीप-विष्ठा-मूत्र का गोला समझने लगे। पुरुष का और स्त्री का शरीर पीप-विष्ठा-मूत्र का गोला माना जाने लगा। जगत् तो संपूर्ण तथा दुःखमय है, उस में यह शरीर पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला माना गया। फिर ऐसी अवस्था में विष्ठा के गढे में कौन रहने की इच्छा करेगा? इनको शरीर से घृणा, स्त्रीपुत्रों से घृणा, जगत् से घृणा उत्पन्न हुई। इसका परिणाम यही हुआ कि, ये लोग जगत् के व्यवहार से पूर्ण उदास बनने की अपनी ओर से पराकाष्ठा करने लगे। इस विषय में सिद्धि मिले या न मिले, बोलचाल में तथा दिखावेमें बड़ी उदासीनता आने के कारण व्यवहार में बड़ी शिथिलता आने और बढने लगी।

स्त्रीपुरुष के शरीर को इन्होंने पीप-विष्ठा का गोला माना, इस कारण जो घृणा उत्पन्न हुई, उसने सब संसार को असार बनाया, और इनकी उदासीनता के कारण उस असारता की ही वृद्धि होती गयी।

शरीरधारणा ही बहुत हानिकारक और सब दुःखों का हेतु माना जाने लगा, इस कारण स्त्रीपुरुषसम्बन्ध बहुत बुरा समझा जाने लगा। अतः गर्भ-वास के दुःखों के वर्णन काव्यमयी भाषा में बढने लगे। वे कहने लगे कि, गर्भ में जब बालक आता है, तब उस को विष्ठा और मूत्रमें रहना पडता है, इसके आस, नाक, कानों के रध्रों से नाना कृमि घुसते हैं और उस को बडा क्लेश देते हैं। यह बालक जीव गर्भाशय की गर्मी से पकता रहता है

और विष्ठामूत्रादि मुख में जाने से बड़ा दुःखी होता हैं। ऐसे अनेकविध कष्टों से यह गर्भवास में दुःखी और कष्टी होता है। ऐसे वर्णन इन नास्तिकों ने इसलिए प्रचलित किए कि, इस से इस नरदेहके विषय में और संसार के विषय में बड़ी घृणा उत्पन्न हो जाय। ऐसी घृणा तो उत्पन्न हुई और लोग जगत् की ओर शरीर को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगे। इस से संसार की इतनी हानि हुई है कि, उसका वर्णन होना असंभव है।

जगत् दुःखमय है, इसलिए जगत् में आने का मार्ग जो गर्भवास है, वह भी दुःखमूलक ही है। इसलिये इन्होंने गर्भवास के दुःखों का वर्णन ऐसा भयानक किया। पर यह शरीरशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा असत्य है। न गर्भ के नाक, आंख, कानों में कृमि जाते हैं और नाही वह बालक विष्ठामें सोता है। उस की व्यवस्था इतनी उत्तम रहती है कि, किसी भी तरह वह वहां कष्ट को प्राप्त नहीं होता, जैसे कि इन नास्तिकों ने वर्णन किए हैं। अतः ये वर्णन शरीरशास्त्र की दृष्टि से अशुद्ध, असत्य और विचारहीनता अथवा ज्ञानहीनता से परिपूर्ण हैं। गर्भ की सुरक्षा का जो प्रयत्न निसर्ग में हुआ है वह देखकर निसर्ग के अद्भुत रचनाकौशल्य का पता लगता है और मानने का मन आश्चर्य से स्तब्ध होता है। इस को न जानते हुए मनमाने ख्याली कष्टों के वर्णन अज्ञान से करना और उससे जनता के मन में गर्भवासविषयक घृणा उत्पन्न करना, यह सचमुच इनका अक्षम्य अपराध है। पर वह इन्होंने किया है, इस में सन्देह नहीं।

एक बार एक असत्य कल्पना उत्पन्न हुई तो उस से अनेक प्रकार के अज्ञान के जाल उत्पन्न होते हैं, वैसे ही यह बात हुई है। सब जगत् दुःखमय है, यह एक अशुद्ध कल्पना होने के बाद, शरीरधारण, गर्भवास आदि सब की सब बातें घृणा युक्त दीखने लगीं, अथवा वैसे मानने की, और इनकी प्रवृत्ति हुई। मूल एक अशुद्ध कल्पना उत्पन्न होनेसे उसका विस्तार

कैसा बारों ओर अशुद्ध होता है, इस का यह एक उत्तम उदाहरण है। इन के इन कुविचारों के कारण जनता फँस गयी और ठीक मार्ग पर आना उन के लिए कठिन हुआ।

जैनबौद्धोंने जगत् को दुःखमय माना, इस एक अशुद्ध विचार से उनके सभी विचारप्रवाह कैसे अशुद्ध हुए, इसे यहा देखिए। जगत् दुःखमय, संसार असार, सब पदार्थ दुःख बढानेवाले, स्त्री पाप की खान, गर्भवास परमावधिका कष्टदायक, दोष से ही ससार में आना होता है। इस तरह संसार की ओर इतनी घृणा उत्पन्न करने से यहां रहने से ही मानवों के मन में बडी घृणा उत्पन्न हुई। इस का परिणाम यह हुआ कि, इस जागतिक उन्नति के विषय में लोग पूर्ण उदासीन हुए और इसी कारण मानवों के दुःख दिन प्रतिदिन बढने लगे। अर्थात् इनकी विचारधारा ही इस तरह दुःख बढाने के लिए हेतु हो चुकी है।

इतने विचार से पाठकों को पता लगा होगा कि, जैनबौद्धों की नास्तिक मत की विचारधारा से जगत् में कितनी अवनति हुई है। पहिले ईश्वर नामक कोई पूर्ण शक्ति प्राप्तव्य न रहने के कारण अभाव ही इनका प्राप्तव्य रहा और अभाव को शुभगुणमय मानना तो असम्भव ही है, इसलिये उच्चतम प्राप्तव्य की दृष्टि से इन का मत अयोग्य सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि, इन के मत से ससार क्षणिक और दुःखमय होने से, संसार के सब पदार्थ दुःखस्वरूप हुए, गर्भवास भी परम दुःख का हेतु माना गया, इस तरह यहां रहना ही दुःखमय सिद्ध हुआ। इनका यह मत होने से यहा के इन सांसारिक व्यवहारोंके विषय में जनताके मन में घृणा उत्पन्न हुई और घृणित वस्तु से सब दूर ही भागते हैं. इस कारण सब लोग ससार की ओर से दूर जाने का यत्न करने लगे। इस तरह इस मत से इस जगत् की उन्नति में बडी भारी क्षति हुई, इतना ही नहीं

पर सब अन्य मतों पर भी इस मत की जो छाप पडी है, उस से भी यह दुष्परिणाम सर्वत्र दिखाई देता है।

जगत् को दुःखमय कह देने से इन मतोंने जो जगत् के सुधार में हानि की है, उस को किसी अन्य उपाय से दूर करना कठिन है। जिस तरह पाखाने में हमेशा के लिये कोई बैठ नहीं सकता, उसी तरह पीप-विष्ठा और मूत्र के गढे में कोई रहना नहीं चाहता। इस कारण इन लोगों के मत से इस जगत् में और इस देह में रहना ही दुःखकारक माना गया, इसलिये इस देह में रहना ही एक कष्ट का विषय इन के लिये हुआ।

यहां से अतिशीघ्र छुटकारा पाने के नाना प्रकार के उपाय इन्होंने ढूंढे, उपवास करके शरीर को शुष्क करना, शरीर को कृश करना आदि अनेक यत्न इन्होंने अपनी कल्पना से खडे किये। इन सब का परिणाम शरीर को सुखा देने में हुआ। इस विश्व का सुख बढाने के स्थान पर इस रीतिसे ये उपाय कष्टों को बढानेवाले ही सिद्ध हुए।

जीव की उत्पत्ति

पंचमहाभूतों के संघात से जीवकी उत्पत्ति ये मतवाले मानते हैं और एक वार उत्पन्न हुआ जीव परिपूर्ण होने तक वारंवार जन्म लेता है और पूर्ण मुक्त होने के पश्चात् उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पडता, ऐसा इन का मत है।

जैन मत से इस तरह २४ तीर्थंकर मुक्त अथवा पूर्ण हो चुके हैं और बौद्धमतसे एक बुद्ध ही निर्वाण को प्राप्त होकर पूर्ण हो चुका है। २४ तीर्थंकरों के बाद तथा भगवान बुद्ध के पश्चात् कितने मनुष्योंने निर्वाण प्राप्त किया, अथवा कितने पूर्ण पुरुष बने, इस का पता नहीं है। प्रायः इन के पश्चात् इतना पूर्ण कोई नहीं हुआ होगा। इतनी शताब्दियां व्यतीत हुईं, पर एक भी पूर्ण पुरुष नहीं बना, यदि यह सच बात होगी, तो यह बडी

विरागी की ही बात है। तथापि वे ऐसा ही मानते हैं, ऐसा हमारा ख्याल है।

वे जो, इनके मत में मुक्त, निर्वाण प्राप्त अथवा पूर्ण हुए, उनके अन्दर किसी तरह प्रवृत्ति नहीं रही, अतः दोष नहीं रहे, इस कारण वे पुनर्जन्म-परंपरा से मुक्त हुए। जो ऐसे प्रवृत्तिहीन होंगे, वे भी ऐसे ही निर्वाण को प्राप्त होंगे। यह इनका मन्तव्य है।

इन पुरुषों का निर्वाणप्राप्ति का अथवा पूर्णत्व का यह ध्येय जनता के सम्मुख इन्होंने रखा है। यह उत्तम आदर्श है, इसमें संदेह नहीं है। और इन बुद्ध और तीर्थंकरों को आदर्श मान कर एक प्रकार का शुद्ध पुरुष बनने का ध्येय जनता के सम्मुख रहा, इसमें भी संदेह नहीं है।

इस में कइयों का ऐसा ख्याल है कि, जो तीर्थंकर जैसे शुद्ध और पवित्र बनते हैं, उनके शरीर में रक्त नहीं होता, प्रत्युत रक्त के स्थान पर दूध होता है। जब तक मानव अशुद्ध रहेगा, तब तक उसके शरीर में रुधिर रहेगा और जब वह शुद्ध होगा, तब उसके शरीरमें दूध रहेगा। यदि सचमुच यही इनकी कल्पना है, तब तो यह शारीरशास्त्र की दृष्टिसे बिलकुल अशुद्ध कल्पना है। मनुष्य के सर्वथा शुद्ध हो जाने पर उसकी नसनाडियोंमें से दूध का भ्रमण होगा, यह सर्वथा असत्य है। किसी भी असत्य कल्पना पर ही किसी धर्म का आधार होगा, तो वह धर्म स्थायी नहीं हो सकता। सम्भव है कि, इन्होंने यह कल्पना इसलिये की होगी कि, मनुष्य अपने शरीर में खून है, यह देखकर अपने अन्दर अपवित्रता है ऐसा मान के और पवित्र बनने के लिये अधिक दक्षता के साथ प्रयत्न करे। पर ऐसी अशुद्ध कल्पना पर ही जिस का आधार है, वह धर्म भावना चिरकाल तक रह नहीं सकती, इसलिये इस विषय में अधिक लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती

इनके मुख्य सिद्धान्त

जैनबौद्धोंने सदाचार पर बडा बल दिया था और यही इनके धर्मों का प्रचार चारो ओर होनेका कारण है। यदि सदाचार पर बल ये न देते, तो अन्य सिद्धांतविषयक इन के पास कोई ऐसा महातत्व नहीं था कि, जिस से इनका प्रचार इतना हो जाता। जैनों और बौद्धों के अनेकानेक दर्शन हैं, ये करीब छोटेमोटे मिलकर सौसे अधिक हैं और इस कारण इनमें इतने मतभेद भी हैं। पर हम इन सब उपभेदों का विचार करना नहीं चाहते, क्योंकि उससे कोई विशेष लाभ नहीं हैं। इनके मुख्य सिद्धांत ये ही हैं-

१. ईश्वर नहीं है।
२. अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।
३. पञ्चभूतों के विशेष प्रकार के संमिश्रणसे जीव की उत्पत्ति हुई है, उत्पत्ति होनेके पश्चात् जीव स्थायी रूप से अनन्त काल रहता है।
४. संपूर्ण जगत् क्षणिक, दुःखमय तथा दोषपूर्ण अत. त्याज्य है।
५. जगत् का संग दोष उत्पन्न करता है, इसलिए जगत् से निर्लेप रहने से जीव निर्दोष होकर मुक्त होता है।

संक्षेप से इनके ये मुख्य सिद्धांत हैं। शेष दार्शनिक भेद जो इनमें पर्याप्त हैं, उन का यहां हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्व समयके नास्तिक

जैनबौद्धो के पूर्वकाल में कई नास्तिक थे। बृहस्पति, चार्वाक आदि नामों से दार्शनिक जगत् में वे प्रसिद्ध हैं। ये सब ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे। और ये शुद्ध वास्तव-दृष्ट-वादी थे। जितना दीखता हैं, उतना ही सत्य है, ऐसा इन का सिद्धांत था।

'ऋण करो, घी पीओ, खाओ, पीओ, मजा उडाओ, देह भस्म हो

जानेपर पुनः पुनर्जन्म नहीं है। स्वर्गादि सब झूट है।' इस तरह ये नास्तिक बोलते और मानते थे। इस तरह के नास्तिकवाद से जगत् में बडी अव्यवस्था मची थी, बडा स्वैराचार बढ गया था और इससे जनता में कष्ट भी बहुत हुए थे। इसलिये जनता ऐसे नास्तिकों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगी थी। इसका कारण यही था कि, इनमें 'बल' का ही राज्य था। जो बली होगा, वही सब को लूटता और भोग करता था। किसी तरह विचार की सुव्यवस्था इन में नहीं थी।

जैन और बौद्धोंने पंचभूतों से उत्पन्न हुआ जीव स्थायी माना और परिशुद्ध होने तक जन्ममरण के कष्ट होते रहेंगे, सदाचार की तपस्या से शुद्ध बनो, मुक्त हो जाओ, तो सब कष्ट दूर होंगे ऐसा कहा, इसलिये इन के सदाचार के प्रभाव से जनता बडी आकर्षित हुई। अतः हर कोई कह सकता है कि, चारवाकादि नास्तिकों के मतों की अपेक्षा इनके मत सदाचार की प्रधानता रहने के कारण जनता पर प्रभाव डालने योग्य हैं। इस कारण ये पूर्वकाल के नास्तिकों की अपेक्षा आचार की दृष्टि से आस्तिकों के अधिक समीप आ गये हैं।

हमारा यहां इनके विषय में कहना इतना ही है कि, इनके मतसे जनता पर जो बुरा प्रभाव पडा, वह दूर करने का कोई साधन इनके पास नहीं है, जैसा देखिये—

१. इनके ईश्वरको न मानने के कारण इनके पास कोई श्रेष्ठ सामर्थ्य नहीं रहा।

२. सब जगत् दुःखमय, दुःखस्वरूप तथा दोषरूप मानने के कारण मानवी मन में जो घृणा जगत् के विषय में हुई, उसको दूर करने का कोई साधन इनके पास नहीं था।

३. जन्म और जीवन को दोषरूप मानने के कारण जो इनके मत से

जीवन के ही विषय में घृणा जनता के मन में उत्पन्न हुई, उसको दूर करने का कोई साधन इनके पास नहीं था।

इस तरह कई अन्य बातें विचारणीय हैं, पर इन सब का विचार करने की यहां हमें आवश्यकता नहीं है। उक्त तीनों मन्तव्यों के कारण मानवी जीवन का उत्साह इन्हों ने मार दिया, इस कारण जागतिक उन्नति में इन से प्रगति होना सम्भव ही नहीं था, और अन्त में वैसा ही हुआ। शत्रु आने पर भी बौद्धोंने प्रतिकार तक नहीं किया, क्योंकि इस क्षणभंगुर जगत में, दुःख के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये यहां की सुव्यवस्था के लिये *महान् प्रयत्न इनसे कैसे होंगे? जगत् के विषय में पूर्ण उदासीनता* और घृणारूपी महान् दोष इनके धर्ममतों के कारण इस जागतिक व्यवहार में जो एक बार उत्पन्न हुआ, वह अब तक दूर नहीं हुआ। इसी कारण इनका मत उत्साह बढानेवाला नहीं है।

भारतवर्ष में ये मत फैले थे, पर इनके कटु फल देखकर भारतीय जनताने इन मतों का अवलम्बन करना छोड दिया, तथापि इनके बुरे प्रभाव अब तक भारतीय जनता पर रहे दीखते हैं।

यद्यपि पूर्व समय या उत्तर समय के अन्यान्य नास्तिकों से ये अच्छे थे, क्योंकि इन में तपस्या और सदाचार का महत्त्व अधिक माना गया था, तथापि संसार को क्षणिक और दुःखमय मानने के कारण जनता में संसार-विषयक जो घृणा उत्पन्न हुई, वह अब तक भी छूटती नहीं है। ये अवैदिक कुसंस्कार जब दूर होंगे, तभी शुद्ध मानवधर्मका फैलाव होना सम्भव है।

सब को इसी दिशा से यत्न करने चाहिये।
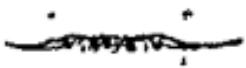
(३)

सुदूर स्थानमें ईश्वर माननेवालोंके मतोंका मनन

गत लेख में नास्तिकों की विचारधारा का मनन किया, और उस से शून्यवाद, दुःखवाद और क्षणभंगुरवाद का प्रचार होनेसे मानवजातीपर जो उदासीनता की छाया छायी थी, उसका स्वरूप देखा और इस मत से मानवजाती का कल्याण होने की संभावना नहीं, यह हमने देख लिया। अब आस्तिकों के नाना मतों और मन्तव्यों का विचार करना है। इनमें सबसे प्रथम 'सुदूर स्थान में ईश्वर रहता है,' ऐसा माननेवाले हमारे सामने आते हैं। इनमें भी प्रचारक शक्ति का विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि, *खिस्तमत और मोहमदीय मत का प्रथम विचार* करना योग्य है। क्योंकि ये अपने मतों का खूब प्रचार करते हैं, और नाना युक्तियों से सब मानवों को अपने मत में लाने के इच्छुक हैं। प्रचार का भाव इन दोनों मतों में अत्यधिक है, इसीलिये इनके मतों का विचार सब से प्रथम करना चाहिये।

इस समय सब लोग जानते हैं कि, खिस्ती मतके प्रचारक युक्ति से काम लेते हैं और मोहमदीय मतवाले शक्ति तथा जबरदस्ती से काम कर रहे हैं। परन्तु ईसाई मतवालों ने शक्ति, जबरदस्ती और क्रूरता से अपना प्रचार कभी किया नहीं था, यह बात नहीं है। जब वे इस भारतवर्ष में प्रथम आये, उस समय उन्होंने ऐसी क्रूरता से प्रचार का कार्य किया था कि, वह देख कर मोहमदीयों से भी वे बढकर थे, ऐसा ही सब पाठक कहेंगे।

ईसाइयों की क्रूरता

मोहमदीयों के प्रचार के साधन मंदीरों को तोडना, मूर्तियों को भ्रष्ट करना, अन्य रीतिसे कतल आदि करके जबरदस्ती करना आदि अनेक इस समय में भी प्रचलित हैं, और हिंदुओं को ये सब परिचित भी हैं। इसके साथ स्त्रियोंको भगाना यह भी एक साधन है। एक स्त्री भगायी गयी, तो उससे संतानोत्पत्तिद्वारा अनेक प्रजा का उत्पादन हो सकता है, इसलिये इस समय भी ये नाना प्रयत्नों से स्त्रियों को भगाने के कार्य में लगे रहते हैं। सिन्ध, पंजाब, बंगाल आदि प्रान्तों में कि जहां इनकी आबादी अधिक है; वहां यह उपद्रव इस समय में भी प्रचलित है। प्रति वर्ष सेकडों अनाथ स्त्रियों का भगाना इनके द्वारा हो रहा है। यह इतना प्रसिद्ध है कि, इस विषय में किसी को कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। इन्होंने आज तक कितनी मूर्तियां तोडीं, मन्दिर गिराये, स्त्रियां भगायीं, धर्म के नाम पर कितने कतल किये, यह सब प्रसिद्ध बात है। बादशाहों के समय जो हुआ था, उसका नमूना इस समय में भी प्रचलित है और यह सब 'धर्म' के लिये ही किया जा रहा है!!!

ईसाई धर्मवाले इस समय शांति से कार्य कर रहे हैं, पर इन्होंने भी इस भारतवर्ष में आने पर इसी तरह की क्रूरता से अपना प्रचार का कार्य किया था। इस विषय में गोवा के मुख्य न्यायाधीश श्री० नोरोन्यजीने अपने 'गोमान्तक के हिंदु और पोर्तुगीज रिपब्लिक' नामक ग्रन्थमें विस्तार से वर्णन किया है। वह सब लोगों को देखनेयोग्य है। यह पुस्तक पोर्तुगीज भाषा में है और गोवा में मिलती है।

श्री० नोरोन्य ये गोवा के हायकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश थे, ये बडे भारी विद्वान् थे और इन्होंने गोवा सरकार के कागजात देखकर उनके आधार से

यह पुस्तक प्रकाशित की है। जो लोग ईसाई धर्म के प्रचार का खूनसे भरा क्रूर इतिहास जानने के इच्छुक होंगे, उनको यह पुस्तक देखनेयोग्य है। इस ग्रंथ में लिखे प्रत्येक विधान के लिये गोवा के सरकारी कागजात [Records] प्रमाण हैं, अतः ये लेख विश्वासपात्र हैं। इसलिये इस विश्वसनीय आधार से हम थोडासा नमूना यहां बताते हैं।

महाराष्ट्र में जहां जहां ईसाई हुए हैं, वहां हिंदू और ईसाइयों में एक-दो बातों का विलक्षण चिन्ह दीखता है। हिंदु शराब न पीनेवाले हैं, तो ईसाई विशेषतया शराब पीने के आदी हैं और हिंदुओं में उपदंशरोग का प्रमाण कम है, तो ईसाइयों में वह रोग अत्यधिक है। उपदंशरोग का नाम इस प्रांतमें 'फिरंगी रोग' है, अर्थात् पोर्तुगीजों या युरोपीयनों से आया रोग। यह रोग इनकी यादगार है। दक्षिण भारत में तो ईसाई धर्मके साथ शराब का भी खूब प्रचार दीखता है। किसी ग्राम में जाकर आप देखेंगे, तो आपको मालूम होगा कि, वहां यदि ईसाई होंगे, तो वे अधिकांश शराबी हैं। अस्तु। अब इनके धर्मप्रचार की क्रूरता देखिये—

सन १५४१ के जूनके ३० तारीख का गोवासरकार का फर्मान है, जिस में लिखा है कि— "इतने समय तक सैतान के आधीन यह भारतभूमि थी, वह अब आबादाके पिता की रोशनी में आ गयी है। इसलिये हे ईसाइयो! अब तुम हिंदुओं के सब मन्दिर तोडो और मूर्तियों का नाश करो।" इस तरह आज्ञा होते ही हिंदुओं के अनेक मन्दिर तोडे गये और खिस्ती मन्दिर हिंदुओं के खून से खडे किये गये।

गोवा सरकार के आधीन प्रांत में जो हिंदु थे, उनको प्रति मनुष्य विशेष कर देना पडता था। यह कर ईसाई होनेपर माफ होता था। पिता की जायदाद हिंदू कानून के अनुसार प्रत्येक भाई को बांटकर मिलती थी, पर इन ईसाइयोंने ऐसा कानून किया कि, पिताकी जायदाद उस पुत्रको मिलेगी,

कि, जो ईसाई बनेगा। जो हिंदु रहेगा, उसे कुछ जायदाद मिलेगी नहीं। यह है ईसाईयों का न्याय ! इस तरह हिंदुओं की जायदाद ईसाईयों को मिलने लगी !!!

सन १५४६ मार्च ता० ८ के दिन एक फर्मान जारी हुआ, इस का आशय यह था-

'गोवाके प्रदेश में जो मूर्तियां होंगी, उन का नाश करो, हिंदुओं के मन्दिर तोड दो, हिंदुओंके उत्सव बंद करो, ब्राह्मणों को देशसे बाहर हकाल दो, मूर्ति की जो पूजा करेगा, उसको बडे में बडा कठोर दण्ड दो, किसी राज्य के अधिकारपर हिंदु को रहने न दो, ओहदेदारोंके स्थानोंपर ईसाइयों को ही रखो, जिस तरह हो सके उस तरह यत्न करके हिंदु-धर्मका उच्छेद करो।' इस तरह के गोवा-सरकार के फर्मान थे और वहांके ईसाई अधिकारी ऐसा ही करते थे।

पोर्तुगीज सरकार हिंदुओं से कर्जा लेती थी और पश्चात् उस के वापस करनेके समय यदि वे ईसाई बनें, तब ही वह वापस किया जाता था, नहीं तो नहीं, अर्थात् हिंदुओं को कर्जा वापस नहीं मिलता था।

सन १५४८ में दो-क्रे-दुर्वायद आल्बुकर्कने हिंदुधर्म का उच्छेद करनेके लिए हिंदुओंके धर्मग्रन्थ जमा करके वे जला देने का कार्य, जोरशोर से चलाया था। इसने हजारों ग्रन्थ जलाकर भस्म कर डाले। स० १५५७ के पश्चात् यदि कोई गोवा सरकार के राज में ओहदेकी जगह पर हिंदू दीख पडा, तो उसकी सब जायदाद सरकार में जमा होती थी। यदि उसने ईसाई धर्म का स्वीकार किया, तो ही उसको वह सब धन वापस मिलता था।

सन १५५९ के मार्च महिने के २५ वे तारीख की सरकारी आज्ञा यह है- "[१] हिंदुओं के मन्दिर तोडे जायँ, [२] सब मूर्तियाँ नष्ट की जायँ,

[३] इसके आगे मूर्ति का उत्सव हिंदु न करे, [४] किसीने अपने खानगी जगह में किसी मूर्ति का उत्सव किया, तो उसकी सब जायदाद जप्त की जायगी और उसको जबरदस्ती जहाजपर काम करनेके लिए रखा जायगा।"

इसी साल में जोलाई मास में ईसाइओं को जमीन का टैक्स माफ किया गया और वह कर हिंदुओं से वसूल करने की प्रथा जारी हुई। स०१५६० में गोवा से सब ब्राह्मणों को देश से बाहर हकाल दिया और उनकी जायदाद ईसाइयों को दे दी गयी और ब्राह्मणों को जहाजोंपर काम करने के लिए जबरदस्ती से बाधित किया।

स० १५६० जून के ता० ८ दिन गोवा-शहर और द्वीप से सब सुनारों को शहरबदर कर दिया और उनकी सब जायदाद जप्त करके ईसाइयों को दी गयी। यह इसलिए किया कि ये सुनार हिंदुओं के लिए मूर्तियां बनाते थे!! सन १५६३ के नवंबर मास की २७ तारीख को निम्नलिखित आज्ञा गोवा के पोर्तुगीज सरकारने की " पोर्तुगीज राज्य में जो हिंदु हैं, उनको उचित है कि वे अपनी सब जायदाद ईसाइयों को बेच दें और राज्य के बाहर चले जायें। ऐसा जो नहीं करेंगे, उनकी सब जायदाद जप्त की जायगी और उनको आजन्म सश्रम कारावास में रखा जायगा।" यह आज्ञा ब्राह्मण और सुनारों के लिये थी, अन्य जातियों के लिये किसी अंश में इस तरह सख्ती नहीं होती थी।

इसी वर्ष निम्नलिखित आज्ञा गोवासरकार की हुई थी- ' रविवार के दिन जब ईसाई लोग ईसाईमन्दिर में प्रार्थना करने लगेंगे, उस समय १५ वर्ष से अधिक आयु के हिंदु को उपस्थित होना चाहिये, जो नहीं आवेंगे, उनको व्यापारधंदा करने की आज्ञा नहीं मिलेगी।'

सन १५६७ के दिसंबर के ता० ४ के दिन निम्नलिखित आज्ञा प्रगट हुई- ' हिंदु अपने घरमें हिंदुधर्म के ग्रन्थ न रखे। हिंदुके ब्राह्मण प्रवचन, हरिकीर्तन करने लगेंगे, तो वहां किसी हिंदु को नहीं जाना चाहिए। जो

अत्याचार करके भी अपने धर्म का प्रचार और अन्य धर्मियोंपर अत्याचार करने का साहस बढ़ता है।

इन दोनों धर्मवालों में ऐसा सुदृढ़ विश्वास है, इसीलिए अत्याचार करने की ओर इनकी प्रवृत्ति बढ़ी है। हिंदूधर्मियों का विश्वास ऐसा है कि, सब धर्मवाले अपने धर्म में रहते हुए अच्छा कर्म करने से मुक्त अथवा उन्नत हो सकते हैं। ऐसा भाव हिंदुओं में रहने के कारण हिंदुओं में समभाव तथा अन्य धर्ममतों के विषय में सहिष्णुता बढ़ गयी और अत्याचार की प्रवृत्ति कम हुई। जैन बौद्धों के मतों में भी ऐसी ही समभावना है, क्योंकि ये सदाचार पर बल देनेवाले धर्म हैं। पर ईसाई और मोहमदीय धर्म विश्वासप्रधान धर्म हैं, इसलिए अन्धविश्वास बढ़ाने में कारण हुए हैं, और अन्धविश्वास बढ़नेपर अत्याचार होना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर तीसरे आसमान में है

ईसाई और मोहमदीय धर्म में एक ईश्वर की पूजा है। मोहमदीय धर्म में तो 'एक ही ईश्वर है दूसरा नहीं,' ऐसा विशेष बल देकर कहा है। वह ईश्वर तीसरे आसमानमें है। ईसाइयों का ईश्वर अपने पूजनीय ईसा को पृथ्वीपर भेजता है। मोहमदीयों का ईश्वर अपने धर्मदूतको— पूजनीय पैगंबर को पृथ्वीपर भेजता है। पृथ्वीपर के सब लोग इन प्रेषितों पर पूर्ण विश्वास रखें। इस विश्वास से ही इन सब मानवों का तारण होनेवाला है।

इन धर्मों के अनुसार देखनेसे पता लगता है कि, जो इन प्रेषितोंपर पूर्ण विश्वास रखता है, उसीका तारण होता है। यहां मुक्ति, ईश्वर की प्राप्ति, अनुष्ठान से पूर्णत्व को प्राप्त करना आदि कुछ भी नहीं है। ईसाइयोंके मत से हजरत ईसा पर ही विश्वास रखना अनिवार्य है। यदि किसी ईसाईने हजरत मोहमद पर विश्वास रखा, तो उस का तारण होने की संभावना

ईसाई मत के अनुसार नहीं है। इसी तरह मोहमदीय मत के अनुसार हजरत मोहमद पर ही विश्वास रखना अनिवार्य है। इनके मतानुसार हजरत ईसापर विश्वास रखनेवालोंका भी तारण नहीं हो सकता। दोनों मत करीब करीब एक ही हैं, तथापि परस्पर के पैगंबरों के विषयमें भी इनमें उदार भाव नहीं दीखता है, यह आश्चर्य की बात है!!

एक ईश्वर है, ईश्वर का प्रेषित ईश्वर की आज्ञा लेकर आता है और जो वह संदेश कहता है, वही ईश्वर की आज्ञा है। इस तरह (१) ईश्वर, (२) प्रेषित और (३) ईश्वराज्ञा पर विश्वास रखना इन के लिए अनिवार्य है। जैसा यह ईसाइयों का मत है, वैसा ही मोहमदीयों का भी ऐसा ही मत है।

ईसाई ऐसा कहते हैं कि, हजरत ईसा के पूर्व सहस्रों पैगंबर आ गये थे। मानव-मन अल्पज्ञ था, उस समय कुछ संदेश दे गये। अब मानवमन संस्कारसम्पन्न हुआ है, इसलिए आकाशस्थ प्रभुने हजरत ईसा को भेजा और यह अन्तिम पैगंबर है, अर्थात् इस के पश्चात् कोई पैगंबर नहीं आवेगा। हजरत ईसा के पश्चात् पैगंबर का भेजना ईश्वरने बंद किया है। जो भी कुछ अन्तिम संदेश भेजनेयोग्य था वह हजरत ईसा के द्वारा भेजा गया है। इसलिए हजरत ईसा के पश्चात् कोई ईश्वर का वार्ताहर नहीं आवेगा।

ठीक ऐसा ही मोहमदीयों का कहना है। हजरत ईसा तक जो आये, वे बारा मानवों को संदेश देते रहे। अब मानव संस्कारसम्पन्न हुए हैं, इसलिए आकाशस्थ प्रभुने हजरत मोहमदसाहब को भेजा। यही अन्तिम पैगंबर है। परमेश्वर का अन्तिम शब्द इन्होंने लोगों को दिया है। अत इन्हीं पर विश्वास रखने से मानवों का तारण होगा। पूर्व के संदेश अपूर्ण हैं, इसलिए उन पर विश्वास रखने से अब तारण नहीं होगा।

उक्त प्रकार दोनोंका एक जैसा ही कहना है। इन मोहमदीयों में अब हालमें पंजाब में ह० मिर्झा कादियानी नाम के एक नये पैगंबर हुए हैं। वे भी ऐसा ही कहते हैं और अपना संदेश ये पंजाब में सुना रहे हैं। इनके बहुत अनुयायी हो रहे हैं।

इस तरह इनके कथन से अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होता है, पर इसकी पर्वाह इनको नहीं है। हजरत ईसाने कहा कि, मैं अन्तिम पैगम्बर हूं, मेरे पीछे कोई नहीं आवेगा। हजरत ईसा ईश्वरपुत्र होनेसे इनका वचन माननीय होना चाहिये। पर इनके पश्चात् हजरत मोहमदसाहब आ ही गये। और ये ईश्वर से नया संदेश लाये। इन्होंने भी वैसा ही कहा कि मेरे पीछे कोई नहीं आवेगा। ये ईश्वर के प्रेषित होने के कारण इन का वचन सत्य मानना चाहिए, पर इनके पश्चात् हजरत मिर्झा कादियानी आ गये और वे अपने आप को अन्तिम संदेशहर बता रहे हैं।

इस तरह इन के पैगंबर एक दूसरे को असत्य साबित करते जाते हैं! इस का विचार इनको अवश्य करना चाहिए!

ईश्वर की दूरता

इनके जो प्रतिपादित मत हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, इनका ईश्वर बहुत दूर है, तीसरे या पांचवे आसमान में है। आकाश में वह रहता है और वह अपने प्रेषित से ही वार्तालाप करता है। वह प्रभु मानवों से बोलता नहीं और मानवों की बातें स्वयं सुनता नहीं। मानव चाहें तो प्रेषित पर विश्वास रखें और केवल विश्वास रखने मात्र से ही उनका तारण होगा। पर प्रभु के साथ वे वार्तालाप करना चाहेंगे, तो वैसा होना सम्भव नहीं है।

जिस तरह कोई बड़ा बादशाह स्वयं किसी प्रजाजन से वार्तालाप करता नहीं, प्रजाजनों की पहुंच छोटेछोटे ओहदेदारों से ही होती है। इसी तरह

यह प्रभु बादशाहों का भी बादशाह है। वह सदा आकाश में ही रहता है। जब पैगम्बर चाहता है, तब वह अपने अनुयायियों की शिफारस प्रभु के पास करता है और उस की शिफारस प्रभु के पास रुजू होती है। इस तरह शिफारस का महत्त्व इन मतों में होने से व्यक्ति के सदाचरण का महत्त्व यहां कुछ भी नहीं है। पैगंबर की शिफारस नहीं हुई, तो व्यक्ति कितनी भी सदाचारिणी हुई, तो उसकी प्रभुके पास पहुंच नहीं हो सकती।

इन का प्रभु आकाश में ही ऊँचे से ऊँचे स्थानपर रहता है। वह कभी मानवोंके पास आता नहीं। न मानव इनके साथ साक्षात् अपने दुःखों के विषय में कुछ कह सकते हैं। इस तरह का संबन्ध रहने से इस संबन्ध को पितापुत्र का संबंध कहना मुश्किल है। यदि इनका और मानवों का पितापुत्रसंबंध माना जाय, तो पिताके साथ बोलने के लिए पुत्र को बीचमें वकील रखने की क्या आवश्यकता है? पिता भी अपने पुत्रों के साथ बात-चीत करने के लिए बीचमें मध्यस्थ चाहता है, स्वयं अपने पुत्र को उठा-कर अपनी गोद में अथवा हाथों में नहीं लेता। निःसंदेह इस में दूरता का संबंध है। प्रबल बादशाह और गरीब, दीन प्रजा जैसा यह संबंध प्रतीत होता है।

ईसाइयों का पवित्र ग्रन्थ बायबल और मोहमदीयों का पवित्र ग्रन्थ कुरान-शरीफ है। ये परमेश्वरी संदेश के ग्रन्थ माने जाते हैं। पर इतिहास ऐसा है कि, ये ग्रन्थ उक्त पूजनीय पैगंबरों के बाद सौ वर्षों के संग्रहित किये गये हैं। उन पैगंबरों के सामने ये ग्रन्थ इस क्रम से नहीं बने थे। तथापि इस समय दूसरा कुछ भी साधन नहीं है, इसलिये इन धर्मों के ये ही माननीय ग्रन्थ है, ऐसा ही मानना युक्त है।

परमेश्वर सुदूरवर्ती तृतीय आकाश में है और जो पैगंबर पर विश्वास रखेंगे, उनका ही तारण हो सकता है। यह इन के धर्म का सार है। दोनों

पैगंबर समानतया पूजनीय हैं, पर एक धर्मवाले, दूसरे पैगंबर पर विश्वास रखेंगे, तो उनका तारण नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि वैयक्तिक सदाचार का यहां कुछ भी महत्त्व नहीं है। यदि वैयक्तिक सदाचार का महत्व होता, तो सदाचारी मानव अपने सदाचार के बल से ही अन्तिम उन्नति को प्राप्त कर सकता। पर केवल अपने सदाचार के बल से उन्नति की सम्भावना इन धर्मों में नहीं है। बिना पैगंबर की शिफारस के कोई मानव केवल अपने सदाचरण के पुण्य से इन के स्वर्ग में नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, परन्तु सदाचारी मोहमदीय सज्जन हजरत मोहमदसाहब की शिफारस के विना स्वर्ग में नहीं पहुंच सकता, तथा सदाचारी ईसाई हजरत ईसा की शिफारस के विना अपने स्वर्ग में नहीं पहुंच सकता। इन का प्रेषित दूसरेकी शिफारस नहीं करेगा और उन का प्रेषित इन की शिफारस नहीं करेगा। परन्तु यदि बन सका, तो दूसरे प्रेषित के अनुयायी को 'काफिर' कह कर नरकमें ही भिजवानेकी शिफारस करेगा, ऐसी इनकी धर्म की घटना है। इसीलिए इन की प्रवृत्ति अत्याचार की ओर होती है।

इनका ईश्वर तीसरे आसमान में रहता है, वहां उनको खबर नहीं होती कि, कौनसा मनुष्य क्या करता है। कौन सदाचारी है और कौन दुराचारी है। अपने प्रेषित की शिफारिस पर विश्वास रख कर मानवों को नरक में अथवा स्वर्ग में वह भेज देता है। पापपुण्य देखने का कोई प्रयोजन नहीं है। अपने पापपुण्यों का हिसाब देखने का और तदनुसार चूकभूल देखने का अधिकार किसी मानव को नहीं है। विश्वास रखनेवाला दुराचारी भी स्वर्ग के मजे से रहेगा और अविश्वासी नरक की अग्निज्वालाओं में सतत जलता रहेगा!!

इन के मतसे जन्म एक ही है। यह जीव बारंबार जन्म नहीं लेता। इस समय यह जीव जन्मको क्यों प्राप्त हुआ, ऐसा प्रश्न कोई नहीं पूछ सकता।

'प्रभु की इच्छा' इतनाही इस प्रश्न का उत्तर है, इस से अधिक पूछना अयोग्य समझा गया है। सृष्टि उत्पन्न होकर अनन्त समय व्यतीत हुआ, इतने समय में न आकर यह जीव इसी समय क्यों आया? इससे पूर्व क्यों नहीं आया? इस का उत्तर 'प्रभु की इच्छा' इतना ही है। यह प्रभु की इच्छा इस समय क्यों हुई और इसके पूर्व क्यों नहीं हुई, यह पूछना भी योग्य नहीं है, क्योंकि दीन मानव प्रभु की शक्ति के विषय में कुछ भी अधिक नहीं पूछ सकते।

'खुदा की इच्छा' से ही जीव निर्माण होते हैं और उन की मर्जी से ही शरीर धारण करते हैं। किसी की आयु एक दिन की और किसी दूसरे की आयु ८० वर्ष की क्यों होती है, इस का भी जवाब 'खुदा की मर्जी' ही है। इस को छोडकर दूसरा कोई जवाब देनेकी इनको आवश्यकता नहीं है। सब प्रश्नों का जवाब एक ही है।।

कई प्राणी गर्भ में मरते हैं, कई जन्मते ही मरते हैं, कई जन्म से रोगी होते हैं, कई जन्म से बलवान् और कई निर्बल होते हैं, कई दीर्घजीवी और कई अल्पजीवी होते हैं, कई जन्म से धनी और कई निर्धन होते हैं, कई वस्त्र अथवा दूसरे शांत रहते हैं। इस तरह विविध प्रकार के जो मानवों में और प्राणियों में भेद होते हैं, उन सब का एक ही उत्तर है और वह 'खुदा की मर्जी' ही है। मानव के पुण्यपाप को न देखते हुए एकदम यह खुदा मानवो को जैसी चाहे, वैसी परिस्थिति में डाल देता है। और वहां जन्म होनेपर उस को फलाने पैगंबर पर विश्वास रखकर ही अपना तारण होगा, इस का भी पता लगना चाहिए। न पता लगते हुए मृत्यु हुई, तो अनन्त काल तक नरकयातना भोगना आवश्यक ही है। दूसरी वार अपना आचरण सुधारने का अवसर भी मिलनेवाला नहीं है। कैसी भयानक समस्या मानवोंके सामने इन धर्मोंने उपस्थित की है, सो देखिये।

देखिये एक मानव का किसी स्थानपर जन्म हुआ, वहां इन दोनों पैगंबरोंमेंसे किसी का पता न लगा, तो उसके लिये यह आकाशस्थ परमेश्वर सीधा नरकका मार्ग बतावेगा। उनके सदाचारदुराचार का कोई विचार नहीं करेगा। यह कितना अन्याय है। मानवों की दृष्टिसे यह अन्याय होगा, पर इस प्रभु की दृष्टि से यही न्याय है और यही अन्तिम न्याय है!!

यदि यह प्रभु एकके पीछे दूसरा प्रेषित भेज देता, तो भी अच्छा होता। पर वैसी भी बात नहीं है। ईसाइयोंके मत से हजरत ईसाके आनेके बाद प्रेषितके आनेका द्वार बंद हो चुका है, और मोहमदीयोंके मतानुसार हजरत मोहमद के बाद प्रेषितके आनेका रास्ता बंद किया गया है। इसलिए आज उत्पन्न होनेवाले मानवोंको हजार दो हजार वर्षोंके पूर्व उत्पन्न हुए पैगंबर पर विश्वास रखना चाहिये। यह विश्वास अटल विश्वास चाहिये। विश्वास की डिग्री में किसी तरह न्यूनता नहीं रहनी चाहिए। प्रेषित के किसी उपदेश के विषय में थोडासा संदेह भी नहीं धारण करना चाहिए। इस तरह अन्धविश्वास बढाने के लिए ये धर्म कारण हुए हैं। इसी अन्धविश्वास से अत्याचार की ओर मानव की प्रवृत्ति हो जाती है।

अन्धविश्वासी लोग सतर्क रहनेवालों का द्वेष करते ही रहते हैं। द्वेष के पश्चात् अत्याचार होते ही हैं। इसी तरह जहां जहां ये धर्मपन्थ गये, वहां अत्याचार हुए हैं। इनके अत्याचारों की यह उपपत्ति है। ये स्वयं विचार नहीं करेंगे और विचार करनेवालों को भी सुविचार करने नहीं देंगे। क्योंकि इन मतों की जड में विचार के लिए स्थान नहीं है।

जैसे चाहे वैसे करनेवाले किसी सम्राट जैसा यह इनका आकाशस्थ प्रभु है। जो दिल में जैसा आता है, वैसा वह कर छोडता है। वहां कोई नियम नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं और किसी प्रकार कोई पूछनेवाला भी नहीं है।

ऊपर जो गोधाके अत्याचारों का वर्णन किया है, उन अत्याचारकर्ताओं का यह ख्याल था कि, आकाशस्थ प्रभुकी सेवाके लिये ही हम वैसा कर रहे हैं!! उनके विचार से यह बात निश्चित ही थी कि, इन अत्याचारों के करने से आकाशस्थ पिता प्रसन्न होगा! जिनका यह विश्वास मनसे होगा, वे ऐसे अत्याचार क्यों न करेंगे?

इनके मतसे प्रभु जीवोंकी उत्पत्ति करता है और उनको अपनी इच्छा के अनुसार निम्न या उच्च स्थानमें रख देता है। प्रभु सबको एक वार ही जन्म देता है। इस जन्म में वह पैगंबर पर विश्वास रख कर तर जाय या मर जाय। फिर दुबारा अवसर मिलनेवाला नहीं है!

इन मतवालों की संघटना अच्छी है, इसलिये इन की संख्या बढ रही है। विचार की कसौटी पर ये मत टिक सकते हैं, इसलिए ये रहे हैं, ऐसी बात नहीं है।

एकदेशी प्रभु

सब से प्रथम विचार यह आता है कि, इन का यह प्रभु एकदेशीय है, सर्वव्यापक नहीं है। इसलिए इनको सब का ज्ञान यथायोग्य रीतिसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। या तो प्रेषित से, पैगंबर के मार्फत अथवा देवदूतों के द्वारा जो कुछ इन के पास पहुंच जाता होगा, वही इन का ज्ञान है। सर्वव्यापक ईश्वर को सब ज्ञान तत्काल हो जाता है, वैसा एकदेशी प्रभु को हो ही नहीं सकता। सब स्थान में विद्यमान ईश्वर सब स्थान का ज्ञान तत्काल जानता है, क्योंकि वह हर जगह मौजूद है। पर जो सुदूर स्थान में, तीसरे आसमान में ही रहता होगा, जो पृथ्वी पर कभी आता ही नहीं, वह पृथ्वी पर के मानवों के सुखदुःख किस तरह जान सकता है? इसीलिए उसको अपने प्रेषितों के द्वारा पृथ्वी पर का सब कारोबार करना पडता है और जो दूसरों की सहायता से कारोबार करता है, उस के शासन में अनेक

दोष होना स्वाभाविक ही है। जैसे किसी एकदेशी राजा के राज्य में उस के एकदेशी होने से नाना दोष उत्पन्न होते है, वैसे ही नाना दोष इन के आकाश में रहने के कारण और पृथ्वी पर न आने के कारण होते हैं।

कोई एकदेशी सत्ता कितनी ही सामर्थ्यशाली हो गयी, तो सर्वसमर्थ नहीं हो सकती। वैसा ही इन केएकदेशी आकाशस्थ प्रभु के विषय में जानना योग्य है। कभी एकदेशी सत्ता सर्वव्यापक सत्ताके जितनी सामर्थ्य-शाली हो ही नहीं सकती।

सब मानवों के सब शुभाशुभ कर्मों को यथावत् जानना इन के लिए असम्भव ही है। इन का पूर्ण विश्वास प्रेषित पैगंबर पर रहता है और जैसी पैगंबर की सिफारिश होती है, वैसा यह कर छोडता है। यह इनकी ईश्वर की कल्पना है। जहां सब का अन्तिम न्यायनिर्णय होना है, वहां भी ऐसी ही अव्यवस्था है।

निर्णयका दिन

मृत्यु के पश्चात् भी एकदम निर्णय नहीं किया जाता। इन का 'निर्णय का दिन' इन्होंने एक निश्चित कर के रखा है। उसी दिन संपूर्ण मानव-जाति का निर्णय होना है। इसी दिन किसी को स्वर्ग और अन्यों को नरक प्राप्त होना है। तब तक मृत जीव या तो कबरों में चिरकालिक शांति का अनुभव करते रहेंगे, अथवा किसी अन्य स्थान पर रहते होंगे, तो वह स्थान प्रसिद्ध नहीं है। परन्तु निर्णय के दिन तक इन मतवालों को न स्वर्ग, न नरक ऐसी बीच की स्थिति में रहना पडता है। इस मध्य समय में विश्वासियों को स्वर्ग का आनन्द नहीं मिलेगा, न अविश्वासियों को नरक की सजा भोगनी पडेगी। दोनों प्रकार के जीव बीच में ही रहेंगे।

यह क़ियामत का दिन- यह निर्णय का दिन-अति समीप भी नहीं है।

पृथ्वी के प्रारंभ से या मानवजाति के उदय के काल से पृथ्वी की समाप्ति तक का यह काल है। इतने करोडों वर्षों के कालतक ये मृत जीव न स्वर्ग और न नरक, ऐसी बीचकी हवालात में रहते हैं! कैसी दुर्दशा है देखिए।

इनका कथन है कि, उस निर्णय के दिन सब जीव अपने देहों के साथ खडे होंगे और प्रभु उन सब का निर्णय करेगा। उस क्षण में कबरों के प्रेत उठकर खडे रहेंगे, यह भी इनका विश्वास ही है! और उसी समय सबको स्थायी स्वर्ग अथवा नरक मिलेगा, यह भी इनका विश्वास ही है। यह सब धर्म के मत विश्वास से ही मानने चाहिए। यहां सबको उचित है कि, वे अपने तर्क की शक्तिपर मुहर लगा देवें। यदि वे तर्क करेंगे और इस अव्यवस्थाको अव्यवस्था कहेंगे, तब तो उस तर्क से उनको निःसन्देह नरकवासही मिलेगा। जो तो गर्भ में मरते हैं, अथवा बालपन में मरते हैं, उन का विश्वास इनके पैगंबरोंपर रहना संभव ही नहीं। ऐसे जीवों के लिए शाश्वत नरक ही मिलता है। इस अन्दाधुंदी का कोई ठिकाना नहीं है। पर ये ऐसी ही अन्दाधुंदी मानते हैं!

जिनके प्रभु के पास ऐसी सिफारसें, अन्दाधुंदी, मर्जी जैसा व्यवहार करना, न्याय अन्याय न देखना, तथा गुणावगुणों की परीक्षा न करने की प्रथा है, उनके समाज और राज्यव्यवस्था में भी ये दुर्गुण आ गए, तो कोई आश्चर्य नहीं है। यूरोपमें ईसाई राजाओं के जितने अत्याचार इतिहास में प्रसिद्ध हैं और मुसलमानों की राजशासन पद्धति में जो अत्याचारी बादशाह हुए हैं, उन सब की उपपत्ति इनके इस स्वर्गीय राज्यव्यवस्था में दीखती है।

जिनके स्वर्गीय प्रभुके राज्य में प्रेषित की सिफारिश के विना कुछ भी कार्य नहीं होता, उनके राज्यशासन में भी बडे दारके बेटों की सिफारिशों से ही कार्य होते रहे, तो कोई आश्चर्य नहीं है। जिनके स्वर्गके प्रभुके राज्य

में किसी भी मानवको उसके कर्मों के अनुरूप न्याय तत्काल मिलना ही नहीं है, उनके पृथ्वीपर के राज्य में अन्याय हुए, तो क्या आश्चर्य है ? मर्जी में आए वैसा जिन का प्रभु बर्ताव करता रहता है, वैसा ही बर्ताव इनके बादशाहोंने किया तो उसमें कौनसा आश्चर्य है ? जैसा देवताओं का आचरण होता है, वैसा ही मानवों का आचरण होता है। इस नियमानुसार इन मतवालोंका आचरण होनेके कारण इनके बादशाह अत्याचारी हुए, इस में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है।

युरोपके ईसाई बादशाह और भारतके मुगल बादशाहोंके दरबार की 'पद्धति ' बादशाहकी मर्जी ' के नियमानुसार ही चलती थी। इसलिए युरोप में से बादशाहत जनताने हटायी और जानपद शासन की प्रथा शुरू की। इस प्रथामें भी कतलें और वैयत्तिक मर्जी की बातें प्रभावी हो रही हैं। यह बात इस समय के तानाशाहों के व्यवहारों से सिद्ध होती है। जबतक ये ईसाई आदि तानाशाही के मत इस भूमंडलपर रहेंगे, तबतक किसी न किसी तरह की तानाशाही रहेगी ही, क्योंकि उनके स्वर्गीय प्रभु की भी एक प्रकार की विलक्षण तानाशाही है। इसलिए इन मतों को माननेवालों में भी वही बातें स्थिर रूप से रहती हैं और बढती हैं।

जो धर्म के तत्त्व होते हैं, वे मानव के मनमें सुदृढ होते हैं और वैसा ही मानव बनता है और वैसी ही उस की संस्थाएं होती हैं। यह बात इन धर्ममतों के माननेवालों में सुस्पष्टतया दीखती हैं। प्रत्येक धर्ममतके जनता-पर ऐसे ही परिणाम दिखाई देते हैं। इसीलिए सब से प्रथम धर्ममत में परिशुद्धता अवश्य रहनी चाहिए, ऐसा जो कहा जाता है, उसकी सत्यता यहां स्पष्ट हो जाती है।

मानवोंमानवों में झगडे फिसाद हुए, अन्याय हुए, तो मानव कह सकते हैं कि, मानव की अल्पज्ञता के कारण ऐसे अन्याय हुए। पर परमेश्वर के

पास हमें न्याय अवश्य मिलेगा। पर जिनके परमेश्वर के दरबार में भी मर्जी, सिफारिश और अन्याय है, वहां की जनता में किस तरह आशा रह सकती है कि, मेरा न्याय अवश्य होगा? किस आधारपर ऐसे मतों में न्याय मिलने की आशा की जा सकती है? इसलिए ये मत परंपरया जनतापर निरुत्साह ही उत्पन्न करने के लिए कारण हुए हैं। और इनके समाज की और राज्यों की व्यवस्थाएं भी निराशा का वायुमण्डल बनाने के लिए ही कारण हुई हैं।

जहां सुदूरवर्ती ईश्वर को माना जाता है, वहां ऐसे ही भाव जनता में पैदा होंगे। जनता की सुधार की दृष्टि से ये मत, अर्थात् ईश्वर को सुदूर माननेवाले मत हानिकारक ही सिद्ध हुए हैं। केवल ईसाई और मोहमदीय ये दो ही मत ईश्वर को सुदूर स्थित माननेवाले हैं, ऐसा नहीं है। हिंदुओं में भी कई मत ऐसे हैं कि, जो ईश्वर को सुदूरवर्ती मानते हैं। हम इनका विचार आगे करेंगे। क्योंकि इन हिंदुओं के मतों में और इन अहिंदुओं के मतों में थोडा अन्तर है और यह अन्तर है, इसीलिए इनका हम स्वतंत्र स्थान में विचार करना चाहते हैं।

ईसाई और मोहमदीय धर्मों के आधारग्रंथ क्रमशः बाईबल और कुरान-शरीफ हैं। पर इन के इस समय के अनेक कुछ विभिन्न हुए हैं। इसी तरह बाईबल के पुराना और नया ऐसे दो विभाग हैं। इन दोनों के सिद्धांतों के विषय में बडा भेद है। सब ईसाई पुराने ग्रंथ को पूर्णतया नहीं मानते, नये विभाग को ही मानते हैं। पुराना ग्रंथ यहूदी धर्म का ग्रंथ है।

जाये और उसपर कोई भी टीका न करे। केवल मोहमदीय ही उक्त कार्य करनेका अधिकारी है। ऐसी घोषणा करके इन्होंने विचार का द्वार बंद किया है। ईसाइयों में इतनी कट्टरता नहीं है, वे विचार करने का मार्ग बंद करना नहीं चाहते, प्रत्युत विचार का उत्तर विचार से देना चाहते हैं। इसलिए इनके बायबल की तुलना वेद, उपनिषद् और गीतादि ग्रंथों से की जा सकती है और बताया जा सकता है कि, वेदकी रोशनी में ये ग्रंथ किस तत्वको दर्शाते है।

इस समय हमने इस लेख में यह बताया कि, इनके इस समय माने हुए सिद्धांतो के अनुसार [१] ईश्वर, [२] उस का स्थान, [३] उस का शासन, [४] उस का प्रेषित, [५] उस की सिफारिश, [६] विश्वास से तारण आदि जो बातें ये मानते हैं, उन से सदाचार की वृद्धि होना असंभव है, मानव की उन्नति की आशा मारी जाती है और सिफारिश के वश का इन में पुरस्कार होनेके कारण वैयक्तिक सदाचार का इनके मत मे कुछ भी महत्व नहीं रहा, जो मानवी उन्नति को रोकनेवाला है। इनके

सित हुए हैं। कई अन्य कर्मानुसार जीव की गति होती है, केवल विश्वास से तारण नहीं होता, ऐसा भी मानने लगे हैं। यह इन के मत का परिवर्तन थियासफीने जो वैदिक सिद्धांतो का प्रचार यूरोप में किया. उस का परिणाम है। कुछ भी हो, इस समय यूरोप में प्राचीन ईसाई मत नहीं रहा और वे क्रमपूर्वक वैदिक धर्म की ओर आ रहे हैं। हमने इस लेख में इन के वे मन्तव्य लिए हैं कि, जो इनके सर्वसामान्य ईसाई विद्वान् मानते आए हैं।

बाईबल में कई सिद्धांत वैदिक धर्म के सिद्धांतों के समान है। पर ईसाई विद्वान् वैसा नहीं मानते। उदाहरण के लिए [१] ईश्वर, [२] जीव [३] प्रकृति [त्रयं यदा विंदते ब्रह्ममेतत्। श्वे० उ०] ये तीनों मिलकर ब्रह्म है, ऐसा वैदिक सिद्धांत है। इन में प्रभु, त्रिस्त और पवित्र भूत ये तीन है, पर ये तीनों मिलकर एक ही हैं। ऐसा इनके ग्रन्थ में लिखा है, पर यह बात इनके ध्यान में नहीं आती। यदि वैदिक सिद्धांत के साथ मिलाकर इनके धर्मग्रन्थ का अध्ययन होगा, तो बहुत से इन के सिद्धांत सुस्पष्ट हो जायँगे।

ये अपने आपको एकदेववादी इस समय मानते हैं, पर इनके ग्रन्थ में ईश्वर से भिन्न अनेक देवताओं [Gods] का वर्णन है। एक ब्रह्मके साथ ३३ देवताएं जैसी वेदादि ग्रंथ में है, वैसा ही उल्लेख इनके ग्रंथ में अस्पष्टसा है। पर वे इस शास्त्रसिद्ध बातको भी नहीं मान रहे हैं। इस तरह अनेक सिद्धांतों के विषय में विचार करना योग्य है।

बाईबल और कुरानशरीफका मनन वेद तथा उपनिषदों के साथ किया जायगा, तो सत्य धर्मतत्त्व का नि.सन्देह ज्ञान होने की संभावना अधिक है। परन्तु दु.ख की बात यह है कि, मौहमदियोंने थोडे दिनोंके पू र्व ऐसा घोषित किया है कि, कुरानशरीफ का ग्रन्थ कोई भी अन्यधर्मी

छापे और उसपर कोई भी टीका न करे। केवल मोहमदीय ही उक्त कार्य करनेका अधिकारी हैं। ऐसी घोषणा करके इन्होंने विचार का द्वार बंद किया है। ईसाइयों में इतनी कट्टरता नहीं है, वे विचार करने का मार्ग बंद करना नहीं चाहते, प्रत्युत विचार का उत्तर विचार से देना चाहते हैं। इसलिए इनके बायबल की तुलना वेद, उपनिषद् और गीतादि ग्रंथों से की जा सकती है और बताया जा सकता है कि, वेदकी रोशनी में ये ग्रंथ किस तत्वको दर्शाते हैं।

इस समय हमने इस लेख में यह बताया कि, इनके इस समय माने हुए सिद्धांतों के अनुसार [१] ईश्वर, [२] उस का स्थान, [३] उस का शासन, [४] उस का प्रेषित, [५] उस की सिफारिश, [६] विश्वास से तारण आदि जो बातें ये मानते हैं, उन से सदाचार की वृद्धि होना असंभव है, मानव की उन्नति की आशा मारी जाती है और सिफारिश के तत्त्व का इन में पुरस्कार होनेके कारण वैयक्तिक सदाचार का इनके मत में कुछ भी महत्त्व नहीं रहा, जो मानवी उन्नति को रोकनेवाला है। इनके मन्तव्यों से क्रूर बादशाही शासन ही प्रचलित हो सकते हैं और इनके मत से [Constitutional Government] वैध सरकार की उन्नति कभी नहीं हो सकती। ईश्वर का पितृत्व और सब मानवों का बन्धुभाव यद्यपि ये शाब्दिक रीतिसे मानते हैं, तथापि परमेश्वर के प्रेषितपर विश्वास रखनेपर इतना बल ये देते हैं कि, उस कारण उक्त दोनों ही बातें स्वयं उड जाती हैं। इसलिए मानवी उन्नति का हेतु जिन के सामने होगा, उन को सुदूरवर्ती परमेश्वर को मानने और मध्यस्थ की सिफारिश से कार्य करनेवाले सिद्धांत पर प्रेम रखना असंभव है।

हिंदुओंमें भी सुदूरवर्ती ईश्वर को माननेवाले धर्मपंथ हैं। इनका विचार अब हम करते हैं।

---

(४)

शैव, वैष्णव, लिंगायत, आदि अनेकानेक पन्थों को इस विचार के लिये हम लेते हैं।

मुख्य बात

यहां सब से प्रथम हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि, यद्यपि इन धर्ममतों मे उस उस विशिष्ट लोक मे उन का ईश्वर रहता है, ऐसा माना है, तथापि इन धर्ममतों के ग्रथों में सर्वव्यापक ईश्वर को अति स्पष्ट रूप से माना है। इन में से किसी भी धर्मपन्थ में एकदेशीय ईश्वरकी कल्पनाका स्वीकार नहीं किया है। इसीलिये हमने ईसाई और मोहमदीय धर्मों को इन मतों से पृथक् माना और पृथक् विचार करना योग्य समझा है। ये हिंदुधर्म के मत अपने ईश्वर को कितना भी सुदूर मानते हों, पर इनके धर्मग्रंथ इस ईश्वर को सर्वव्यापक अवश्य मानते हैं। और एक ही ईश्वर है, ऐसा भी मानते हैं। इसलिये जो परिणाम ईसाई आदि धर्ममतों के कारण समाजपर हुआ है, वह इन मतों के कारण नहीं हो सकता। इतना मुख्य भेद सबसे प्रथम बताकर इनके मतोंकी समीक्षा हम करते हैं।

शैव

शैव लोग शिव नामक ईश्वर को मानते है और वह कैलास में रहता है, ऐसा समझते है। इन के उपासक जीव मरण के पश्चात् कैलास में जाते है।

वैष्णव

वैष्णव लोग विष्णु को ईश्वर मानते हैं और वैकुण्ठ में विष्णु का निवास है, ऐसा समझते हैं और इनके उपासक वैकुण्ठ में मरणोत्तर पहुचते हैं, ऐसा इनका विश्वास है।

शैव लोग प्रायः अद्वैत माननेवाले हैं, अर्थात् ये जीव और शिव का

अभेद मुक्ति में होता है, ऐसा मानते हैं। यद्यपि ये उपासना अथवा साधनाकाल में द्वैत मानते हैं, अर्थात् जीवेश्वरभेद मानते हैं, तथापि मुक्ति में जीव-शिव का अभेद होता है ऐसा मानते हैं।

वीर वैष्णव प्रायः कट्टर द्वैतपन्थी हैं। इनका जीव और ईश्वर का भेद मुक्तिमें भी स्थायी रहता है, अर्थात् मुक्त होने पर भी, जीव को विष्णु का रूप प्राप्त होने पर भी, मुक्त जीव ईश्वर के रूप में लीन नहीं होता, परन्तु वह ईश्वर की सेवा करता हुआ, ईश्वर से पृथक् ही रहता है। द्वैती लोग जितने आग्रह के साथ पृथक् सत्ता मानते हैं, उतनी कट्टरता शैवों में कभी नहीं थी। इन वैष्णव द्वैतवादियों के प्राचीन आचार्य श्री मध्वाचार्य नाम से सुप्रसिद्ध हैं। अद्वैतवादी शंकराचार्यजी के साथ इनका इतना विरोध है कि इन्होंने ऐसा लिख रखा है कि, जीव का ईश्वर के साथ अभेद मानने के कारण श्रीशंकराचार्यजी का स्थायी रूप से नरकवास ही होनेवाला है, कभी उन का उत्थान नहीं होगा।

श्रीशंकराचार्यजीने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया, वह ईश्वरके विरुद्ध बड़ा घोर अपराध हुआ है ऐसा श्री मध्वाचार्यजी का मत है। इन के मत से जीव सदा ही ईश्वर से पृथक् रहेगा और मुक्त होने पर भी वह ईश्वर-सेवा ही करता रहेगा। कभी ईश्वरमें मिल जानेकी सम्भावना नहीं है।

वीरशैव — लिंगायत

शैव-वैष्णवों के मतों में इतना अन्तर है। इस से भी लिंगायत मतकी विचित्रता है। यद्यपि लिंगायत मत में शिवनामक ईश्वर को मानते हैं, तथापि लिंगायतों के पंडित जिनको 'जंगम' कहा जाता है, वे शिवजी को अपना शिष्य मानते हैं और मृत मनुष्य के गले में एक चिट्ठी बांध देते हैं, उसमें शिवजी के लिये एक पत्र लिखा रहता है, जिस में निम्न लिखित मजमून रहता है—

' हे शिष्य शिव !

' यह जीव कैलास में रहने के लिये भेजा है। इस के लिये इस तरह से सुखसाधन कैलास में दे देना। इस में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होनी चाहिये।'

हस्ताक्षर जंगम का

इस तरह जगदीश को शिष्य कहने का साहस ये करते हैं और वहां की बैंक पर यहां से चेक देते हैं, जो मृत के गले में बांधा जाता है। इस चेक के अनुसार मृत जीव को शिवलोक में उपभोग के लिये शिवजी से यथा योग्य भोग मिलते हैं, ऐसा इनका रूयाल है।

यद्यपि ये शैव हैं, तथापि पहले लिखे शैव और ये वीरशैव इनके मन्तव्यों में बड़ा भारी अन्तर है। पहिले शैव अपने आप को 'शैव' कहते हैं और ये अपने आप को 'वीरशैव' कहते हैं। जैसे वैष्णवों में 'वैष्णव' और 'वीरवैष्णव' ऐसे भेद हैं, इसी तरह शैवों में भी 'शैव' और 'वीरशैव' ऐसे भेद हैं।

जो शैव हैं, वे शिव को ईश्वर मानते हैं, परन्तु लिंगायतमतानुयायी शिव को अपना शिष्य मानते हैं और मृत जीव की सहायता करने की उसे आज्ञा करते हैं। इनके मत में 'वसु' [जिस को ये बसवेश्वर या बसवेश्वर कहते हैं,] मुख्य उपास्य देव है। इन के मंदिरों में इसी 'वसु' की अर्थात् 'बैल' की अथवा 'नन्दी' की मूर्ति पूजी जाती है। इन के मत से सारी सृष्टि का कर्ता धर्ता हर्ता यही 'नंदी' है, अर्थात् ये नन्दी के पूजक हैं।

शैव शिवजी की पूजा करते हैं, वैष्णव विष्णु की पूजा करते हैं और लिंगायत नन्दी की पूजा करते हैं। शिव और नंदी कैलास में रहते हैं और विष्णु वैकुण्ठ में रहते हैं। इसी तरह गौवें तथा गोलोक में जाते हैं,

गणेश के भक्त गणेश के पास पहुंचते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके उपासक अन्यान्य देवताके लोक में मरनेके पश्चात् जाते हैं।

नाना लोक

यहां सब लोकों की गिनती करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि उदाहरण के लिये कुछ निर्देश करने की आवश्यकता है। ब्रह्माका ब्रह्मलोक, विष्णुका विष्णुलोक, शिवका शिवलोक, इन्द्र का इन्द्रलोक, वरुण का वरुणलोक जहां जल ही रहता है, इसीतरह चन्द्रलोक, यमलोक, पितृलोक आदि नाना देवताओं के नाना लोक हैं, जहां उन देवताओं के उपासक जाते हैं और अपने पुण्य का क्षय होने तक वहां रहते हैं और पश्चात् इस भूलोक में पुनः सुकृत करने के लिये जन्म लेते हैं। इस तरह नानालोकों की कल्पना की है।

चतुर्दश भुवन

सात लोक ऊपर और सात लोक नीचे ऐसे चौदह भुवन हैं, ऐसा भी कई ग्रंथों में कहा है। ऊपर के लोकों को सप्तस्वर्ग कहते हैं और नीचे के लोकों को सप्तपाताल कहते हैं। इस तरह चौदह मंजिलें इन्होंने मानी हैं और जैसा जिसका पुण्यभार होता है, वैसा मानव इनमें जाकर रहता है, ऐसा इनका ख्याल है।

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं ये सात नाम सात स्वर्गोंके हैं; भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्यलोक ऐसा भी इनको कहते हैं। इसी तरह अतल, वितल, सुतल, रसातल तलातल, महातल और पाताल ये सात पाताल हैं। सात स्वर्ग पृथ्वी के ऊपर ऊपर हैं और सात पाताल पृथ्वी के नीचे हैं। इस तरह चौदह भुवन हैं। इन सप्त-पातालों में नाग, सर्प, नक्र आदि लोग रहते हैं और राक्षसादिकों का

निवास भी इन ही लोको में हैं, ऐसा ये मानते हैं। गीता में इसी उद्देश्य से कहा है-

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥
(गी० ९।२५)

देवों का व्रत पालन करनेवाले देवोंको प्राप्त करते हैं, पितरों के पूजक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों के उपासक भूतों को जा मिलते हैं और मेरी उपासना करनेवाले मुझे प्राप्त करते हैं। यहां देवलोक, पितृलोक, भूतलोक और विष्णुलोक किन को मिलता है, उनका निर्देश है। इसी तरह अन्यान्य लोकों के विषय में जानना चाहिये।

यद्यपि सप्तस्वर्ग और सप्तपातालों की कल्पना में ये सब समा जाते हैं, तथापि पृथ्वीके ऊपर सात मंजिलें और नीचे सात मंजिलें नहीं हैं, यह बात अब सिद्ध हो चुकी है। इसलिए इन सात लोकों की कल्पना करने के लिए प्राकृतिक विरलता और घनीभवन के अनुसार नीचे और ऊपर सात प्रकारके लोक मानने की कल्पना कईयोंने प्रस्तुत की है। यह कल्पना थियोसफीने जनता के सामने रखी है। घन (Solid), द्रव (Liquid), वायुरूप (Gaseous) ऐसे ये तीन विभाग प्रत्यक्ष हैं। इससे भी अधिक विरल और चार विभाग मानकर सात लोकों की कल्पना इन्होंने की है और पातालों को भी ऐसी ही कल्पना की है।

यद्यपि यह कल्पना बडी रोचक है, तथापि इसमें सत्य का अंश बहुत ही कम है। पातालनिवासियों और स्वर्गनिवासियों के जो वर्णन पुराणों में हैं और वहांके स्त्रियों से शादियां करने का जो वर्णन है, वह सब देखने से इस कल्पना की अयथार्थता स्पष्ट हो जाती है।

पृथ्वीपर के लोक

ये भूविभाग तो पृथ्वीपर भी माने जा सकते हैं जैसे कैलास एक मानससरोवर के पास हिमाच्छादित पर्वत है, भूतान का नाम . भूतस्थान है, जिनका राजा शंकर प्राचीन काल में था, तिब्बत का ही नाम त्रिविष्टप है, जहां इन्द्र राज्य करता था, इसी के उपाध्यक्ष का नाम उपेन्द्र अर्थात् विष्णु है। इन्द्र और उपेन्द्र ये नाम अध्यक्ष और उपाध्यक्ष जैसे ही हैं। यही उपेन्द्र विष्णु है, जिसको नारायण इसलिए कहा जाता था कि, ये नरों में (नर-अयन) आया जाया करते थे। ब्रह्मदेश ही ब्रह्मा का लोक है, जहां इरावती नदी है। इसी तरह अप्सराएं, गधर्व, किन्नर आदि के स्थान भी हिमालय में ही हैं। किनौर देश ही किन्नर देश है। पाताल देश समुद्रसमतल देश का नाम है। आज भी चौदह ताल कौकण कहते हैं, यहां नागलोग रहते थे। आज भी नागोंके नामों की जातियां यहां इस कौकण में हैं।

इस तरह सप्तपाताल और सप्तस्वर्ग की कल्पना इसी भूमिपर देखी जा सकती है। इसका मुख्य प्रमाण त्रिपथगा गंगा है। यह स्वर्ग, भूमि और पाताल में बहती है, इसका अर्थ यह नदी तिब्बत, आर्यावर्त और समुद्रसमतल प्रदेश में बहती है, इतनाही है। इस गंगा के ये तीन पथ देखने से यथार्थ कल्पना तीनों लोकों के विषय में होना संभव है। वीर अर्जुन शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिये जीते जी त्रिविष्टप् में तथा कैलास में पहुंचा था, वहां साल छ मास रह कर इन्द्र से और शिवजी से अस्त्र लेकर आया था और उन्हीं के बल से कारवोंपर विजय भी पाया था। अर्थात् जीते जी त्रिविष्टप् में तथा कैलास में जाना संभव है, यह बात इससे सिद्ध होती है। आंखें खोलकर पुराणों का निरीक्षण करने से इसी पृथ्वीपर इन सब लोकों की स्थिति जानी जा सकती है जो इन मतवालों ने मरण के उत्तरकाल में

मान ली है। अस्तु, इस विषयको जैसा हमने ऊपर लिखा है, वैसा कोई माने या न माने। इसकी सिद्धता हम किसी अन्य लेख में करेंगे। यहां इतनाही लिखना है कि यद्यपि मूल में ये लोक पृथ्वीपर.ही थे, तथापि आगे जाकर मरणोत्तर दशा में प्राप्तव्य ये लोक हैं, ऐसा मानने में लोगों की प्रवृत्ति हुई और वही इस समय चली आ रही है। इसलिये हम भी इन लोकों के स्थाननिश्चय इस लेख में करना नहीं चाहते और इतनाही कह देते हैं कि शिव के उपासक कैलास में जाते हैं, विष्णु के उपासक वैकुण्ठ में पहुचते हैं, वीरशैव अर्थात् लिंगायत वसुलोक में जाते हैं और वहां उनकी सहायता शिव करता है, गोभक्त गोलोक में जाते हैं। ऐसा हम अपने विचार के लिये यहां इस लेख में मानते हैं।

विभिन्न स्थान

कैलास, वैकुंठ, वसुलोक, गोलोक, इन्द्रलोक, महल्लोक ये स्थान विभिन्न हैं, ऐसा इनका कथन है। जिस देवता का जो उपासक है, वही उस देवता के लोक में मरण के पश्चात् जा सकता है। शैव कभी वैकुंठ में नहीं जाता और वैष्णव को कभी शिवलोक में जाने की आज्ञा नहीं मिलती। इसी तरह अन्यान्य लोकों के विषय में जानना उचित है।

शिवदूत, विष्णुदूत, इस तरह प्रत्येक देवदूत पृथक् पृथक् हैं। इन दूतों में कभी कभी झगडे भी होते हैं और एक देव के दूतोंद्वारा पकडा जीव दूसरा देवदूत ले जाता है। इस तरह शिवदूतोंने यमदूतों को परास्त करके जीव को शिवलोक में ले जाने की अनेक कथाएं हैं। इन देवों का तथा इनके दूतों का आपस में समझौता नहीं होता है। इसी कारण इनमें इस तरह लडाइयां होती हैं।

देवदूत जिन को रखने पडते हैं, वे देव निःसंदेह एकदेशी हैं। यदि वे सार्वभौमिक होंगे, तो उनके हर स्थान में पहुंचनेके कारण दूतोंकी सहायता

की उनको कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। एकदेशी होने के कारण ही कौन जीव कैसा है, इसकी ठीक ठीक परीक्षा ये नहीं कर सकते और इसी कारण जीव को मरणोत्तर ले जानेके सम्बन्ध में इन दूतों में झगडे हो जाते हैं।

किसी दूत को यमदूत प्रथम पकडते हैं। पश्चात् उसके देह पर भस्म दीखने के कारण शिवदूत वहाँ पहुंचते हैं। वे यमदूतों को पीटते हैं, उस जीव को शिवलोक में ले जाते हैं। ऐसी कथाएं बता रही हैं कि, अल्पज्ञता के कारण उत्पन्न होनेवाले झगडों में ये देवदूत फंसे रहते हैं।

एकदेशी सत्ता के कारण जो अज्ञान उत्पन्न होता है, वह इस तरह इनमें दीखता है। जिस शिव, विष्णु, वसु, गौ आदि को जिस तरह इन्होंने माना है और कथाओं की रचना की है, उनको देखने से स्पष्ट पता लगता है कि, ये देव एकदेशी हैं। अतः उनको दूतों से सहायता लेनी पडती है और इसी कारण इनके दूतों में वैधमर्यादा, अधिकारसीमा, अमलदारी (Jurisdiction) के विषय में झगडे होना नितांत स्वाभाविक ही है।

जिस तरह ईसाई और मोहमदियों के ईश्वर तीसरे आसमान में रहते हैं, ठीक उस तरह ये भी देव अपने अपने स्थानों में रहते हैं। उन के जैसे देवदूत (फरिश्ते) हैं, वैसे ही इनके भी देव-दूत हैं। जिस तरह उनके प्रेषित की सिफारिश से जीव की पहुंच उनके ईश्वर के पास होती है, उसी तरह इन देवों के पास जाने के लिये 'गुरु' अवश्यमेव करना चाहिये तथा गुरु के वचन पर अटल विश्वास भी रखना चाहिये।

यहां अन्तर इतना ही है कि, ईसाई और मोहमदीय अपने एक ही प्रेषित पर विश्वास रखने की आज्ञा करते हैं, परन्तु शैववैष्णवादि पंथीय मतवाले अपने अनेकानेक गुरुओं के द्वारा तारण होना मानते हैं। अर्थात् किसीएक गुरुको ही यहां मानना नहीं है, पर जिस को चाहिए, उसको अपने मन की वृत्ति के अनुसार गुरु करो, यह उदार पद्धति यहां है। ईसाई

मोहमदीयों में हजारों वर्षों के पूर्व जन्मे पैगंबरों पर विश्वास रखने से तारण होता है, ऐसा मानने के स्थान पर यहां प्रत्यक्ष दीखनेवाला गुरु करो, उस से प्रश्न पूछकर अपनी तसल्ही करो, और अपनी मुक्ति का मार्ग सुधरो, ऐसा युक्तियुक्त मत यहां प्रतिपादन किया है।

दो या डेड हजार वर्ष पूर्व जन्मे गुरु पर विश्वास रखना कठिन है। ईसाई और मोहमदीय धर्मों में यही कठिनता है। यह कठिनता इन धर्ममतोंने दूर की और कहा कि, तुम इस समय के जीवित और जाग्रत गुरु के पास जाओ, अपने मन की शांति प्राप्त होने तक उन से प्रश्न पूछो और जिस समय तुम्हारी सब शंकाओं का समाधान हो जाय, तब तुम्हारा समाधान करनेवाले गुरुपर विश्वास रखो, वही तुम्हारा तारक होगा।

इस तरह ईसाई और मोहमदीयों के मतों की कठिनता इनमें नहीं है और आज के जीवित गुरु को प्राप्त करने की सुगमता इनमें है। यह बडा भारी भेद उन मतों में और इन मतों मे है। यह अन्तर कोई थोडा अन्तर नहीं है।

क्रमविकास

इन शैव वैष्णवादि मतोंमें जीवका सुधार होनेतक, मुक्ति प्राप्त होने तक पूर्ण उन्नति होने तक अनेक जन्म प्राप्त होते रहते हैं, यह भी युक्तियुक्त, आशादायी, उदासीनता को दूर करनेवाली उत्साहजनक बात है। ईसाई और मोहमदीय मतमें एक ही जन्म था, इस जन्म में प्रेषितों पर विश्वास रखा गया, तो तारण होगा, नहीं तो दोजख की अग्नि में जलना अनिवार्य है। यह जो भयानक अवस्था इन दो मतवालोंने जनता के सामने रखी थी, वह इन शैव वैष्णवादि मतों में नहीं रही। इन्होंने प्रति जन्म क्रमशः उन्नति मानी है और धीरेधीरे उन्नत होता हुआ, बीच में भूल भी हुई, तो सुधार करता हुआ यह जीव शनैः शनैः उन्नति के पथ से चलता है और

अन्त में एक दिन अपने लिये मुक्तिधाम में आनन्दपूर्ण स्थिति का अनुभव करता है ।

क्रमविकास की सम्भावना इन शैववैष्णवादि मतों में है, वह युक्तियुक्त, आशादायी, उदासीनता दूर करनेवाली और निःसंदेह उत्साहवर्धक है। निःसंदेह यह ईसाई आदि एक जन्मवादी मतों की अपेक्षा अधिक उपयोगी मत है।

क्रमविकास, अनेक जन्मों से सिद्धि का निश्चय, जीवित गुरु की प्राप्ति आदि बातें इन शैववैष्णवों के मतों में हैं और ये ईसाई आदि एक जन्म-वादियों से विशेष अच्छी हैं, इस में संदेह नहीं है।

कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धांत की भी उच्चता इन में है। जो जीव जैसा कर्म करेगा, वैसी उन्नति अथवा अवनति जीव की होती है, ऐसा इनका मत है। यह कर्म-सिद्धांत प्रत्येक को आशा देनेवाला है और उन्नति के पथ पर ले जानेवाला है। ईसाई और मोहमदीयों में कर्मसिद्धान्त के लिये विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि प्रेषित पर विश्वास रखने से ही वहां मुक्ति की सम्भावना है, कर्म के बल से कोई मुक्त नहीं हो सकता। पर शैववैष्णवोंके मतोंमें कर्म-सिद्धान्त को माना है और कर्मानुसार उन्नति मानी है।

प्रत्येक जीव शुभ कर्म करता हुआ उन्नत होता है, प्रति जन्म शुद्ध होता हुआ, मुक्ति का मार्ग काटता चलता है, यह कर्म का सिद्धान्त है। किसी जन्म में कुकर्म करता हुआ अवनत भी होता है। पर कुकर्म से दुःख और शुभ कर्म से सुख का अनुभव करता हुआ जीव, कुकर्मों का त्याग और शुभ कर्मों का अनुष्ठान करके उन्नति के मार्ग से चलता है और अन्त में मुक्तिधाम को प्राप्त करता है। इस तरह के कर्म के सिद्धान्त को ये मानते हैं।

रोचक कथाएं

यद्यपि कर्मसिद्धान्त का खण्डन करनेवाली कथाएं भी इनके ग्रंथों में हैं। जैसा कि– (१) किसी ने मरने के समय अपने पुत्र नारायण को पुकारा, तो मरते ही उसको स्वर्ग की प्राप्ति हुई। (२) किसी दुराचारी की मृत्यु हुई, मरने के समय सिर पर भस्म गिरा, इसलिये उसको कैलास में शिव दूत ले गये। (३) किसी दुराचारी को एकादशी के दिन उपवास हुआ और उसी दिन मृत्यु ने घेर लिया, उपवास के पुण्य से वह विष्णुलोक में आनन्द से रहनेयोग्य माना गया।

इस तरह की अनेकानेक रोचक कथाएं इनके ग्रंथों में हैं। इन कथाओंसे सदाचार का सिद्धान्त काटा गया है। दुराचारी से दुराचारी भी अल्प भी पुण्यकर्म न करता हुआ, भस्मधारण से अथवा उपवास से स्वर्गधाम प्राप्त करता है। ये कथाएं ऐसी ही पुराणों में बहुत हैं। पर शास्त्रज्ञोंने इन कथाओं को 'अर्थवाद' कहकर उनको सर्वथा प्रमाण माना नहीं है। अर्थवादात्मक कथाएं सर्वथा प्रमाण नहीं मानी जातीं। वे केवल इसलिये लिखी होती हैं कि, उनके द्वारा किसी सिद्धात की ओर जनता का मन आकर्षित होवे। जैसा उक्त कथाओं में ईश्वरके नाम का जप करना, उपवास करना, तथा भस्म धारण करना आदि। इन बातों की ओर जनता का मन खींचने के लिये इन कथाओं में अत्युक्ति की होती है। इसलिये ये कथाएं सत्य नहीं हैं, ये रोचक कथाएं हैं, अत इनको अर्थवाद मानकर इनकी मान्यता केवल रोचकता उत्पन्न करने तक ही मानना उचित है। इसलिये अत्युक्ति दर्शानेवाली कथाएं सब की सब अर्थवादात्मक हैं।

ऐसा मानने से कर्मवाद पर जो आघात इन कथाओं से हुआ था, वह दूर हुआ और अन्यत्र प्रतिपादित हुआ कर्मसिद्धान्त अबाधित हुआ। इस तरह शैववैष्णवों में कर्म से उन्नति होने की बात मानी है।

इतने विवरण से पाठकों के सम्मुख यह बात स्पष्ट हो गई है कि, इन शैव-वैष्णवों के मतों के अनुसार (१) उनके माने ईश्वर कैलास, वैकुंठ आदि स्थानों में रहते हैं, (२) इनकी उपासना करनेवाले साधक जीव उपास्य देव के निवासस्थान में मरण के पश्चात् पहुंचते हैं, (३) साधक जीव शुद्ध हुए, तो अपनी उपास्य देवता का साक्षात्कार करते हैं, (४) कर्म से चित्त की शुद्धि होकर वे ईश्वरप्राप्ति के योग्य बनते हैं, (५) तब तक पुनर्जन्म को प्राप्त होकर शुभ कर्म करते हुए उन्नति के भागी होते हैं, (६) बीच बीच में वे अपनी उन्नति की साधना का उपदेश देनेवाले गुरु को प्राप्त करते हैं और सुदृढ विश्वासपूर्वक अनुष्ठान करते हुए वे मुक्तिधाम का मार्ग काटते हैं, (७) मरणोत्तर जीव को उपास्य देव के लोक में ले जाने के लिये, देवदूत आते हैं और वे जीव को उसके प्राप्तव्य लोक में पहुंचा देते हैं।

ईसाई तथा मोहमदीय मतों में ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता था, वह इन शैव-वैष्णवादि मतों में होता है, उनके एक जन्मवाद के स्थान पर यहां अनेक जन्मवाद अथवा पुनर्जन्मवाद है, जो जीव को हौसला देता रहता है, उनके मत में कर्मसिद्धांत नहीं है, वह इन मतों में है, जो कर्मसे उन्नति होने के कारण पुरुषार्थ करने की प्रवृत्ति उपासक में बढने का सम्भव है। उनके मत में सहस्रों वर्षों के पूर्व जन्मे हुए पैगम्बर पर विश्वास रखना है, तो यहां जीते जागते, प्रत्यक्ष उपदेश देनेवाले गुरुपर विश्वास रखना है, ईश्वरसाक्षात्कार तथा अन्यान्य देवताओं के साक्षात्कारों के कारण अपने अनुष्ठानमार्ग का, उस की सत्यता का अनुभव भी यहां प्राप्त होता है। इस प्रकार ईसाई-मोहमदीय मतों की अपेक्षा यहां अधिक युक्तियुक्तता है, इस का अनुभव पाठक यहां कर सकते हैं।

चार मुक्तियां

सलोकता, समीपता, सायुज्यता और सरूपता ये चार क्रममुक्तिया हैं। मनुष्य क्रमपूर्वक उन्नत होकर अपने उपास्य देवता के लोक में प्राप्त होने योग्य पवित्र होता है, वह सलोकता नामक मुक्ति है। आगे अधिक पवित्र होकर वह देवता के समीप जाकर बैठनेयोग्य समझा जाता है और देवता के पास पहुचता है, यह समीपता नामक मुक्ति है। इसके पश्चात् वह देवता के साथ रहनेयोग्य बनता है और अन्त मे देवतास्वरूप बनता है, यह अंतिम मुक्ति है।

यह मुक्ति का क्रम मनुष्य के लिये अपनी साधना का विश्वास बढाने के लिये कारण होता है। किसी पर केवल विश्वास रखनेमात्र से तारण होनेकी जो कल्पना ईसाई आदि मतो मे है, उनसे यह चार प्रकार की मुक्ति की कल्पना और यह कर्मद्वारा साध्य होने की सम्भावना यहा मुख्य है।

मृत्युलोक

इतने विवरण से स्पष्ट होता है कि, इन मतों के मन्तव्य के अनुसार देवता का लोक किसी दूसरे स्थान पर है और यह मर्त्यो या मृयुलोक सब से नीचे है। यह मर्त्यलोक मृयु से व्याप्त है, दु ख से घेरा है, चिन्ता आदि विपत्तियों से परिपूर्ण है। इसीलिये यत्न करके यहा से सुकृत के सहारे देवता की कृपा से अमर लोक मे पहुचना चाहिये। यह भाव यहा स्पष्ट है।

इस मृयुलोक में रहना दु खकारक है, इसलिये देवता की उपासना करके शीघ्रातिशीघ्र यहा से छुटकारा पाना चाहिये। देवता के स्थान में पहुचना, देवता के समीप जाना, उनके साथ रहना और देवता जैसा ही बन जाना। इस में स्थान का तथा काल का अन्तर अवश्य है। इस मर्यलोक से देवता का लोक उपर है, यह दूरता स्थान से बतायी जा सकती है और अनेक जन्मजन्मातर मे उस देवलोक की प्राप्ति होती है, यह काल-अन्तर है।

य दोनों अन्तर इन मतों में स्पष्ट हैं। इस तरह की दूरता में ईसाई आदि मतों के साथ इन शैवादि मतों की समता है, परन्तु ईसाई आदि मतवाले अपने ईश्वर का इस जन्म में साक्षात्कार होने की संभावना मानते नहीं, परन्तु ये शैवादि मतवाले साक्षात्कार की सम्भावना मानते हैं और साक्षात्कार के लिये अनुष्ठान भी बताते हैं, तथा इस अनुष्ठान से फलाने फलाने को देवता का साक्षात्कार हुआ, ऐसा भी कहते हैं। अर्थात् ईसाई-मोहमदीयों का ईश्वर इस देह से अदृष्ट है, वैसा शैव-वैष्णवों का ईश्वर नहीं है। इनका ईश्वर विशेष अनुष्ठानके करने से उपासक को प्रत्यक्ष दीख सकता है। यही इनकी विशेषता है।

इस जन्म में भावना नहीं हुई, तो मृत्यु के समय तड़पने की नौबत टाली नहीं जा सकती। परन्तु शैव-वैष्णवों के मतों के अनुसार पुनर्जन्म है, इसलिये आशा है कि जो शुभ कर्म इस जन्म में नहीं हुए, वे शुभ कर्म अगले जन्म में करूंगा और साक्षात्कार करूंगा। यह आशा ईसाई आदि धर्म में नहीं है, वहां एक ही जन्म माना जाने के कारण अविश्वासी को नरकवास का भय मृत्यु के समय सताता रहता है।

अवतारवाद

शैव-वैष्णवादि मतवाले प्रायः अवतारवाद मानते हैं। अपना उपास्य देव नाना अवतार लेता है और मानवों में आकर रहता है, ऐसा ये मानते हैं। मानवों में मानवदेह धारण करके तथा अन्यान्य देह धारण करके धर्मानुकूल आचरण मानव को किस तरह करना चाहिये, यह उपदेश यह अवतार मानवों को प्रत्यक्ष दिखा देता है। शिवके ११ रुद्रावतार हुए हैं, विष्णु के दस या बत्तीस अथवा अधिक अवतार हुए हैं। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के भी अनेक अवतार यहां माने हैं।

मानवरूप में इस मृत्युलोकमें प्रकट होना ही अवतार है। शैव-वैष्णवादि

मत इस तरह के अवतारवाद को मानते हैं। इस से ईसाई आदि मतों की अपेक्षा इनके ईश्वर की यह विशेषता सिद्ध होती है। ईसाई आदि मतों का ईश्वर अपने तीसरे आसमानमें अकेला रहता है। न वह मानवों में आता है, न मानवों से बोलता है, न मानवों में रहता है, न वह मानवों को कुछ बताता है। यह अलगपन शैव-वैष्णवों में माने ईश्वर में नहीं है। यह ईश्वर अपने साक्षात्कारद्वारा, अवतार के द्वारा तथा स्वप्नदर्शनद्वारा मानवों में आकर रहता है, तथा मानवों के साथ अपना सम्बन्ध जोडता रहता है।

अवतार लेने के पश्चात् वह सौपचास वर्ष मानवों के साथ रहता है, धर्माचरण करता हुआ अपने आचारद्वारा जनता को आचार की शिक्षा देता है। साक्षात्कारद्वारा अपनी सत्ता का प्रत्यय करा देता है, तथा स्वप्न-दर्शनद्वारा क्षणमात्र अपनी सत्ता का अनुभव करा देता है। इस तरह यह शैवादि मतवालों का ईश्वर मानवों से दूर रहने का इच्छुक नहीं है। मानवों में रहता है, मानवों की सहायता करता है. मानव के शत्रुओं का नाश करता है, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों का नाश और धर्म की व्यवस्था मानवोंमें रह कर करता है।

इस कारण केवल सुदूर स्थान में रहनेवाले ईश्वर को माननेवालों के ईसाई आदि मतों में जो दोष उत्पन्न होते हैं, जो पूर्वलेखों में बताये हैं, उन दोषों को इस तरह इन्होंने दूर किया है। यद्यपि संपूर्ण दोष दूर नहीं हुए, परन्तु बहुत से दोष दूर हुए हैं। इस तरह ईसाई-मोहमदीय धर्मों की तुलना शैव-वैष्णवादि धर्मों के साथ पाठक कर सकते हैं।

शैव-वैष्णवों में अवतारवाद है, इसलिये ईश्वर इस पृथ्वीपर अवतार लेता है, इसीलिये वह प्रत्यक्ष होता है, यह सत्य है, परन्तु युगयुग में ही यह आता है। जैसा भगवान् रामचंद्रजी दस सहस्र वर्ष पूर्व आये थे और भगवान् श्री कृष्णजी पांच सहस्र वर्ष पूर्व आये थे। इस समय नहीं हैं।

इस समय हम इन अवतारों को साक्षात् नहीं कर सकते। पांच, दस, हजार वर्षों के काल का अन्तर यहां स्पष्ट है। इनका कथन यह है कि, ईश्वर का अवतार इस समय नहीं है, वह भविष्य में होनेवाला है। इस समय मानव पूर्वकाल के अवतारों की पूजा या सेवा करें, उनके चरित्र देखें और बोध प्राप्त करें तथा अपना आचरण सुधार लें।

यद्यपि यह शैव-वैष्णवों का ईश्वर अवतार लेकर मानवों में आता है, तथापि दो अवतारों में काल का अन्तर बडा रहता है। एक अवतार जाते ही दूसरा नहीं आता। इस कारण पहिला अवतार जाने के बाद काल का बडा अन्तर जानेके पश्चात् दूसरा अवतार होता है। इस कारण अवतार का प्रत्यक्ष दर्शन न होनेकी परिस्थिति इस बीचके समयमें रहती है और यह अपरिहार्य ही है।

इस कठिनता को दूर करने के लिये इन शैव-वैष्णवोंने यह उपाय निर्माण किया है कि, देवता की मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठापूर्वक स्थापना और पूजा करने से मूर्तिमें उस देवता का निवास होता है। अर्थात् श्रीरामचन्द्र-जी श्री कृष्णचन्द्रजी तथा अन्यान्य देवताएं प्राणप्रतिष्ठापूर्वक स्थापित होने पर जीवित जैसी समझी जाती हैं और उक्त देवताओं का निवास उन में होता है, ऐसा इनका ख्याल है और सर्वसाधारण जनता ऐसा मानती भी है। किसीने किसी मूर्ति का भंग किया, तो इसी कारण बडी खलबली मचती है। अस्तु। इस तरह मानने से इनकी देवता यहां इस पृथ्वीपर रहती है और अन्तःस्फुरण से उपासकों को सहायता देती है, ऐसा इनका कहना है।

दो अवतारों के बीच के समय में इस तरह से ईश्वर का सान्निध्य इनको मिलता है, ऐसा इनका ख्याल है। परन्तु जैसा श्री भगवान् रामचन्द्रजी के अवतार के समय तथा भगवान् श्रीकृष्णजी के समय उनका प्रत्यक्ष दर्शन

सर्वसाधारण को होता था, वैसा मूर्ति से नहीं हो सकता और जो कार्य अवतार के जीते जी हो सकता है, वह भी मूर्ति से हो नहीं सकता, इस में किसी को संदेह नहीं हो सकता। अर्थात् यह युक्ति यदि कुछ कर सकती है, तो आंशिक सहायता कर सकती है। अर्थात् अवतारवाद, ध्यान से साक्षात्कार, स्वप्न में दर्शन और मूर्ति की उपासना इन सब उपायों से यद्यपि ईसाई आदिकों की कल्पना की अपेक्षा इनका ईश्वर मानवोंके अधिक पास आया, तो भी इन उपायों से भी ईश्वर का नित्य सान्निध्य प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है, यह बात स्पष्ट है।

देखिये प्राय जो अवतार हुए, वे सौ सवासौ वर्ष जीवित रहे। उनके जीते जी मानवों के समान आचरण किया, वे मानवों में रहे, मानवों के साथ बोले, मानवों का हित करने के लिये उन्होंने प्रयत्न किये और पश्चात् चले गये। जैसा उस काल में ईश्वर का सान्निध्य जनता को प्राप्त हुआ, वैसा मूर्ति से नहीं हो सकता। मूर्ति से भावना का उद्दीपन होगा, परन्तु अवतार के समय जैसी सहायता जनता को प्राप्त हुई थी, वैसी मूर्ति से कदापि मिलती नहीं है।

ध्यान में साक्षात्कार और स्वप्न में दर्शन ये वैयक्तिक लाभ की बातें हैं। इनसे भी जनता के लिये कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। अर्थात् ईसाई आदि मतों में जो ईश्वर का साक्षात् दर्शन मिलने की सम्भावना ही नहीं थी, वह सम्भावना अवतार के साक्षात्कार और दर्शन आदि से निर्माण हुई, इस में संदेह नहीं है, तथापि यह अल्पकालीन ही सान्निध्य है, इससे सब जनता का सर्वदा लाभ नहीं हो सकता।

ईसाई मत के पूर्व यहुदी धर्म में मूर्तिपूजा थी। वह ईसाई-मोहमदीयों ने नहीं मानी है। शैव वैष्णवादि मतवाले शुरु से ही मूर्तिपूजक थे और अब भी हैं। मूर्तिपूजा को न माननेवालों की अपेक्षा अवतार-साक्षात्कार-

दर्शनमूर्ति आदि माननेवालोंने ईश्वर का सम्बन्ध मानवों के साथ अधिक जोड दिया है, इसमें संदेह नहीं है, तथापि सर्वकाल और सर्व स्थल में ईश्वर का सान्निध्य न तो ईसाई-मोहमदीयों के द्वारा प्राप्त हुआ है और नाही शैव वैष्णवादिकों के नन्तव्यों से मिला है।

ये सब अवतार भी अंशावतार हैं, पूर्णावतार नहीं हैं। इसलिये अवतार-काल में ईश्वरांश के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है। परिपूर्ण ईश्वरसे नहीं। परन्तु ईश्वरांश और पूर्ण ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न है- ऐसा माना जा सकता है, इसलिये ईश्वरांशदर्शन में किसी तरह दोष की सम्भावना नहीं है। इस में दूसरी बात यह है कि, मानव का इंद्रिय अंश का ही साक्षात्कार कर सकता है, कभी संपूर्ण का साक्षात्कार मानव किसी भी प्रत्यक्ष वस्तुका कर नहीं सकता। किसी वस्तु की ओर आप देखिये, आप उसके एक अंश का ही ग्रहण कर सकते हैं।

किसी अवस्था में संपूर्ण का दर्शन मनुष्य का नेत्र कर ही नहीं सकता। वृक्ष की ओर देखिये, आप उसके दोचार पत्ते ही देख सकेंगे, सब वृक्ष का साकल्य से ग्रहण करना असम्भव है। इसलिये ईश्वर के अंशका साक्षात्कार हुआ, तो किसी तरह दोष नहीं है। पर अंशावतार भी सदासर्वदा नहीं होते। इस कारण ईश्वरांश का भी सदासर्वदा दर्शन नहीं हो सकता, यह बडी भारी कठिनता इन मतों में रही है।

अस्तु। इस तरह इन मतों का आवश्यक विचार यहां हुआ, इस से निम्नलिखित सिद्धांत इन के मतों में हैं, यह ज्ञात हुआ-

१ शैव मतों में शिव, वैष्णवमत में विष्णु इस तरह इन सब मतों में एक ही प्रभु है। प्रत्येक के प्रभु का नाम विभिन्न है।

२ इसका रहने का स्थान कैलास, वैकुंठ आदि भी निश्चित ही है, यहीं यह रहता है।

३ इनके दूत इस मृत्युलोक में संचार करते हैं और मानवों की स्थिति देखते हैं।

४ यह प्रभु स्वयं कठिन समय उपस्थित होने पर अंशावतार लेता है और मानवों के शत्रुओं का नाश करके सज्जनों का पालन करता और धर्म की व्यवस्था करता है।

५ यह प्रभु ध्यान में अथवा स्वप्न में उत्तम उपासक को अपना दर्शन देता है, अथवा मूर्ति में रहकर भक्त की कामनाएं सिद्ध करता है।

६ उपासक शुभ कर्मों के द्वारा अपने चित्त को शुद्ध करता हुआ उन्नत होता है और इस प्रभु के लोक को साधक प्राप्त होता है और वहां चारों मुक्तियां क्रम से प्राप्त करता है।

७ इस मार्ग का साधन किसी गुरु की सहायता से साधक करता है और अपने लिये गुरु भी स्वयं अपनी इच्छानुसार पसन्द करता है।

८ एक जन्म में सिद्धि न हुई, तो अनेक जन्मोंमें प्रयत्न करता हुआ, वह सिद्धि को प्राप्त होता है।

९ किसी एक देवता का उपासक दूसरे देवता के लोक में जाकर नहीं रह सकता, जिस का जो उपासक है, वह उसी देवता के लोक में जाकर नरणोत्तर रहता है।

१० उस देवता के लोक को छोड़कर किसी अन्य स्थान में उस साधक को वह सुख नहीं मिलता, जो उस देवता के लोक में रहने से उस को मिल सकता है।

११ प्रत्येक जीव भिन्न है और हरएक अपने कर्म का फल पाता है।

इन मतों के ये सिद्धांत हैं। इन मतों में से प्रत्येक में कुछ [illegible]विशेषता है, पर उस विशेषता की ओर देखने की आवश्यकता हमें न[illegible] के सर्वसाधारण सिद्धान्त ये हैं। यहां ईश्वर को हम मृत्युलोक [illegible]

में ये मानते हैं। यह मृत्युलोक हीन, दीन, तुच्छ, मरणधर्मयुक्त, दुःखमय, क्लेशपूर्ण है और इनके देवता के स्थान इस के विपरीत अर्थात् सुखपूर्ण हैं, यह इन्होंने माना है। यह मृत्युलोक प्रभु से रहित है, यहां तो मृत्यु तथा दुःख ही है, इस को त्याग कर ही प्रभु के लोक की प्राप्ति से आनन्द मिलता है। यह इनके मत का तात्पर्य है।

ईश्वर को एकदेशी मानना, भूलोक को दुखमय मानना आदि सब बौद्ध-जैनों के मतों के भाव इन मतों में जैसे के वैसे ही हैं। अवतार लेकर जिस समय प्रभु नीचे उतरता है, तब वह इस लोक में रहता है, भाग्यवान् लोग ही इस अवतार के समय जन्म लेते हैं। जब वह चला जाता है, तब यह भूलोक प्रभुहीनसा हो जाता है। ऐसा इनका मत है।

ग्रन्थके सिद्धांत

इनके ग्रंथों में विष्णु को व्यापक देव, शिव को कल्याण करनेवाला देव माना है, इसी तरह अन्यान्य देवताओं के नाम एक ही ईश्वर पर घटाये हैं और ये सब नाम एक ही प्रभु के हैं, ऐसा लिखा है, तो भी सब व्यवहार इनके ऐसे होते हैं कि, जैसा ये सर्वव्यापक प्रभु को न मानने पर कर सकते हैं। इसलिये मूल ग्रंथकार के मन में 'एक ही ईश्वर है,' यह बात स्पष्टतया थी, परन्तु वह केवल लेखमें रही है, व्यवहारमें नहीं आयी। इसी तरह किसी भी देवता की भक्ति करो, वह एक ईश्वर की ही भक्ति होती है, यह बात इनके ग्रंथों में लिखी है, परन्तु यह भी ग्रंथ में ही रही है। व्यवहार में शैव-वैष्णवों के झगडे सुप्रसिद्ध हैं। वैष्णवों के घरों के मनुष्यों के नाम शैवों के देवों के नहीं रखे जाते, वैष्णव कभी शिव की भक्ति नहीं करेगा, इतना ही नहीं, परन्तु वह [illegible] का तिरस्कार ही करेगा। यह घृणित व्यवहार सर्वत्र जारी है।

मतमतान्तरके कलह

इन दोनों मतों मे भयानक कलह हुए, इसलिये इन मतवालों में एकता स्थापित करने के लिये दाक्षिण देश में 'हरिन्हर' के मंदिर खडे किये गये हैं। अर्थात् एक ही मूर्ति में 'विष्णु और शंकर' के रूप दिखाये हैं और उपासकों को यह बताने का यत्न किया है कि, दोनों रूप अर्थात् शिव और विष्णु मिलकर एक ही देव के रूप हैं। इस हरिहर की मूर्ति के निर्माणकर्ता का हेतु अच्छा था, अनेक विभिन्न संप्रदायों में एकता स्थापित करने का उनका विचार था, पर वह बात इस मूर्ति से बनी नहीं है। अब भी वैष्णव इस मंदिर मे गये, तो वे शिव के अंग को अपनी पूजाके उपचार देते नहीं, यहां तक कट्टरता इन में है। अर्थात् ग्रन्थकार का एकता की स्थापना करने का हेतु सफल नहीं हुआ।

भेदका मूल सिद्धांत

प्रत्येक जीव विभिन्न है, प्रत्येक का कर्म भिन्न है, प्रत्येक की उन्नति अलग अलग होनी है। इस तरह हरएक मनुष्य अन्यों से विभिन्न है। किसी का किसी अन्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सिद्धांत सुस्थिर होने के कारण स्वार्थी भाव बढ गया है, मैं अपना हित देखूंगा, दूसरों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ऐसा वैयक्तिक भिन्नता का भाव बढ गया है। यही "विश्वकलह की जड" है। उपास्यभेद, साधनभेद, जीवभेद, मतभेद आदि अनेकानेक भेद ही बढ गये हैं, वास्तव मे ये सब असत्य ही हैं। पर ये इनके मतों के कारण बढ गये हैं। और इस कारण मानवों के सब व्यवहार इसी 'भेद' के आशयपर स्थिर हुए हैं। अत. ये भेदाश्रित आचार दुःख को बढानेवाले ही हुए हैं।

एकदेशी ईश्वर मानना, उनका स्थान अलग मानना, इन भूलोक को

तुच्छ मानना, इत्यादि मंतव्यों से जो कुव्यवहार होते हैं, वे मानवों का दुःख बढाने के हेतु होते हैं, यह हमने पूर्व लेखों में स्पष्ट किया ही है। वही बात इनके मतों से होती है। ईश्वर अवतार लेकर मानवों का सुख बढाने के लिये मानवों में आकर रहता है, केवल इस एक कल्पना के कारण 'जनता का हित करने के लिये यत्न करना चाहिये,' यह एक उत्तम उपदेश इस अवतारवाद से जनता को मिला है, पर हरएक जीव का पृथक् अस्तित्व मान कर एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा जो इनके पार्थक्यवाद से जनता के मनमें भाव बढ गया है, वह भी लोगों को परोपकार से दूर रखने के लिये कारण हुआ है और अपने कर्म से प्राप्त भोग मैं ही भोगूंगा, यह स्वार्थी भाव ही इसमें बढ गया है।

इस स्वार्थभाव से अनन्त आपत्तियां सामाजिक और राजकीय क्षेत्रों के व्यवहारों में खडी हो गयी हैं, जिन के कारण जनता दुःखसागर में डूबी है। इसलिये अब अगले लेख में सर्वव्यापक परमेश्वर माननेवालों के मतों का विचार करके देखेंगे कि, उनके मत से क्या हुआ है।

(५)

ईश्वर सब भूतोंमें और सब भूत ईश्वरमें माननेवालोंके मतका विचार

इस समयतक हम लेखमालाके चार लेख मुद्रित हुए है। पहिले लेखमें बताया है कि सब लोग सत्-चित्-आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं, अर्थात् अपने आपको मृत्यु से बचाने, ज्ञान प्राप्त करने और आनन्द प्राप्त करनेके इच्छुक हैं। परन्तु उनका मार्ग अशुद्ध होनेसे वे अपनी इष्ट सिद्धिसे सर्वथा दूर ही रहे हैं। द्वितीय लेख में ईश्वर को न माननेवालों के मतोंका विचार किया और बताया कि, इनके मतसे विश्वशांति की समस्या दूर नहीं हो सकी। तृतीय और चतुर्थ लेखों में सुदूर स्थान में ईश्वर रहता है, ऐसा माननेवालों के विचारों का मनन किया। इनमें तृतीय लेखमें ईसाई आदिकोंके मतोंका विचार हुआ और चतुर्थ लेखमें वैष्णव आदिकोंके तत्त्वज्ञान का मनन किया। ईसाई आदिकों का ईश्वर भूमिपर आता नहीं था, वह वैष्णवादिकों का अवतारादि लेकर आने लगा, तो भी ईश्वर का स्थान दूर है, यह कल्पना वैसे ही रही। इस कारण जो न्यूनता रही, उस का विचार गत लेखमें हुआ। अब उन विद्वानों के विचारों का मनन करना है कि, जो ईश्वर को सब भूतों में और सब भूतों को ईश्वरमें मानते हैं।

पहिले मतमें ईश्वर ही नहीं था, दूसरे मतों से वह सातवें आसमानमें मिला, तीसरे मतमें वह साक्षात्कार तथा अवतार से लोगोंके अन्दर आकर रहने लगा और अब जिनका विचार करना है, उनके मतसे यह ईश्वर प्रत्येक भूतमें रहने लगा और सब भूत उन प्रभुमें विराजने लगे हैं !!

इन मतोंमें ईश्वर के विषयकी कल्पनाका विकास किस तरह हुआ, यह

देखनेयोग्य बात है। पूर्व मतकी अपेक्षा दूसरे मतमें ईश्वर मानवों के पास आने लगा है और अन्त में यह मानवों के हृदयों में विराजने लगा है। निःसन्देह यह विचारों की उत्क्रान्ति है। ईश्वर को न माननेवालों का अपने अनीश्वरवाद से समाधान नहीं हुआ, ईश्वरको दूर मानने से भी मानवों का समाधान नहीं हुआ, अवतारवाद से ईश्वर को मानवों में लानेसे भी समाधान नहीं हुआ, इसलिये प्रत्येक वस्तु में ईश्वर और ईश्वर में प्रत्येक वस्तु है, ऐसा मानने का तत्त्वज्ञान मानवों में प्रचलित हुआ और इसने मानवोंके साथ ईश्वर का अटूट घनिष्ट सबन्ध घोषित किया।

अवतार होनेपर अथवा योगसाधन से साक्षात्कार होने के समयही ईश्वर का अनुभव होनेकी संभावना पूर्व मत में थी, वह अब प्रत्येक वस्तु में जीता जागता ईश्वर है और प्रत्येक वस्तु ईश्वर में है, ऐसा घोषित होने से अपने अन्दर और बाहर ईश्वर की सत्ता प्रतीत होने लगी और ईश्वरप्राप्ति के लिये अपने अन्तःकरण में खोज करने की ध्यानधारणा की बात मानवोंके सामने आ गयी !!!

सब में ईश्वर और ईश्वर में सब

जो भी वस्तु या पदार्थ इस सृष्टि में हैं, वे बने होनेके कारण 'भूत' कहलाते हैं। इन सब वस्तुओं में, इन सब पदार्थों में, इन सब भूतों में ईश्वर है, सब भूतों के अन्दर ईश्वर विद्यमान है, इसी तरह वह प्रत्येक मानव में है, यह बात इस मत में मानी जाने लगी। मानव ही ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, अन्य प्राणी अथवा स्थावर पदार्थ ईश्वरप्राप्ति का यत्न भी नहीं करते और न ईश्वरप्राप्ति की इच्छा करते हैं, अतः इनका विचार छोड दिया जाय, तो मानवों के सम्बन्ध का विचार ही शेष रह जाता है, और अनिवार्य रूप से विचार करनेयोग्य है।

यदि सब भूतों में, भूतों के अन्दर ईश्वर है, तब तो मनुष्य में वह नि-

संदेह ही है। यदि सब भूत ईश्वर में हैं तब तो निःसंदेह सब मानव ईश्वर में रहते हैं, इसलिये मानवों के अन्दर जैसा ईश्वर है, वैसा ही मानवों के बाहर भी ईश्वर है। जैसा घडे में आकाश है और घडे के बाहर भी आकाश है, उसी तरह मानव के अन्दर और बाहर ईश्वर है और वह सर्व व्यापक भी है। प्रत्येक रज कण में ईश्वर भरपूर भरा है, फिर वह मानवमें है, इस विषय में क्या संदेह हो सकता है? इस लेख में हम मानव के अन्दर ईश्वर है, इसी का विचार करेंगे, क्योंकि पशुपक्षी, वृक्ष आदि ईश्वर-प्राप्ति के इच्छुक नहीं हैं, परन्तु मानव ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, इसलिये उसी का विचार करना योग्य है।

ईश्वर सत्य और जगत् तुच्छ

सब जगत् में ईश्वर है, वैसा वह मानव में भी है। पर ईश्वर ही प्राप्तव्य है, क्योंकि वही आनन्दस्वरूप है और यह जो सृष्टि, जगत् अथवा संसार है, वह असार है, हीन है, दुःखदायक है।

अनीश्वरवादियों ने जगत् को क्षणभंगुर, दुःखदायी और हीन तथा तुच्छ माना था, वैसा ही वह सुदूरवर्ती ईश्वर को माननेवालों में रहा, अवतार-वादियों के मत में भी वैसा ही रहा और सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों के मत में भी यह सृष्टि तुच्छ, हीन, दीन, दुःखदायक ही रही है।

ईश्वर सब भूतों में है, ईश्वर ही प्राप्तव्य है, सब भूतों के अन्दर रहने वाला ईश्वर ही प्राप्तव्य है, पर सब भूत क्षणभंगुर, असार अतः त्याज्य हैं। यह सृष्टिविषयक कल्पना इन सब मतों में एक जैसी ही रही है। यह बात यहां पाठकोंको ध्यान में धरनी चाहिये।

मनुष्य के अन्दर ईश्वर है, मनुष्य के हृदय में ईश्वर है, वह प्राप्तव्य है, परन्तु मानव का शरीर तुच्छ, हीनदीन, दुःखों और मलों की खान है,

इतना ही नहीं, परन्तु मनुष्य ही तुच्छ है, पापमूर्ति है, पाप से जन्मा है, इस कारण सब वासनाओं का क्षय करके, मैंपन का नाश करके, मन का नाश करके केवल ईश्वर का ही दर्शन करना चाहिये। इस तरह ईश्वर प्राप्तव्य और तद्व्यतिरिक्त सब सृष्टि त्याज्य यह बात वैसी ही इस मतमें भी रही है!

नास्तिकों के मतों से लेकर सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों के मतों में जो एक बात सुस्थिर है, वह यह है। यहां तुच्छ और ग्राह्य ऐसे दो पदार्थ हैं। यह दीखनेवाली सृष्टि तुच्छ है, इस का त्याग करके ग्राह्य ईश्वर की प्राप्ति करनी चाहिये। हरएक मतवाला ऐसा ही प्रतिपादन कर रहा है।

ईश्वर को माने या न माने, ईश्वर को दूर माने या समीप माने, ईश्वरके अवतार माने या न माने, ईश्वर को एकदेशी माने या सर्वव्यापक, इन सब मतों में यह संसार असार, त्याज्य, हेय, दुःखहेतु ही रहा है!! सब वस्तुओं में ईश्वर की सत्ता मानी जाने पर भी सब वस्तुओं का तुच्छत्व दूर नहीं हुआ, यह विशेष विचार करनेयोग्य बात है।

इसीलिये इन मतों के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के अनुष्ठान में सृष्टि को वमन-क्षय-के समान त्याज्य समझना आवश्यक समझा गया, पूर्व जन्म के कर्मों के भोग भोगने के लिये इस जन्म की प्राप्ति हुई है, ऐसा माना जाने लगा, इस कारण जन्म ही बुरा हुआ। दोषों से जन्म होता है, अतः दोष मूलक जन्म है, इसलिये जन्म से छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल हुई। जन्म से घृणा हुई। जन्म से जिस सृष्टि में जीव आता है, वह सृष्टि भी घृणित ही मानी गयी। यह शरीर और यह संसार जेलखाना है, इससे छूटना चाहिये। जितना जल्दी छूटा जाय, उतना अच्छा है, ऐसे विचार शुरू हुए।

जन्म होनेसे दुःख होता है, इसलिये जन्म नहीं होना चाहिये। पूर्व

दोषोंसे जन्म होता है, इसलिये जन्म ही दोषमूलक है, इस कारण जन्म और शरीर बडा घृणायोग्य है। इस शरीर में नाना दोष होते हैं। इसलिये यह पीपका और मैले का गोला कहा जाता है, अतः यह सदा मलिन होने से घृणित है, इस कारण इससे छुटकारा पाना चाहिये। कर्म-प्रवृत्ति से ही कर्म किये जाते हैं और कर्मों के कारण नाना दोष होते हैं। सभी कर्म दोषमय हैं, इसलिये कर्मों का त्याग करना चाहिये, जिससे कर्म न होंगे, तो दोष नहीं होंगे और दोष न होंगे, तो शरीर धारण करना नहीं पडेगा इस विचारधारा के अनुसार कर्म छोडने की ओर सब की प्रवृत्ति बढ गई।

मिथ्या ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से कर्म होते हैं, कर्मों से दोष होते हैं, दोषोंसे भोग भोगने पडते हैं और भोग भोगने के लिये शरीर लेना आवश्यक होता है, शरीर प्राप्त होनेपर इस शरीररूपी पीप और विष्टा के गोले में रहना पडता है, और नाना दुःखों को भोगना पडता है। इस लिये मन ऐसा बनाओ, कि जहां किसी तरह कर्म की प्रवृत्ति ही न हो, ऐसी विचारपरंपरा इनके सम्प्रदायों में शुरू हो गयी।

स्त्रीके कारण जन्म होता है, इसलिये स्त्री ही पाप की और दुःख की खान मानी जाने लगी। तथा स्त्रीके साथ रहना, गृहस्थाश्रम में रहकर संतान उत्पन्न करना बहुत बुरा है, ऐसा मानने की ओर प्रवृत्ति हुई। यह प्रवृत्ति इस समय में भी है और इन सभी विभिन्न मतवादियों में एक जैसी ही है। हरएक के हृदय में ईश्वर के विराजमान होनेपर भी उक्त विचार-धारा में बदल नहीं हुआ, यह एक आश्चर्य की ही बात है। पर यह बात ऐसी ही है, इसलिये उसको वैसा ही मानना यहां आवश्यक हुआ, अतः वैसा ही यहां लिखा है। पाठक इसका ठीक ठीक विचार करें।

शरीर की ओर तथा सब विश्व की ओर घृणा की दृष्टि से देखने की विचारधारा जो जैनबौद्धों के मतों में थी, वही वैसी ही सुदूर स्थान में

ईश्वर माननेवाले सब संप्रदायों में रही, और सर्वव्यापक ईश्वर के माननेवाले इस संप्रदाय में भी प्रकट हुई है। इसका कारण यह है कि, जगत् की तुच्छता इस संप्रदाय में भी मानी जाती है, और जगत् को तुच्छ और दुःखमय माननेवालों के मतमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर सब वस्तुओं में है, पर सब वस्तुएं उससे पृथक् और भिन्न हैं, ईश्वर आनन्दस्वरूप है और संसार दुःखमय है। ईश्वर तीनों कालों में एक जैसा है, पर यह जगत् क्षणभंगुर है। ईश्वर चेतन है, पर यह जगत् जड है। किसी तरह ईश्वर के साथ इस जगत् की अथवा इस संसार की तुलना नहीं हो सकती।

जालमें फंसना

यह संसार एक जाले के समान है। जिस तरह धीवर अपना जाल फैलाकर मत्स्यों को उस जाल में पकड लेता है, इसी तरह यह संसाररूप जाल सर्वत्र फैलाया है। सब जीव इसमें अटक गए हैं। यह बंधन है, यह क्लेशरूप है, यही दुःखका हेतु है, अतः इस जाल को तोडकर बाहर आ जाना चाहिये। यही कर्तव्य है। जब जीव जाल तोडकर बाहर पडेगा, तब वह सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होगा। इस तरह इस संसार को इन्होंने जाला बना दिया और यही विचारधारा संसार में शुरू हुई।

इस शरीर को पिंजरा ऐसा इन संप्रदायवालोंने कहा है, जैसा तोता पिंजरे में बंद किया जाता है, वैसा ही यह जीव इस शरीररूपी पिंजरे में कैद किया गया है। इस पिंजरे से जब यह बाहर निकलेगा, तब यह जीव स्वतंत्र होगा, यही इसकी मुक्ति है। शरीरधारण ही बंधन है और जबतक कर्मानुसार शरीर धारण होता रहेगा, तबतक इस का बंदिवास, कारावास दूर नहीं होगा, इसलिये जन्म की हेतु जो कर्मवासना है, उस को जडसे काटना चाहिये, तब शरीर मिलनेका हेतुरूप जो वासनाका संबन्ध है, वह

दूर होगा और इसकी मुक्तता इस पिंजरेसे होगी। इन सभी संप्रदायों में यही विचारपरंपरा चली है और यही अब तक रही है।

ये सब संप्रदाय इस शरीरको ही पिंजरा नहीं मानते, प्रत्युत संपूर्ण संसार को ही बडा जेलखाना मानते हैं। अर्थात् इनके मत से बडे जेलखाने में यह शरीररूपी एक कमरा है, जिसमें यह जीव कैद होकर पडा है। इनके मतानुसार शरीर न मिलने की अवस्था में जीव स्वच्छंद संचार करेगा और स्वेच्छासंचार से अत्यंत सुख प्राप्त करेगा। अर्थात् इनको दो जेलों की दिवारें तोडनी हैं, एक शरीररूपी कमरे की दिवार और दूसरी संसाररूपी बडे जेलखाने की बडी दिवार! जब ये दिवारें इसके लिये टूटेंगी, तब इसको आनन्द में गोते लगाने का सुख प्राप्त होगा, तबतक इसकी यातनाएं कम होना कठिन है।

यह जो दिवारें तोडने की और जेल से बाहर पडने की कल्पना है, वह इन संप्रदायों में सर्वत्र है। सभी प्रायः ऐसा ही मानते हैं। इनके मत से यह संसार 'ब्रह्माण्ड' है। अर्थात् यह एक बडा (ब्रह्म-अण्ड) अण्डा है। जैसा मुर्गी आदिकों का अण्डा होता है, वैसा ही यह संसार एक बडा भारी अण्डा है। अण्डे में जिस तरह एक बाहर का कवच होता है, इसी तरह इस ब्रह्माण्ड के लिये एक बाह्य कवच है, जो यह आकाश है। जिस तरह अण्डे में पानी और कुछ गोलासा होता है, वैसी ही इस अण्डे में समुद्र और पृथ्वी है। इस तरह यह बडा भारी अण्डा है। इसका भेद करने से बीच का जीवरूपी पक्षी बाहर आता है, अर्थात् मुक्त होता है, ठीक ऐसी ही कल्पना इन्होंने अपने संप्रदाय में कर रखी है।

ये मानते हैं कि, इस ब्रह्माण्ड के कवच में भी एक छेद है, इसी सूराख का नाम ब्रह्मरन्ध्र है। इसी सूराख से मुक्त जीव बाहर अर्थात् इस ब्रह्माण्ड के बाहर जाते हैं और इस ब्रह्माण्ड के बाहर जाना ही मुक्ति है। जो ब्रह्म-

चर्य धारण करते, संन्यास लेते, तप करते, गृहस्थजीवन नहीं बिताते, वे सूर्यकिरण का अवलम्बन करते हुए सूर्यमण्डल में पहुँचते हैं, यही सूर्यमण्डल उस पूर्वोक्त ब्रह्मरन्ध्र पर ढक्कनसा है। इस सूर्यमण्डलपर पहुंचते ही पूर्वोक्त ज्ञानमार्गी इसी सूर्य के द्वारा दूसरी ओर पहुँचते हैं और इस ब्रह्माण्ड से बाहर निकल जाते हैं। ब्रह्माण्ड से बाहर निकलने के सूराखपर सूर्य ढक्कन है, इतना सत्य मानने से ज्ञानमार्गियों का सूर्यकिरण के सहारे सूर्यमण्डलतक पहुंचना और सूर्य के अन्तर्याम से सूर्य की दूसरी ओर पहुंचना और ब्रह्माण्ड से बाहर पडना, यह युक्तियुक्त प्रतीत होगा। परन्तु इसमें से एक भी कल्पना असत्य सिद्ध हुई, तो शेष कल्पनाओं का सब का सब संघात स्वयं ही हट जाता है। अस्तु।

जो विवाह करते हैं, वे चन्द्रलोक में जाते हैं, यह क्षीण लोक है, यहां से उक्त सूराखतक पहुंचने का कोई साधन नहीं है, इसलिये ये वापस मृत्युलोक में आते हैं और जरा, मृत्यु तथा जन्म के चक्र में पडते हैं। इस लिये इस जन्ममृत्यु से मुक्ति पाना आवश्यक है और इसलिये सूर्यलोक का आश्रय करके पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्माण्ड के बाहर पडना आवश्यक माना गया है, यही इनकी मुक्ति का साधन है।

अनेक ग्रंथोंमें इन मार्गोंका और इन सूराखों का उल्लेख है, इसलिये यहां ग्रंथों के वचन नहीं दिये, केवल संक्षेप से पूर्वोक्त मार्गों का उल्लेख मात्र किया है। वचन देने से लेख का विस्तार बढ जाता, इसलिए यहां वचन नहीं दिये। जो शास्त्रपाठक हैं, वे इस बात का संबन्ध किन वचनों से है, यह सब ठीक तरह जान सकते हैं।

इस सब विवरण का तात्पर्य यही है कि, यह शरीर और यह सब संसार एक जेलखाना है, यहां रहना पूर्वदोष के कारण हुआ है, दोषक्षय का उपाय करना और पुनः दोष न हों, इस बारे में सावधानी रखना ही अनु-

ष्ठान है। इस अनुष्ठान से शरीरोत्पत्ति या पुनर्जन्म का बीज नष्ट हो जाता है। इस तरह पुनर्जन्म का बीज नष्ट करना ही मुक्ति का साधन है।

बीजका भूनना

बीजका वृक्ष होता है, वृक्ष से बीज निर्माण होते हैं, उन बीजों से फिर वृक्ष बनते हैं, उनसे फिर बीज निर्माण होते हैं, इस तरह यह संसरण चलता है। अर्थात् इसी तरह प्राणियों में भी होता है। मानवों में भी देखिए स्त्रीपुरुषसंबन्ध से संतति होती है, उनसे फिर और आगे संतति का प्रवाह चलता है। इस तरह अखण्ड प्रवाह चलता जायगा, तो मुक्ति की संभावना ही नहीं होगी, यह भय इन संप्रदायों के मन में खड़ा रहता है। इसलिये ये संप्रदाय 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् स्त्रीपुरुषसंबन्ध का नाश करना चाहते हैं। यदि स्त्री और पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी हुए, तो आगे संसार बंद ही होगा। ऐसा करना इनको अभीष्ट है, पर परमेश्वरी योजना अटल होने से सब लोग ब्रह्मचर्य का अखण्ड परिपालन नहीं कर सकते, इस कारण संसार चलता रहता है, यह बात और है। पर ये चाहते तो यही हैं कि, संतान उत्पन्न न हो, क्योंकि जन्म प्राप्त हुआ, तो शरीर धारण होगा और शरीर रहने तक दुःखपरंपरा हट नहीं सकती। इसलिये जन्म न हो, इस कारण अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना है। इन्होंने यह कल्पना रची, पर इसमें इन को यश नहीं आया।

जिस तरह बीज भूना जाय तो उगता नहीं, अर्थात् संसरण बंद होता है, उसी तरह ब्रह्मचर्यादि तपसे वासना के बीज अथवा जीवबीज, जन्म-मरण के बीज भूने जाते हैं, और इस कारण आगे जन्ममरण का कारण नहीं रहता। बीज भूनने का ही दृष्टान्त इन संप्रदायवालोंने दिया है। अर्थात् बीजके भूनने से जो बीज की स्थिति होती है, वैसी जीवकी बने, ऐसा इनके लिए अभीष्ट है। इस सब का तात्पर्य इतना ही है कि जीव

को जन्म प्राप्त न हो। इतना इनके मन में जन्म का भय बैठ गया है।

इन सब सम्प्रदायों के लेखों, प्रवचनों, व्याख्यानों और उपदेशों से जनता के मनपर जन्म के भयके विषय में ऐसा जबरदस्त प्रभाव बैठा है कि, जो थोडीसी धार्मिक वृत्तिवाला मनुष्य होगा, वह जन्ममरणपरंपरा से अपना बचाव का ही विचार करता रहता है। पुनः जन्म होगा, ऐसा किसी से कहा जाय, तो वह घबराता है! जन्ममरणपरंपरा से वह भयभीत हुआ है। इसलिये यह बोलता है कि, ' बस है, अब इससे छुटकारा ही मिलना चाहिये। '

ये लोग स्वयं शरीररूपी अस्थिमांस के पिंजरे में रहने का अनुभव करते हैं और रातदिन इसी पिंजरे के विषय का दुःख करते रहते हैं। ब्रह्मांड से छुटकारा पाना भी इनके सामने वैसा ही प्रश्न सदा रहता है। इस कारण जिस समय ये अपने शरीर को देखते हैं उस समय इनको दुःख होता है, और जब ये ब्रह्माण्ड की ओर देखते हैं, तब भी इनको महादुःख होता है। इस तरह शरीर को दोषमूलक मानने के कारण इनके सामने अन्दर, बाहर सर्वत्र ही क्लेश का वायुमण्डल बना रहता है इसी कारण नाना प्रकार के शरीर को क्लेश देनेवाले तपके प्रकार ये लोग करते रहते हैं, शरीर को कृश करने के उपायों से ईश्वर प्राप्ति होगी, ऐसा इन्होंने माना है, इस कारण अनेकविध उपाय भी इन्होंने सोच रखे हैं।

शरीर दुःख का मूल है, किसी न किसी तरह यह क्षीण होकर नष्ट हो जाय और अपनी सब वासना पूर्णतया क्षीण हो जाय अथवा नष्ट हो जाय, तो वह अवस्था इनको चाहिये। इसलिये वासना का क्षय करने के पीछे ये पडे रहते हैं। और इसी उद्देश से इनके प्रयत्न चलते रहते हैं। ये कहते हैं कि जैसी अशुभ वासना बंधनकारक है, वैसी ही शुभ वासना भी बंधन-कारक है। इसलिये इनका प्रयत्न ऐसा रहता है कि, मन में जैसी अशुभ

वैसी ही शुभ वासना भी न उठे और मन की स्थिति बिल्कुल वासनाशून्य हो जाय। इनका प्रयत्न इसी स्थिति की प्राप्ति के लिये ही रहता है, कितनी सिद्धि इसमें इनको मिलती है, वह हमें पता नहीं है।

बीजको भूनने के लिये इनके सब अनुष्ठान रहते हैं। बीजसे वृक्ष न बने, यही इनकी इच्छा है। इसीलिये अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले सन्यासी-हि सूर्यलोक में जाकर पूर्वोक्त रीतिसे मुक्त होते हैं, ऐसा इन्होंने माना है। गृहस्थी तो चन्द्रलोक में जाकर पुनर्जन्म में सडनेवाले हैं, क्योंकि ये सतान उत्पन्न करते हैं, ससारचक्र चलाने की सहायता करते हैं। ब्रह्मचर्य से ही ससारचक्र बद होने की सभावना है।

इनके मत से बीजस्थिति अच्छी है और वृक्षस्थिति खराब है। ईश्वर जगद्बीज है, वह बीजस्थिति अच्छी है, वही प्राप्तव्य है, इसीलिये ईश्वर-प्राप्तव्य है। जगद्बीज ईश्वर से ससारवृक्ष हुआ है। इस वृक्षकी शाखाएं जीवों को लपेटती हैं और इनके बधन में जीव फसता है। इसलिये असग शस्त्र से इन शाखाओं का छेदन करके वृक्ष को शाखारहित, पल्लवरहित पुष्पफलरहित करना चाहिये, इतना ही नहीं, परन्तु मूल बीज को हि प्राप्त करना चाहिये। इनकी यह कल्पना है।

ईश्वर जगद्बीज है और ससार उसी से निर्माण हुआ सुपत्र, सुपुष्प, और सुफलित हराभरा वृक्ष है। ये सब सम्प्रदाय जिनका पूर्व लेखों में उल्लेख किया है, वे इस हरेभरे वृक्ष को असग शस्त्र से काटना चाहते हैं और मूल वृक्षबीज को प्राप्त करना चाहते हैं।

ईश्वर भिन्न है और विश्व अथवा जगत् उससे सर्वथा विभिन्न है, ऐसा मानने का यह परिणाम है कि जो पूर्वोक्त प्रकार की विचारसरणी में दिखाई देता है। ईश्वर जगत् से सर्वथा भिन्न है और जगत् ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। ऐसा विचार इन सम्प्रदायों ने माना है। इस विचार का ही परिणाम

यह है जो जगत् को छोडने और ईश्वर को ही पकडने का यत्न करने में दिखाई देता है।

जिस समय दो पदार्थ सामने आ जाते हैं, उस समय दोनों में से जो सुखदायी है, उसी का ग्रहण मनुष्य करना चाहता है। यहां मानव के सामने ईश्वर और सृष्टि ये दो पदार्थ आ गये है। सृष्टि दु:खकारक है, यह बात इसने निश्चित की है, अत शेष रहा ईश्वर, वही आनन्दघन होने से इसका प्राप्तव्य ठहरा है। जिस तरह विचार की प्रवृत्ति चली, उस तरह ऐसा ही परिणाम होना सभव है। जगत् तुच्छ है, दु:खकारक है, इसलिये त्यागनेयोग्य है, ईश्वर श्रेष्ठ है, सुखदायक है, इसलिये स्वीकारनेयोग्य है। इस विचार की बुनियादपर इन सम्प्रदायों के सब अनुष्ठान चले हैं। यद्यपि ईश्वर प्रत्येक वस्तु में है, तथापि प्रत्येक वस्तु उससे सर्वथा पृथक है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ का त्याग करके उसमें बसनेवाले ईश्वर को ढूढना और प्राप्त करना चाहिये।

अंतर्यामी ईश्वर

प्रत्येक पदार्थ के अन्दर ईश्वर रहता है। ईश्वर सर्वव्यापक है, अर्थात् वह सर्व में है। वह अन्तर्यामी है, अत वह प्रति वस्तु के अन्तर्भाग में ही प्राप्त हो सकता है। ईश्वर मनुष्य के अन्दर है, इस कारण उसको देखने के लिये अन्तर्मुख होना चाहिये।

मनुष्य के हृदय में ईश्वर है, इसलिये उसको देखने के लिये अन्तर्मुख होना आवश्यक है। बहिर्मुख होने से जो दर्शन होगा, वह शरीर का दर्शन होगा, शरीर तो दु ख की खान है, इसलिये उसके दर्शन से क्या लाभ होगा, ? वह तो हेय विषय है। परमेश्वर अन्दर है, इसलिये सब वृत्तियों को अन्तर्मुख करना चाहिये, और अपने अन्त करण में उसे देखना चाहिये।

एव यार बहिर्मुखता में दोष और अन्तर्मुखता से परम सुख प्राप्त होना

है, ऐसा निश्चय हुआ, तो अन्तर्मुख होने की ओर सब की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है।

योगसाधन

अष्टांगयोग का साधन इसी अन्तर्मुख प्रवृत्ति करने के लिये निर्माण हुआ है। शरीर का स्थिरीकरण इसमें प्रथम अवस्था में करना होता है। इसी लिये 'आसनों' का अभ्यास है। आसनों के अभ्यास से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरतापूर्वक सुख देनेवाला आसन है। किसी एक आसन पर घण्टा, दो घण्टे बैठने का अभ्यास सुखपूर्वक होने लगा, तो एक प्रकार की स्थिरता का सुख अनुभव में आता है। यह इससे प्रत्यक्ष फल अनुभव में आ सकता है।

शरीर की स्थिरता आसनों से सिद्ध होने के पश्चात् प्राणायाम से प्राण का स्थिरीकरण किया जाता है। शनै शनै प्राण को काबू में करनेका यत्न होता है। प्राणायाम अनेक प्रकार के हैं और प्रत्येक प्राणायाम का फल अलग अलग है। पर सब प्राणायामों का मुख्य फल प्राण का स्थैर्य ही है। प्राण की चञ्चलता मृत्यु लानेवाली और प्राण की स्थिरता दीर्घायु देनेवाली तथा मनकी स्थिरता देनेवाली है। प्राण स्थिर होने से मन स्थिर होता है और मन के स्थिर होने से प्राण की स्थिरता होती है। इस तरह प्राण और मन का सबन्ध अन्योन्याश्रित है। अर्थात् प्राण की स्थिरता जैसी जैसी होती जाती है, वैसा वैसा मन भी स्थिर होने लगता है।

मन की स्थिरता से प्राण की स्थिरता और प्राण की स्थिरता से मन की स्थिरता होती है, इसीलिये प्राणायाम के साथ साथ मन से ध्यानधारणा करने से अधिक लाभ होता है। इस ध्यान में नेत्र-इन्द्रिय का अधिक सबन्ध रहता है। अन्यान्य इन्द्रियों के योग से भी सहा[illegible]मिलती है। इन्द्रियों के सहयोग से ध्यान करने से मन का [illegible] इसी तरह

होने लगता है। मनके स्थिरीकरण से प्राणस्थिरीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस तरह प्राण और मनके स्थिरीकरण के अभ्यास परस्पर सहायक होते हुए बढते जाते हैं और साधक अपूर्व अभौतिक आनन्द देने लगते हैं।

ध्यान-धारणा-समाधि की सिद्धि क्रमपूर्वक अभ्यास बढने से होती है। अधिकाधिक दृढ अभ्यास के ही ये नाम हैं। ध्यान के ही अभ्यास से मन की वृत्ति अन्तर्मुख होने लगती है और जितना अभ्यास बढता जाता है उतनी वृत्तियों की अन्तर्मुखता सिद्ध होती है। इस अन्तर्मुखता में प्रकाश दर्शन, नादश्रवण, सुगंधानुभव, उत्तम स्वाद का अनुभव होता है। ऐसे ऐसे प्रकाश दीखते हैं कि, जो कभी जगत् में दीखने में नहीं आते। ऐसे सुन्दर शब्द सुनाई देते हैं कि, जैसे इस जगत् में कभी सुनाई नहीं देते। स्वभावमधुर सुगंध आने लगता है, मुख में ऐसा स्वाद आने लगता है कि, जिसके सामने जगत् की मिठास तुच्छ है। मन और प्राण की स्थिरता इंद्रियों की ध्यान में रति और वृत्तियों का अन्तर्मुख होना आदि से ये अनुभव आते हैं। मन की वृत्तियों के अन्तर्मुख होने से इस तरह अनेक लाभ होते हैं।

प्राणायाम और ध्यानधारणा के बीचमें एक प्रत्याहारका अभ्यास है। जगत् में जो भोगविषय हैं, उनसे इंद्रियों को निवृत्त करने से यह अभ्यास सिद्ध होता है। भोगों में दोषों का दर्शन करने से उन भोगों से मन निवृत्त होता है, इस रीति से इसकी सिद्धि होती है। इस से मन भोगों की ओर भागता नहीं, शान्त होता है और धारणाध्यान सिद्ध होने लगते हैं। इस तरह यह उपशम होने का अभ्यास अंतिम सिद्धि के लिये सहायक होता है।

मन अन्तर्मुख करने का यह अभ्यास है। पूर्ण अन्तर्मुखता हुई तो सत्य

ही समाधिसिद्ध होती है। और समाधि में केवलता अथवा ईश्वरसाक्षात्कार होता है, ऐसा ये मानते हैं। आन्तरिक शक्तियों का अनुभव इस अनुष्ठान से होता है और आन्तरिक शक्तियाँ बाह्य शक्तियों से विलक्षण हैं, इस कारण ये अनुभव भी विलक्षण सुख के लिये कारण होते हैं। जो यहां तक पहुंचते हैं, उनका शरीर, प्राण, मन तथा बुद्धि अधिक कार्यक्षम होती है, इसमें सन्देह नहीं है।

इस अन्तर्मुख होने के अभ्यासने और इस अभ्यास से आनेवाले अनुभवोंने बाह्य विषयकी ओर घृणा की वृत्ति बढा दी है। बाह्य जगत् तुच्छ है, उससे उपराम होना चाहिये, और सब मनोवृत्तियां अन्दर की शक्तियों की खोज में लगानी चाहिये, ऐसा निश्चय होते ही, बाह्य जगत् की ओर घृणा, जो दीखता है, उसके विषय में तुच्छ भाव और जो अदृश्य अन्तर्यामी सत्ता है, उसी के विषय में आदरभाव बढाने के लिये यह अनुष्ठान हेतु बन गया है।

जैनबौद्धों से लेकर सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों तक सब ही संप्रदाय एक सुर से जगत् को दुःखमूलक बताते और उससे निवृत्त होनेका उपदेश करते आये हैं। जो योगसाधन ऊपर कहा है, वह न्यूनाधिक रीतिसे इन सभी संप्रदायों में है। कइयों में कुछ न्यून और कइयों में कुछ अधिक है, परन्तु जगत् की तुच्छता सब में समान ही है। एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में ईश्वर अधिक पास आने लगा है, परन्तु उसके समीप आने से भी सृष्टि की तुच्छता हटी नहीं है। और अनुष्ठान में भी वही सृष्टिविषयक तुच्छता सर्वत्र समानतया प्रकट होती रही है।

पूर्वोक्त रीतिसे मन शान्त हुआ, बहिर्मुख वृत्तियां दूर हुईं, तो उस समय बाह्य जगत् का अनुभव नष्ट होता है। ऐसी मनकी अवस्था होती है कि, जहां बाह्य जगत का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अन्दर ही अन्दर

उपासक आनन्द में रहता है। यह आनन्द अपने अन्दर की [स्वस्थ] स्थिति से प्राप्त होता है। जगत् की हलचल में जिस समय मन व्याप्त होता है, उस समय वह थक जाता है, कष्ट का अनुभव करता है, पर जिस समय यह अन्तर्मुख होकर स्व-स्थ होता है, उस समय कुछ भी थकावट नहीं होती, इतना ही नहीं, परन्तु इस का बल बढता है, आनन्दित वृत्ति होती है।

इसी अवस्था को समझते हैं कि, यह कृतकृत्यताकी अवस्था है। इस जगत् का भान छोडने पर यह आनन्द मिलता है, इसलिये इस को अभौतिक आनन्द मानते हैं।

इस जगत् को दुःखरूप मानने से इसको त्यागना है और ईश्वर की प्राप्ति का आनन्द प्राप्त करना है, यह एक वार निश्चित हुआ, तो ऊपर कहे योगमार्गके सिवाय दूसरा मार्ग सामने नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि यह युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध दीखता है और इसके प्रत्येक अनुष्टानकी सिद्धि भी प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। इस कारण इस योग-अभ्यास का महात्म्य सब संप्रदायों में प्रकट हुआ है।

ईश्वरप्राप्ति के इस से अधिक सुगम साधन भी अनेकानेक सन्मुख आ गये हैं। नामजप से लेकर अनेकविध उपासना के विधानोंतक ये मार्ग फैले हैं। ये सब इस समय भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये इन के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब अन्यान्य साधनों से पूर्वोक्त योग-साधन ही सर्वतोपरि श्रेष्ठ समझा जाता है और यह योग्य ही है।

अवतारवाद

इस-सर्वव्यापक ईश्वर को माननेवालों के संप्रदाय में अवतारवाद, साक्षात्कार, स्वप्न में महापुरुषदर्शन, आदि सभी सिद्धि के विविध प्रकार मौजूद हैं। अवतारवाद मानने से अनेकविध अवतारोंका उपास्य रूपसे स्वीकार

होना स्वाभाविक है। अवतार पहिले हुए थे, इस समय होते हैं और आगे भी होंगे, ऐसी इस सम्प्रदाय की धारणा है। अवतार मानने के कारण विभूतिपूजा, विग्रहाराधना, प्रतिमापूजा आदि अनेक विधि इस सम्प्रदायमें आने हैं, यह ठीक ही है। इस तरह उपासना के विविध प्रकार इस सम्प्रदाय में बढ़ गये हैं। तथा घटघट में व्यापक ईश्वर मानने के कारण सब अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यह सम्प्रदाय सब से अधिक माननीय, आदरणीय और प्रभावशाली भी बना है। ईश्वर को सर्वव्यापक सिद्ध करने के कारण इस सम्प्रदाय के इस मतव्यका परिणाम शैववैष्णवों परही नहीं, परन्तु ईसाइयों के सम्प्रदाय पर भी किसी अंशतक हुआ है। और ऐसा स्थायी परिणाम होनेके कारण उस उस धर्म के आधारग्रंथों में भी इतस्तत ऐसे वाक्य आ गये हैं कि, जिनका अर्थ घटघट में ईश्वर की सत्ता मानने, जैसा ही होता है।

एक ईश्वर की सार्वभौम सत्ता माननेपर तथा ईश्वरको सर्वव्यापक माननेपर दूसरी सृष्टि की सत्ता मानना कठिन है। क्योंकि एक ही स्थानमें दो वस्तुओं का रहना असंभव है। जहा सृष्टि है, वहा ईश्वर नहीं और जहा ईश्वर होगा, वहा सृष्टि नहीं, ऐसा मानने की ओर मनकी प्रवृत्ति हो जाती है। सब भूतों में ईश्वर है, ऐसा मानने में इस का अर्थ सब भूत खोखले हैं, अत. वहा उस खोखलेपन में ईश्वर रहा है, ऐसा होता है।

इसी तरह ईश्वर में सब भूत हैं, ऐसा कहते ही ईश्वर में ऐसा स्थान है, जहा सब भूत रह सकते हैं, ऐसा ही मानना पडता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तब तो सर्वत्र ईश्वर ही अकेला है, ऐसा ही मानना पडेगा। दो या तीन पदार्थ ईश्वर के अतिरिक्त हैं और उन के साथ ईश्वर भी सर्व व्यापक है, इस कथन का तर्कदृष्टि से कुछ भी मूल्य नहीं है। तथापि ये लोग तथा द्वैतसिद्धान्तको माननेवाले सब सम्प्रदाय ऐसा ही मानते आये हैं।

ये ईश्वर, प्रकृति और जीव को अनादि मानते हैं और वैसा मानते हुए ईश्वर को सर्वव्यापक भी मानते हैं! इस विषय में हम अगले लेखों में विशेष वर्णन करेंगे। पर यहां इन संप्रदायों के मंतव्य के विषय में कई विद्वानों का, अनेक पदार्थ सर्वव्यापक नहीं होते ऐसा आक्षेप है, इतना ही निर्देश करना आवश्यक होनेसे यहां यह निर्देश किया है।

मुक्ति

ईश्वरसे सब भूतों में और सब भूत ईश्वरमें माननेवालों के मंतव्य के अनुसार मुक्ति का विचार कैसा माना जाता है, यह भी अब देखना चाहिये। जीव का स्वरूप अनेक प्रकार का यहां माना जाता है, अर्थात् इस मत को माननेवाले अनेक उपसंप्रदाय हैं, जो अनेक प्रकार का जीवका स्वरूप मानते हैं। जीवविषय में ये मतभेद सब के सब यहां विचार करने के लिये लेने की हमारी इच्छा नहीं है।

यहां इस विषय का विचार करने के लिए एक दो ही मतों का हम विचार करते हैं। ईश्वर को सब भूतों में और सब भूतों को ईश्वर में माननेवाले ईश्वर की एक सत्ता और भूतों की दूसरी सत्ता तो मानते ही है। सब भूत अथवा सारी सृष्टि प्रकृति से निर्माण हुई है, ऐसा इन का मत होने के कारण ईश्वर और प्रकृति ये दो सत्ताएं इनके मतमें मानी जाती हैं।

जीव की तीसरी सत्ता ये मानते हैं। ईश्वर सदा मुक्त है, अतः किसी साधन से सिद्ध बनने की आवश्यकता उस को नहीं है। प्रकृति तो जड है, इसलिए बद्धता और मुक्ति के भाव प्रकृति के लिए मानना असंभव है। अर्थात् जिस तरह बद्धता और मुक्ति ईश्वर के लिए नहीं हैं, उसी प्रकार प्रकृति के लिए भी नहीं है। इसलिए इन दोनों के लिये धर्म नहीं है। ईश्वर नित्य मुक्त होने के कारण और प्रकृति जड होनेके कारण धर्मके बंधन से बाहर हैं। इस लिये इनके मतमें तीसरी सत्ता जीव की मानी है। इस

जीव को बंधन होता है, मुक्ति प्राप्त करनी है, अतः मध्य अवस्था में धर्म-नियमों के पालन करने की आवश्यकता है। ऐसा जीव मानने के कारण जीव की उन्नति के लिये धर्म मानना आवश्यक हुआ और इसी की उन्नति के लिये पूर्वोक्त साधन निश्चित किये गये हैं। जीव की सत्ता के विषय में अनेक मतमतान्तर हैं। एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है। तथापि जीव है, यही सब का मंतव्य है, इसलिये वही हम यहां लेते हैं। जीव की उत्पत्ति के विषय में अनेक मतभेद हैं, इसलिये उस विषय को हम छोड देते हैं।

जीव है और जीव को मुक्त होना है। जीव इस समय बद्ध अवस्था में आ गया है इतना सब मानते हैं और इस में किसी का मतभेद नहीं है। जीव की उत्पत्ति, बंध के कारण और लक्षण तथा मुक्ति के लक्षण और साधनके बारेमें बडे मतभेद हैं। कई लोग मुक्ति नित्य मानते हैं और दूसरे कई अनित्य भी मानते हैं, यहां तक इस विषय में मतभेद हैं। अतः इन मतभेदों का उल्लेख भी यहां हम करना नहीं चाहते।

जीव इस समय बद्ध है, इसको मुक्त होना है। इतना माननेपर प्रश्न हो सकता है कि, किस रीतिसे यह मुक्त होगा? इस विषय में इनका कहना है कि, जीव जगत् की भोगलालसा में फंसा है। इस फंसने के कारण इसका बंध है। जगत् के भोगों की ओर से इस की दृष्टि हट जाय और वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ईश्वर में सुस्थिर हो जाय तो इसकी मुक्ति होगी। यहां पाठक ऐसी कल्पना करें कि, जीव बीच में है और वह जगत् की ओर भोगदृष्टि से देख रहा है, उस जीव के पीठ की ओर ईश्वर है, जीवके आंख जगत् की ओर लगे हैं, इस कारण वह ईश्वर को देख नहीं सकता। यदि उस की दृष्टि भोगों की ओर से हटेगी और ईश्वरपर स्थिर रहेगी, तो इसकी मुक्ति होगी। संक्षेप से इन संप्रदायों का यही आशय है।

सृष्टि की ओर झुकने से गिरावट और ईश्वर की ओर झुकने से चढ़ाव जीव की होती है। यही बंधमोक्ष की कल्पना है। इसीलिये सब मुमुक्षु जन भोगों से मन को पूर्णतया हटाकर उसे ईश्वर में लगाना चाहते हैं।

मानवके सामने सृष्टि अथवा विश्व या जगत् प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसको देखना नहीं है, उसको त्याज्य मानना और ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दीखता, किसी रीति से प्रत्यक्ष नहीं होता, उस को प्राप्तव्य मानना इनको अभीष्ट है। सब मुमुक्षुजन इसी यत्न में रहते हैं।

इन का कहना यही है कि प्रयत्न करने से जीवमें ईश्वर के गुण स्थिर होते रहते हैं, इस तरह जीव में ईश्वरभाव बढ़ता है और अन्तमें एक समय ऐसा आता है कि, वह पूर्णतया ईश्वरभाव से युक्त होता है, यही उसकी मुक्ति है। ईश्वरभाव से युक्त होते ही वह ईश्वर के साथ मिल जाता है।

माध्वमतानुयायी ऐसा कहते हैं कि, मुक्ति में भी मुक्त जीव ईश्वर का सेवक ही रहता है, कभी ईश्वर नहीं बनता, शैव कहते हैं कि, जीव का शिव बनता है और वह शिव में लीन होता है, पश्चात् सेव्यसेवकभाव नहीं रहता। आर्यसमाजी कहते हैं कि, यह मुक्ति प्रयत्न से अर्थात् निमित्त से प्राप्त है, इसलिये कुछ समय तक रहती है, पश्चात् वह जीव फिर जन्म लेता है। इस तरह सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों में भी मुक्ति के विषयमें विलक्षण मतभेद हैं। तथापि मुक्ति में ईश्वरभाव जीव में रहता है, इतना तो सब एकमत से मानते हैं। जीव की सत्ता बद्ध अवस्था में जैसी ईश्वर से पृथक् है, वैसी ही मुक्त अवस्थामें भी पृथक् रहती है, ऐसा कइयों का कहना है और कई मानते हैं कि, जीव ईश्वर के साथ मिलता है, मुक्ति में ईश्वर में मिल जाता है, पृथक् नहीं रहता। इस तरह नाना

भेद हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि, इन सब संप्रदायों को मुक्ति का निश्चित ज्ञान नहीं है। यदि इन में से किसी एकका कहना सत्य होगा, तो दूसरों का अशुद्ध ठहरेगा। हम आगे इस का विशेष विचार करेंगे और देखेंगे कि, इन में सचाई की ओर अधिक कौन है। पर यहां हमने इनके मत ही केवल लिखे हैं, उन की परीक्षा नहीं की है।

ईश्वर की अनुभवक्षेत्र में दूरता

ईश्वर सुदूर स्थान में है ऐसा माननेवाले ईश्वर को स्थान से दूर मानते हैं, अतः वह उनके लिये स्थान से अप्राप्य है। ईश्वर सदा है, इसलिये वह समीप रहे या दूर रहे, कालतः अप्राप्य वह नहीं हो सकता। परन्तु उसके पास सब जीवों की पहुंच ही नहीं है, ऐसा ये कहते हैं। घटघट में ईश्वर को माननेवाले भी अपना ईश्वर ज्ञानतः अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य मानते हैं। अर्थात् भक्त के हृदयमें परमेश्वर आकर भिड गया, तो भी वह वैसा ही अप्राप्य रहा है। सर्वव्यापक ईश्वर भी इसी कारण अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य ही रहा है। इतने मतमतांतर और संप्रदाय हुए, परन्तु ईश्वर को सुप्राप्य किसीने नहीं बताया। सभी कहते हैं कि, सहस्रों जन्म तप करते रहो, कभी ब्रह्म मिले तो मिले। घटघट में ईश्वर मानने पर भी यही अवस्था रही है।

सब कहते हैं कि, ' ईश्वर पर विश्वास रखो, उसकी भक्ति करो, किसी दिन तुम्हारे सामने वह प्रकट होगा। ' इस तरह आशा दिखाते हैं। इनसे पूछा जाय कि, जिस को किसीने देखा नहीं, जिस के दर्शन की मुझे आशा नहीं, उस पर विश्वास किस तरह रखूं? और जिस का बिलकुल पता नहीं, उस की भक्ति भी किस तरह करूं? ऐसे प्रश्न पूछनेपर ये लोग कहते हैं कि, ये प्रश्न नास्तिकपन के हैं। इस तरह प्रश्न पूछने से अपना अविश्वास

प्रकट होता है। अतः ऐसे प्रश्न पूछना योग्य नहीं।

इस तरह चारों ओर से लगी है। पर ऐसा ही विश्वास चला आ रहा है और सब ऐसा ही मानते चले जाते हैं। न देखे, अनुभव में न आये, वस्तु पर विश्वास नहीं रखा जाता, उस की भक्ति भी नहीं हो सकती। यह तो सरल और मामूली बात है। पर ईश्वरभक्त भी इस सरल बात को नहीं मानते। अस्तु।

यहां तक जो विचार हुआ, उस से यह स्पष्ट हुआ कि घटघट में ईश्वर है, ऐसा मानने पर भी ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, यह बात वैसी की वैसी ही रही है। ईश्वर सर्वत्र गुप्त है, ऐसा कहने के कारण दंभी लोगोंने नाना प्रकार के भुलभुलैय्ये ईश्वर के नाम पर रचे और अपनी आजीविका का मार्ग खुला कर रखा है। भोले लोग उस में जाकर फंसते हैं। ईश्वर को अपने हृदय में मानना और उसी के अनुभव से वंचित रहना, यह एक आश्चर्य ही है! यदि ईश्वर इसी तरह सदा गुप्त ही रहेगा, तब तो वैदिक धर्म की विशेषता ही क्या रही? ईश्वर की गुप्तता मानने के कारण इस ईश्वर के नाम पर दंभी लोगोंने जो अनर्थ किये हैं, वे किसी से नहीं छिपे हैं। इसीलिये वैदिक धर्म में जिस ईश्वर का वर्णन किया है, उस का स्वरूप अधिक स्पष्ट रीति से देखने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। यही अगले लेखों में देखा जायगा।

ईश्वर स्थानतः दूर रहनेपर समाजव्यवस्था पर वैसे ही अनर्थ हुए हैं, जैसे स्थानतः दूर माननेवालों के मतों के कारण हुए दीखते हैं। इसी तरह सृष्टि अथवा जगत् की ओर घृणा से देखने के कारण भी वैसे ही अनर्थ हुए हैं। इन का वर्णन यहाँ फिरसे करने की आवश्यकता नहीं है। जिस जगत् में रहना है, उस जगत् को ही त्याज्य ठहराने के कारण इस जगत्में स्वर्गधाम बनाने की बात ही नहीं रही। और यहां सुव्यवस्था करने के

स्थानपर अनवस्था ही बढ गयी है। अतः जिन संप्रदायोंमें ईश्वर ज्ञानतः, स्थानतः और कालतः सुदूर है, और जिसमें जगत् दुःखमय माना जाता है, वे सब संप्रदाय मानवों की स्थिति सुधारने के लिये साधक नहीं हो सकेंगे, यह बात यहां सिद्ध हुई।

द्वैतवाद

अनेक संप्रदाय द्वैत को मान रहे हैं। द्वैत का आशय यह है कि, जीव, ईश्वर, प्रकृति में स्थायी भिन्नता मानना है, जीवजीवमें भी भेद है। इस तरह इन संप्रदायों में भेद, द्वैत अथवा द्वंद्व माना जाता है। द्वंद्वभाव जहां होगा, वहां लडाई, झगडे बढना अनिवार्य ही है। इस समय का समाज इसी द्वन्द्वपर आश्रित है। इस कारण इसमें वर्गकलह, राष्ट्रकलह, जाति-कलह चल रहे हैं। बुनियाद ही द्वन्द्व की होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक है।

जो अद्वैती हैं, वे अद्वैत अर्थात् 'दो नहीं' ऐसा मानते हैं, पर 'एक है' ऐसा नहीं कहते !! तथा ये व्यवहार में भेद भाव को मानते ही हैं। इसलिये व्यवहारमें द्वन्द्वभाव के कारण युद्ध और अशांति होना स्वाभाविक है।

इस तरह इस समय जितने संप्रदाय हैं, उन सब संप्रदायों के मन्तव्यों से जगत् की पहेली हल नहीं हो रही है, इसलिये हम अगले लेख में 'वेद का मंतव्य' क्या है, इस का विचार करके बतायेंगे, कि 'वैदिक तत्त्व-ज्ञान' ही सब जगत् के अन्दर शांति और आनन्द स्थापन करने के लिये समर्थ है।

पाठक सावधानी से अगले लेख देखें—

(६)

वेदमें प्रतिपादित ईश्वर

और अन्य संप्रदायोंमें स्वीकृत ईश्वर

इस समयतक हमने (१) सब लोग क्या चाहते हैं ? (२) नास्तिकों का दुःखवाद और क्षणभंगुरवाद, (३) ईसाई और मोहमदीयों का सुदूर स्थान में रहनेवाला ईश्वर, (४) शैववैष्णवादिकों का सुदूर स्थानमें रहने-वाला, परन्तु अवतार लेनेवाला ईश्वर, (५) सब भूतों में रहनेवाला और सब भूत जिस में रहते हैं, ऐसा सर्वव्यापक ईश्वर, देख लिया ! अर्थात् इतने लेख इस विषय पर लिखे गये और इन सबमें (१) संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता, (२) विश्व बंधनकारक होनेसे त्याज्य है, (३) जन्म-मृत्यु से अपना बचाव करना चाहिये, जन्ममरण से मुक्त होना ही मुक्ति पाना है, (४) विश्व का त्याग करना और अदृश्य अचिंत्य का चिन्तन करने का ध्यान, इत्यादि बातों की समानता ही देखी। उक्त सब मत मानने-वालों में एक से दूसरे में ईश्वर समीप आने लगा, इसमें संदेह नहीं है, पर सभी मतवालों के लिये वह दूर और अप्राप्य ही रहा है !!

इसलिये हम अब वेदमें जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया है, उस ईश्वर का स्वरूप देखना चाहते हैं। यही कार्य इस लेख में तथा इसके आगे आनेवाले अनेक लेखोंद्वारा करना है।

पाठक इन लेखों का विचार मननपूर्वक करें और देखें कि वेदद्वारा प्रति-पादित ईश्वर में और अन्यान्य मतों के ईश्वर में फर्क क्या है। यह भिन्नता बडी भारी है और इस भिन्नता से समाजव्यवस्था और राष्ट्रशासन व्यव-स्था भी निभिन्न हो गयी है। अतः विशेष प्रस्तार ...

प्रतिपादित ईश्वर विषयक मुख्य सिद्धान्त ही सबसे प्रथम यहां बत देते हैं—

ईश्वर विश्वरूप है

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ (ऋ. १०।९०।२)

' पुरुष अर्थात् ईश्वर ही (इदं सर्वं) यह सब विश्व है, जो भूतकालमें हो चुका था, तथा जो भविष्यकालमें होनेवाला है, एवं जो वर्तमानकालमें विद्यमान है । ' अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य कालों में जो विश्व अथवा जो संसार है, वह सब ईश्वर का रूप है । यह वेदका कहना है, यह वेदका संदेश है, जो वैदिकधर्मियों को शिरसावंद्य मान कर प्रमाण मानना योग्य है । इसी तरह और भी देखिये—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋ. ६।४७।१८)

' इंद्र अपनी अनेक शक्तियों से अनेक रूप बना है । ' इसी लिये पूर्वोक्त मन्त्र में ' यह सब कुछ हुआ है ' ऐसा कहा है । इसी तरह यजुर्वेद में भी देखिये—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ॥

(वा. यजु. ४०।७; ईश. ७)

' (विजानतः) विज्ञानी पुरुष के लिये (आत्मा एव) आत्मा ही (सर्वाणि भूतानि) सब भूत (अभूत्) हुए हैं । ' अथवा ' सब भूत आत्मा ही बने हैं । ' अर्थात् सब भूत आत्माके ही रूप हैं, ऐसा जो जानता है, वही सच्चा विज्ञानी है । वेदका यह सिद्धांत है । इसी तरह ' विष्णुसहस्रनाम ' के प्रारंभ में ही कहा है—

' विश्वं विष्णुः (विष्णुसहस्रनामप्रारंभ)

' यह जो विश्व है, वही विष्णु है । ' अर्थात् जो भगवान् विष्णु है,

उसी का रूप यह विश्व है। विष्णुसे विश्व भिन्न नहीं है। विश्व ही विष्णु का रूप है। भगवद्गीतामें भी ऐसा ही कहा है–

वासुदेवः सर्वं। (भ. गी. ७।१९)

'यह सब कुछ (जो भी इस संसार में है वह) वासुदेव का रूप है।' वासुदेव ही यह सब संसार है। वासुदेव से भिन्न यह संसार नहीं है। तथा–

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (छां. उ. ३।१४।१)

'सचमुच यह सब ब्रह्म है' अर्थात् ब्रह्म से भिन्न इस विश्व में, इस संसार में कुछ भी अन्य वस्तु नहीं है। जो यह विश्व है, वह ब्रह्म का ही रूप है।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ।

(ऋ. ३।३८।४; यजु. ३३।२२; अथर्व. ४।८।३)

'वह विश्वरूपी इन्द्र अमर देवों के रूपमें ठहरा है।' अर्थात् यह इन्द्र विश्वरूप बना है और सब देवों के रूपों में दीख रहा है। तथा–

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः।

(ऋ. ३।५५।१९)

'सब का उत्पन्न करनेवाला देव विश्वरूपी है और वह प्रजाओं का पोषण करता है।'

इह त्वष्टारं अग्रियं विश्वरूपं उपह्वये। (ऋ. १।१३।१०)

'मुख्य विश्वरूप त्वष्टा देव की मैं प्रार्थना करता हूं।' इस तरह ईश्वर का वर्णन वेद करता है और ईश्वर को 'विश्वरूप' बताता है।

विश्वरूप का आशय

'विश्वरूप' का आशय 'सर्वरूप' है (All forms) सब रूप

जो इस संसार में हैं, वे सबके सब रूप उसी ईश्वर के ही हैं। ऐसा इन सब वचनों का आशय है।

यहां आजके विवरण के लिये इतने वचन पर्याप्त हैं। सभी पाठक इन वचनों का मनन करें और देखें कि इन से वेदका कौनसा आशय प्रकट होता है। इस विषय के प्रतिपादन के लिये हम अगले लेखोंमें वेद के अधिक वचन बतावेंगे। यह कार्य आगे अनेक लेखों द्वारा होनेवाला है। अतः स्थालीपुलाकन्याय से यहां इतने वचन पर्याप्त हैं।

भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में 'विश्वरूपदर्शन' का वर्णन है। इस विश्वका जो रूप है, वह सब परमात्मा का ही रूप है, यही उस संपूर्ण अध्याय का तात्पर्य है।

'विश्वरूपदर्शन' का अर्थ इस संसार में इस विश्वमें जो रूप है, वे सभी परमेश्वर के ही रूप हैं, ईश्वर के इन रूपोंका दर्शन इस ग्यारहवें अध्यायमें भगवद्गीतामें कराया है और बताया है कि, ईश्वरका रूप ही यह विश्व है, यह संसार ही परमेश्वर का रूप है। भगवद्गीता के इस अध्याय में परमेश्वर को 'सर्व तथा विश्वरूप' कहा है, इसका तात्पर्य यही है।

पाठक इन सब वचनों का आशय जानें और वैदिकधर्मीयों का ईश्वर सारे विश्वके संपूर्ण रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित है, यह जानें; तथा हम उसी के अन्दर हैं, यह भी ध्यान में रखें।

पाठक इतनी शीघ्रता के साथ 'विश्वरूपी ईश्वर' का स्वीकार नहीं करेंगे, यह हमें पता है। पर हम यहां पाठकों से प्रार्थनापूर्वक इतना ही कहेंगे कि, उक्त वचनों के अनुसार 'विश्वरूपी ईश्वर' है, यही बात सत्य सिद्ध हो सकती है। इस विषय के अधिक प्रमाण हम आगे के अनेक

लेखों में देंगे, तब तक ' विश्वरूप ईश्वर वेद में कहां है ' इस का स्वीकार पाठक करें और देखें कि, इस से क्या बनता है।

ईश्वर के ही सब रूप हैं

यदि सब संसार ईश्वर का रूप बना, तो संसार की प्रत्येक वस्तु ईश्वर का रूप बन गयी है, इस में सन्देह नहीं हो सकता। जो आपके चारों ओर हैं, वह सब ईश्वर का ही रूप है। पूर्वोक्त वचनों में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। ' पुरुष ही यह सब कुछ है ' (पुरुषः एव इदं सर्वं) यह वेदका कहना है। वेद का वचन ही वैदिकों का धर्म है। इसलिये पाठक इसको अपने धर्म का आदेश जानकर उस का स्वीकार करें और इस आदेशानुसार चलने का प्रयत्न करें। जो कोई वेद के आदेश को अपना धर्म मानना चाहते हैं, वे इस वचन को अपना धर्म मानें और इस धर्म का पालन करना प्रारंभ कर दें।

इस वचन का जो अर्थ ऊपर दिया है वह वैसा ही स्वीकार करने से इस विश्व में जो जो वस्तुमात्र हैं, वह सब ईश्वर का रूप सिद्ध होगा और वैदिकधर्मियोंको वैसा ही मानना होगा।

इस विश्व में यह प्रकाशमय तेजस्वी आकाश है, इस आकाश में अनेक नक्षत्र हैं, सूर्य, चन्द्र तथा विविध तारागण हैं। विद्युत् है, अग्नि, वायु आदि हैं। अन्तरिक्ष में मेघ हैं, वहां से वृष्टि होती है, जिससे भूमिपर जल प्राप्त होता है। इससे ओषधिवनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, नाना प्रकार के वृक्षादि फूलते फलते हैं। अनेक प्राणियों को खानेयोग्य अन्न इस से मिलता है।

इस भूमिपर नाना प्रकार के प्राणी हैं, गौ, बैल आदि उपयोगी पशु हैं,

व्याघ्रसिंह आदि हिंस्र प्राणी हैं, कृमिकीट अनेकानेक हैं। मानव तो भूमि पर के सभी क्षेत्रों में रहते हैं। यह सारा ही हमारे उपास्य देव परमेश्वर का रूप है। क्या यह पाठक मानने को तैयार हैं? यदि नहीं तो आगे का मन्त्र देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

(ऋ. १०।९०।१२)

'(अस्य) इस ईश्वर का मुख ब्राह्मण हैं, इस ईश्वर के बाहु क्षत्रिय हैं, इस ईश्वर की जंघाएं वैश्य हैं और पुरुष के पांव शूद्र हैं।' यह मन्त्र कहता है कि, सब मानव चार ईश्वरांगों में विभक्त हैं। ज्ञानी, शूर, किसान और कारीगर इन चार विभागों में मानवजाति विभक्त हुई है और ये चार विभाग ईश्वर के शरीर के चार अवयव हैं। अन्यान्य सब कार्य व्यवहार के लोग ईश्वर के अन्यान्य गात्रों, अवयवों और इंद्रियों में समझना योग्य है। इस मन्त्र को देखने से भी अब कोई सन्देह नहीं रहता कि, हमारा

'अग्नि वह (ब्रह्म) है, आदित्य वह (ब्रह्म) है, वायु वह (ब्रह्म) है, चन्द्रमा भी वही (ब्रह्म) है। शुक्र भी (ब्रह्म) है। ब्रह्म, जल और प्रजापति ये सब वही (ब्रह्म) हैं।' अर्थात् आप, तेज, वायु, चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र, प्रजापति (प्रजापालक राजा) ये सब ब्रह्म के रूप बताये हैं। इस तरह वेदमन्त्रों को देखने से सब संसार ही ईश्वर का रूप वेद के सिद्धांत के अनुसार सिद्ध होता है। इस की अधिक सिद्धता न करते हुए, हम यहां यही सिद्धांत मानते हैं और देखते हैं कि, इस सिद्धांत को माननेसे हमारा धर्म कैसे सिद्ध होता है और पूर्वउल्लिखित मतों से इस में विलक्षणता क्या होती है।

इस समय तक प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि, जो स्थिरचर वस्तुमात्र इस संसार में है, वह सब परमेश्वर का रूप है। अपने विचार की सुविधा के लिये पाठक ऐसा मानें कि, ईश्वर ही संसार की सब वस्तुओं के रूपों को धारण करके हमारे पास खडा है और हमारा रूप भी उन के रूपों में समिलित है।

विशेष विचार करने के लिये आप ऐसी कल्पना कीजिये कि, किसीएक उद्यान में आप अपने सौ पचास इष्टमित्रों के साथ बैठे हैं और धर्माधर्म का निर्णय कर रहे हैं। उक्त वैदिक विचारसरणी से ये सब आपके इष्टमित्र ईश्वरके रूप बने, उद्यानके छोटेमोटे वृक्ष ईश्वर के रूप बने, उनके गाडी को जोते घोडे, उनके सैस, उनके कुत्ते, बिल्लियां, नौकर चाकर सब ईश्वर के रूप बने, पावके नीचे की भूमि, पीनेके लिये लाया पानी, श्वासोच्छ्वासके लिये ली जानेवाली हवा ये सब ईश्वर के रूप बने, इतना ही नहीं परन्तु बीच का आकाश भी ईश्वर का रूप हुआ। इससे पाठकोंको पता लगा होगा कि ईश्वर खींचाखींच भरा है और महासागरमें जलबिंदु के समान हम उस ईश्वर में उस के अंश बन कर रहते हैं।

यदि उक्त वर्णन से ठीक वैदिक ईश्वर की कल्पना पाठकों के मन में उतरी होगी, तो ईश्वर सर्वत्र खींचाखींच कैसे भरा है, यह भी पाठक जान सकते हैं। बीच में कोई अवकाश रिक्त नहीं है कि, जहां ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। दो वस्तुओंके बीच वायु और आकाश रहते हैं, पर ये वायु और आकाश ईश्वर के ही रूप हैं।

पाठक जिस भूमिपर हैं, पाठक जो अन्न खाते हैं, जो पानी पीते हैं, जो श्वास से वायु लेते हैं, जिस अवकाश में घूमते हैं, जिन मानवों या पशुपक्षियों अथवा स्थावरजंगमों से व्यवहार करते हैं, वे मानव, वे पशु-पक्षी, वे स्थावर-जंगम पदार्थ ईश्वर के रूप हैं। अर्थात् आप का, सभी पाठकों का सारा व्यवहार, ईश्वर के साथ ही हो रहा है। यदि वेदका सिद्धान्त पाठक मानने को तैयार हैं, तो उन को यह बात यहां स्वीकार करनी चाहिये और इससे जो फल निकलेगा, वह मानने को तैयार होना चाहिये।

वैदिक धर्म के इस ईश्वर को मानने से ईश्वर प्रत्यक्ष ही दीखने लगता है, वह साक्षात् सर्वत्र उपस्थित दीखता है, सर्वत्र विद्यमान् है, खींचाखींच सर्वत्र ओतप्रोत भरा है, घटघट में है, दूर और समीप है, अन्दर और बाहर है, यह सारा वर्णन प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखाई देता है। किसी तरह इस वर्णन में सन्देह नहीं रहता।

आंशिक सत्य

ईसाई और मोहमदीय मतवाले ईश्वर को तीसरे आसमान में मानते हैं। वैदिकधर्मी ईश्वर को तीसरे आसमान में तो मानते ही हैं, पर उसको पृथ्वी से लेकर द्युलोकपर्यन्त सर्वत्र सब रूपों में विद्यमान मानते हैं। शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदि मतवाले उस को अपने निश्चित किये लोक में स्थित मानते हैं, पर वैदिक धर्मवाले उसे वहां तो मानते ही हैं, परन्तु अन्य सब

स्थानों में भी स्थिरचर रूप धारण किया मानते हैं। ये शैववैष्णवादि लोग उस का अवतार विशिष्ट कठिन प्रसंग में होता है, ऐसा मानते हैं, पर वैदिकधर्मी ऐसा मानते हैं कि, जो जन्मता है, वह ईश्वर का ही अवतार है। देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। (वा. यजु. ३२।४)

'यह ईश्वर सभी दिशा-उपदिशाओंमें है। यह पहिले जन्मा था और वही अब गर्भमें आ गया है। (जातः सः) उत्पन्न हुआ भी वही है, (जनिष्यमाणः सः) भविष्य में जन्म लेनेवाला भी वही है। प्रत्येक प्राणी के रूप में वही है और इसके मुख सब ओर है।' सब प्राणियों के मुख इसी के होनेके कारण सब मुख इसीके हैं। इस तरह जो जन्मा था, जो जन्म लेता है और जो जन्म लेगा, वह सब मिलकर वैदिकधर्मियों का ईश्वर है। शैववैष्णवादि किसी खास विभूतिको ही ईश्वर मानते हैं, तो वैदिकधर्मी सभी जन्मे प्राणियों को और जन्म लेनेवाले प्राणियों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। वैदिकधर्म के अनुसार सभी अवतार हैं, अर्थात् सर्वकाल ईश्वर अवतार लेता है।

सब भूतों में ईश्वर और ईश्वर में सब भूत माननेवाले भी विशेष काल में ईश्वर का अवतार होता है, ऐसा मानते हैं, पर वैदिकधर्मी पूर्वोक्त प्रकार सर्वदा ईश्वरावतार होता है ऐसा मानते हैं और सब को ईश्वररूप मानते हैं। वैदिकधर्मी की दृष्टि से सर्वत्र समदृष्टि रखना, अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना सहज बात है, क्योंकि उसको यह प्रत्यक्ष है।

इससे पाठक जान सकते हैं कि, ये सब अन्य संप्रदायवाले लोग आंशिक सत्य मानते हैं, अकेले वैदिकधर्मी ही पूर्ण सत्यका स्वीकार करने-

वाले हैं। अन्य सब संप्रदायवालों के मत में ईश्वर का दर्शन नहीं होता, पर वैदिकधर्मी ही मानते हैं कि ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन सर्वदा होता है।

संसार आनन्दपूर्ण है

सब अन्य संप्रदायों के मन्तव्य में यह संसार दुःखकारक, हीन, त्याज्य और बंधनकारक है, केवल अकेला वैदिकधर्मी ही इससे आनन्दमय मानता है, क्योंकि वैदिकधर्म का ईश्वर विश्वरूप है और विश्व ईश्वररूप होनेसे वह कदापि दुःखकारक अतएव त्याज्य नहीं हो सकता। सारे अन्य संप्रदायों में और वैदिक मंतव्य में इतना अन्तर है। सभी अन्य मतवाले डरके मारे संसारसे भागना चाहते हैं, अकेला वैदिकधर्मी ही संसार को मंगलमय अनुभव कर सकता है और संसार भर में सर्वत्र मंगलमूर्ति का दर्शन कर सकता है।

अन्य सब संप्रदायवाले जन्म से घबराते और जन्ममरण को बंधन मानते और उस कारण जन्ममरण से छुटकारा पाने के इच्छुक हैं, केवल वैदिकधर्मी की दृष्टि में जन्म से ईश्वर के विश्वरूप में अपनी सत्ता होने के कारण वैदिकधर्मी जन्म का स्वागत करता है, जन्म लेकर ईश्वर के विश्वरूप में संमिलित होकर विश्वव्यापक प्रभु के विश्वव्यापक आयोजन में अपने आपको समर्पण करनेकेद्वारा कृतकृत्यता पाने का भागी वैदिकधर्मी ही हो सकता है।

अन्य सभी संप्रदाय शरीरको बंधनरूप, पिंजरा मानते हैं, संसारको बडा भारी जेलखाना समझते हैं और गृहस्थाश्रमको तिरस्कारके योग्य समझते हैं। पर वैदिकधर्मी ही अपने शरीरको ३३ देवताओं का मन्दिर मानता है, सप्त ऋषियों का आश्रम मानता है, और यह देवमन्दिर अथवा ऋषि-आश्रम विश्वरूपी ईश्वरके इस रमणीय और आनन्दपूर्ण उद्यानमें विराजता है, ऐसा अनुभव करता है!!! वैदिकधर्मी के लिये संसार का भय नहीं, शरीर की उपेक्षा नहीं, गृहस्थाश्रम का त्याग करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब

मतोंके द्वारा उपेक्षित इस संसारको वैदिक धर्म स्वर्गधाम बनाता है, और संसारको आनन्दमय अनुभव करनेका सामर्थ्य अकेले वैदिकधर्मी में ही है!!!

सब अन्य संप्रदाय जन्मपरंपरा का विच्छेद करना चाहते हैं, अर्थात् उनके मतसे जन्म न होनेकी संभावना ही मुक्ति है, पर वैदिकधर्मी अखण्ड संतानपरंपरा अर्थात् पुत्रपौत्र परंपराका विच्छेद न होना ही मुक्ति अथवा अमरत्व अर्थात् आनन्त्य मानता है। प्रजातन्तु का सातत्य रखनेके लिये इसी कारण वैदिकधर्मी यत्न करता है।

सब अन्य मतवाले जीवन शरीरान्तरप्राप्ति को ही पुनर्जन्म मानते हैं [केवल ईसाई और मोहमदीय तथा जो दूसरे एक जन्मवादी हैं, वे पुनर्जन्म नहीं मानते,] पर वैदिकधर्मी अपने संतानमें ही अपना पुनर्जन्म होना है, ऐसा मानता है और प्रजा तन्तुको अविच्छिन्न तथा उत्तरोत्तर ईश्वरीय गुणोंके विकसित स्वरूपमें मण्डित होनेका अनुभव करना चाहता है। वैदिकधर्मी की दृष्टिमें जन्म लेना ईश्वर के विश्वरूप में स्थान प्राप्त करना है, इसलिये जन्म से घबराने का यहां कोई कारण नहीं है।

विश्वसेवाका धर्म

सब अन्य संप्रदायवाले संसार का त्याग करने के यत्न में लगे रहते हैं, इनका यह प्रयत्न वैदिकधर्मी की दृष्टि से हास्यास्पद है, क्योंकि सारा विश्व ही, सभी संसार ईश्वर का स्वरूप है, इसलिये वह कदापि त्याज्य नहीं हो सकता, विश्व तो वैदिक धर्म की दृष्टि से सेव्य है। विश्वसेवा ही वेद का धर्म है, विश्वसेवा ही परमेश्वरसेवा है और यही मानव की कृतकृत्यता करनेवाली है। वैदिक धर्म ही सच्चा सनातन धर्म है, यहां सनातन धर्म का अर्थ (सना सन् भक्तौ) सेवा- अर्थात् विश्वरूपी परमेश्वर की सेवा का (तन) फैलाव करनेवाला यह धर्म है। विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करनेके भाव का विस्तार यही धर्म कर सकता है। अन्य

संप्रदाय तो विश्वसे भागने के यत्नमें रहते हैं।

मानवों की सेवा

सब मानवसमाज, सारी मानवजाति वैदिकधर्मी के मत से नारायण (नर-अयन) का रूप है, जनार्दन (जन-अर्दन) का स्वरूप है। प्रत्यक्ष नारायण अथवा जनार्दन नरों का समष्टिरूपही है। इस की सेवा करना ही सनातन धर्म है और यही वैदिक धर्म है। सब अन्य मतवाले, सब अन्य संप्रदायवाले जनताजनार्दन का विचार तक नहीं करते, वे अपने पुनर्जन्मके विच्छेद करने में लगे रहते हैं, जो वैदिकधर्मी की दृष्टिसे एक क्षुद्र बात है। वैदिकधर्मी जन्म को कृतार्थता का साधन तथा नारायण की सेवा का साधन मानता है, अतः जन्मविच्छेद करने का इच्छुक कभी वैदिकधर्मी नहीं हो सकता। विश्वसेवा की वृद्धि करना और सर्वत्र विराजमान आनन्दका प्रकटीकरण करना ही वैदिकधर्मीका अनुष्ठान है। इसलिये विश्वमें वैदिकधर्मी के लिए अनंत कर्तव्य हैं जिन्हें वह साधक मनुष्य निष्काम भाव से करता रहता है।

अन्य संप्रदायोंमें कही ' चार मुक्तियां ' तथा ' ईश्वरकी प्राप्ति ' वैदिकधर्मी की दृष्टिसे कुछ भी विशेष मूल्य नहीं रखती है। वह तो वैदिकधर्मी की स्वाभाविक सहज प्राप्त स्थिति है। वैदिकधर्मी तो सलोकता, समीपता, सरूपता और सायुज्यता का अनुभव सदा सर्वदा करता है। ये अनुभव तो उसको स्वभाव से प्राप्त है। ईश्वर का यह अंश है, वह सदा ईश्वरमें विराजता है, ईश्वरसे वह सदा एकरूप रहता है, अतः वैदिकधर्मी सदा ईश्वरसे अभिन्न और अनन्य अपने आपको अनुभव करता है। सब अन्य संप्रदायवाले ईश्वर की अनन्य उपासना कर ही नहीं सकते, इस का कारण यही है कि, वे सब संप्रदाय ' मैं अन्य हूं और ईश्वर अन्य है,' अर्थात् ' दोनों परस्पर से पृथक् हैं' ऐसा मानते हैं। परस्परको अन्य मान-

नेवालोंसे 'अनन्य उपासना' कैसे हो सकती है? वैदिकधर्मी तो विश्व को ही ईश्वर का रूप मानता है, अतः वह अपने आपको विश्वरूपी ईश्वर का अंश अथवा विश्वरूपमें संमिलित मानने के कारण कभी ईश्वरसे भिन्न मान ही नहीं सकता, अतः वह सदा अपने आप को ईश्वरमें, ईश्वरके विश्वरूप में समाविष्ट अर्थात् ईश्वर से अपृथक् किंवा अनन्य ही देखता है इसीलिये यही अकेला वैदिकधर्मी ईश्वर की अनन्य भक्ति कर सकता है।

अंश की पूर्णता अंशीकि सेवा से ही है। वैदिकधर्मका यह मुख्य तात्पर्य है। विश्वरूप ईश्वर की सेवा करने का तात्पर्य में अपनी ही सेवा करता हूं ऐसा है, क्योंकि मैं विश्वरूप ईश्वर का अंश हूं और विश्वरूपी ईश्वर अंशी है। यहां ईश्वर और जीवका अंशी-अंश सम्बन्ध है। व्यष्टिकी दृष्टि से जीव अंश है, परन्तु जब वह अपना पृथक् अहंकार छोडकर विश्वरूपके साथ एक-रूप होता है, तब वही विश्वभावना से बोलता है। वेद में इस विश्वभावके मन्त्र भी हैं, वे आगे के लेखों में बताये जायेंगे। भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण विश्वरूप भाव से बोलते हैं और अर्जुन व्यक्तिभाव से बोलता है। विश्वरूपभावना पर आरूढ होना ही भगवान् बनना है। वैदिकधर्मी ही इस तरह भगवान् बन सकता है।

अन्यान्य सम्प्रदायों में ईश्वर की प्राप्ति जन्मजन्मांतर में कभी होगी तो होगी, पर वैदिक धर्म का ज्ञान होते ही पता लगता है कि, ईश्वर सदा प्राप्त ही है, केवल उसकी सेवा करना ही अपना धर्म है। यही व्यक्ति का कर्तव्य है।

इस तरह जितना विचार किया जाय, उतनी वैदिक धर्म की विशेषता अन्य सम्प्रदायों के मंतव्यों की अपेक्षा से स्पष्ट प्रतीत होती है। इसीलिए हम कहते हैं, वैदिक धर्म ही संपूर्ण ईश्वर का साक्षात्कार कराता है और अनन्य भाव का अनुभव भी स्पष्टता के साथ प्रकट कराता है। किसी अन्य

धर्म से जो बात नहीं सिद्ध हुई, वह वैदिक धर्मने सिद्ध करके बतायी है!

विश्वसेवा और महायुद्ध

यदि सभी देशों में वैदिक धर्म का प्रचार होगा, तो सारी मानवजाति विश्वसेवा के व्रतमें लगी रहेगी। प्रत्येक के लिये इस उपास्य देव परमात्मा की प्राप्ति अथवा पहचान होगी, तो परस्पर आदरपूर्वक सहायता करना ही एक मात्र कर्तव्य उसके लिये रहेगा। मानवजाति की सेवा करनेमें दत्तचित्त होनेके कारण सब मानव परस्परके सहायक होंगे।

ऐसा होनेपर आज के जैसा मानवोंका संहार क्योंकर होगा? ये सब देश तथा इन सारे देशोंके सभी मानव आज जो परस्पर का विध्वंस करनेमें लगे हैं, वे वैदिक धर्म का प्रचार सब देशोमें हो जानेपर परस्पर के सहायक बनेंगे। जिस समय तन, मन, धन से ये विश्वकी सेवाके लिये समर्पण होंगे, उस समय सच्चा वैदिक यज्ञ प्रारम्भ होगा। उसी वैदिक यज्ञ से सब की दैवी संपद् प्रकट होगी। वह दिन शीघ्र उदित होना चाहिये।

ब्राह्मण अपने ज्ञानके द्वारा, क्षत्रिय अपनी रक्षा शक्तिद्वारा, वैश्य धनधान्य उत्पन्न करनेद्वारा और शूद्र अपनी कारीगरीद्वारा जनता की सेवा निष्काम भाव से करें, यही वैदिकधर्म का आदेश है। विश्व में वैदिक धर्म प्रचलित न होने से क्या बन रहा है? देखिए और विचार कीजिये। इस हानि से बचाने का सामर्थ्य अकेले वैदिक धर्म में ही है।

अन्य भाव का फैलाव

जगत् में अन्य भाव का फैलाव किया गया है। वैदिक धर्म 'अनन्य भाव' का प्रतिपादन करता है। विश्वरूप अंशी है और व्यक्ति अंश है। अंशी-अंश का अनन्य संबन्ध है। यह इससे पूर्व बताया है। वैदिक धर्म के सब भूमंडलपर जाग्रत न रहने से 'अनन्यभाव' जनता के व्यवहार

से उठ गया है और सर्वत्र 'अन्य भाव' व्यवहार में लाया गया है। मानवजाति शक्तिमान होने से जो चाहती है, कर छोडती है। उसने अन्य भाव को बढाना चाहा, अतः अन्य भाव बढ गया है। आज के सब व्यवहार अन्य भाव के आश्रय से हो रहे हैं। येही दु:ख के मूल हैं, अतः 'अनन्य भाव' बढाना मानवों को योग्य है।

द्वैत, द्वन्द्व और युद्ध

जो सम्प्रदाय द्वैत माननेवाले हैं वे प्रत्येक जीव स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न अर्थात् एक दूसरेसे पृथक् है, एक दूसरेसे अन्य है, ऐसा मानते हैं। प्राय. शैव, वैष्णव, गाणपत्य, जैन, बौद्ध, ईसाई, मोहमदीय, आदि सभी इस तरह के द्वैत को मानते हैं। 'द्वैत' का अर्थ द्वन्द्व है और 'द्वन्द्व' का अर्थ 'युद्ध' ही है। द्वैत, द्वन्द्व और युद्ध ये एकार्थवाची शब्द हैं। अन्य भाव से द्वैत, द्वैत से द्वन्द्व और द्वन्द्व से युद्ध होना अपरिहार्य है। द्वैत पर अथवा अन्य भाव पर आज का समाज चल रहा है, इस कारण उसको सदा स्पर्धा करनी पडती है। स्पर्धा युद्ध का ही नाम है। इसलिये जो लोग द्वैत मान रहे हैं,वे युद्ध को ही उत्तेजना देते हैं, और युद्ध की जड अपने जीवनमें सुरक्षित करते हैं। ऐसे लोगों के व्यवहारों से जगत् में शांति स्थापन करने की आशा व्यर्थ है। इसीलिए सभी अन्य सम्प्रदाय युद्ध का क्षेत्र बढाने के कारण बने हैं। एक ही वैदिकधर्म ऐसा है कि,जो 'अनन्य भाव' को अपना मन्तव्य मानता है, सब एक ही सत्ता है, ऐसा स्वीकार करता है, समभावसे अर्थात् ब्रह्मभावसे सब की ओर देखता है, इस कारण इस धर्म से संघर्ष नहीं बढ सकता। यह इसी धर्म की विशेषता है, जो सब कालों में मानवों का हित कर सकती है।

अन्य संप्रदाय और वैदिक धर्म में यह बडा भारी भेद है, जिस कारण अन्य धर्मोंसे वैदिक धर्म विशिष्ट हुआ है। सब अन्य संप्रदायों का विचार

लिया जाय और उनकी तुलना की जाय, तो स्पष्ट दीख सकता है कि, ये सब संप्रदाय वैदिक धर्म के एक एक अंश का अवलंबन करके जीवित रहते हैं। देखिये—

१ नास्तिक

जैनबौद्धादिक- ईश्वर नहीं, जीव बनता है, संसार दुःखरूप और त्याज्य है।

२ आस्तिक

ईसाई, मोहमदीय- ईश्वर सातवें आसमान में है, वह जीवोंकी सहायतार्थ पैगंबर भेजता है, जीव उत्पन्न हुआ है, संसार दुःख और त्याज्य है।

शैववैष्णवादि- ईश्वर ब्रह्मलोक में है, वह अवतार लेकर मानवोंकी सहायता करता है, गुरु बतलाता है, साक्षात्कार-द्वारा दर्शन देता है, जीव हैं, साधनद्वारा मुक्त होते हैं। संसार दुःखमय तथा त्याज्य है।

व्यापक ईश्वरवादी- ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु विश्वसे पृथक् है। (अवतार आदि पूर्ववत् समझो)

वैदिकधर्मी— ईश्वर विश्वरूप है, प्रत्येक रूप उसी का रूप है। प्रत्येक जीव उस का अंश है, ईश्वर अंशी है। सब संसार ईश्वररूप होनेसे आनन्दमय है। इत्यादि

पाठक इन मन्तव्यों पर विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, एक से दूसरे में सुधार है। इतिहास की दृष्टिसे देखा जाय, तो यह मानना पडेगा कि—

१. मोहमदीयों का धर्म १३०० वर्ष
२. ईसाई धर्म २००० ,,

३. जैनबौद्धों के धर्म	२५०० वर्ष
४ शैववैष्णवों के मूल धर्म (शैववैष्णवपंथ आधुनिक हैं)	३००० ,,
५ व्यापक ईश्वर माननेवालों के धर्म	५००० ,,
६. वेद का धर्म	८००० वर्ष पूर्वकाल जितना माना जा सकता है।

शैववैष्णवादी पंथ जिनका उद्गम श्री० रामानुज वल्लभ आदि आचार्यों में हुआ तथा व्यापक परब्रह्म माननेवाले श्री० शंकराचार्यका काल भी आधुनिक है। इन आचार्योंने ये पंथ पुनः प्रचलित किये। इससे पूर्व समय ये मत बीज रूपसे प्रचलित थे। हमने यहां समय लिया, वह बीजमत का समझना चाहिये।

वैदिक धर्म सहस्रों वर्षपूर्व के समय का है। कई लोग उसे कल्प के प्रारंभ से मान रहे हैं। कई नये संशोधक लो० तिलक आदि उस को त्रियुग के पूर्व अर्थात् ८००० वर्ष पूर्व मानते हैं, कई २५००० वर्षपूर्व का मानते हैं, कई इस से पूर्व का समझते हैं। अतः ८००० वर्ष के पूर्व का वैदिक धर्म मानने में कोई हर्ज नहीं है, कितनी भी प्राचीनता उसकी हो, परन्तु वह ८००० वर्षों की मर्यादा की इस ओर नहीं आ सकता। अन्यान्य सम्प्रदायों की अन्तिम से अन्तिम मर्यादायें हमने ऊपर लिखी हैं।

पाठक यहां स्मरण रखें कि, हमने जानबूझकर वैदिक धर्म की आदिम से आदिम मर्यादा ली है और अन्य धर्मों की अन्तिम से अन्तिम मर्यादा ली है। इस से अनुमान करने में अन्य मतों को अनुकूलता और वैदिक धर्म के लिए थोडीसी प्रतिकूलता होगी। पर ऐसा करने पर भी वैदिकधर्म की प्राचीनता ही सिद्ध हो रही है, क्योंकि इन सब धर्मों के ग्रथोंमें वेद का उल्लेख मिलता है, इसलिए वैदिक धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

वैदिक धर्म सभी धर्मोंमें अत्यंत प्राचीन है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है। यह धर्म ऋषिकाल में प्रचलित था। पश्चात् जनता में व्यक्तिभाव बढ गया और अनन्य भाव का लोप होने लगा। जनताने 'अन्य भाव' के परिणाम इस समय तक देख लिये और द्वैतके परिणामस्वरूप ये महायुद्ध भी देख लिये हैं!! इसलिए द्वैतभाव पर आश्रित हुए समाज और राष्ट्र-शासनप्रणाली से संपूर्ण जनता का हित होना संभव नहीं है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। सभी अन्य सम्प्रदाय द्वैत का आश्रय करनेवाले हैं।

जगत् मिथ्या या ब्रह्मरूप?

एक ही अद्वैतसंप्रदाय है, पर वह जगन्मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर रहा है, इसलिये मिथ्या जगत् के अन्दर के कलह उस से शान्त होने की संभावना नहीं है। इनकी जो तत्त्वप्रणाली है, उस में जगत् को भ्रम कहा जाता है। वैदिक सदैक्यवाद के अनुसार संपूर्ण विश्व परमात्मा का रूप है; अतः वह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। यह भेद अद्वैतवाद में और वैदिक सदैक्यवाद में है। पाठक वैदिक सदैक्यवाद और अद्वैतवाद को एक न समझें। इन दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है।

मायावादी अद्वैती जगत् को मिथ्या, भ्रम, न हुआ, त्याज्य, हेय मानते हैं, पर सदैक्यवादी विश्व को ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर का रूप होनेसे प्रवाह से अनादि अनन्त सत्य और ईश्वर का रूप होनेसे ही सेवा के योग्य, उपास्य और आनन्दपूर्ण मानते हैं। अद्वैती जन्म को दुःख का कारण मानते हैं, पर सदैक्यवादी जन्म से ही ईश्वररूप में अवस्थिति होने की संभावना मानते हैं। इसलिए यद्यपि मायावादी अद्वैत मत अथवा 'अद्वैत' मानता है, तथापि वह 'एकत्व' को मानता है, ऐसा समझना भूल है। अद्वैत माननेवाले 'दो नहीं' ऐसा मानते हैं, पर वे कदापि 'एक ही है' ऐसा नहीं कहते!! पर सदैक्यवादी 'सत् एक ही है' ऐसा निःसंदेह

सकता है । नहीं तो द्वैतवादियोंने जो द्वन्द्वभाव शुरू किया, उस का फल आज का महायुद्ध है और यदि वैदिक सदैक्यवाद की पुन प्रतिष्ठा शीघ्र नहीं होगी, तो मानवजाति का संहार करनेवाला इस से भी अधिक बडा महायुद्ध होना अनिवार्य ही होगा, क्योंकि जगत् की सभ्यता इस समय 'द्वन्द्वभाव' के आश्रय से चल रही है ।

द्वन्द्वभाव का राज्य

इस विश्व में इस समय 'द्वन्द्वभाव' का राज्य है । समाज की प्रत्येक श्रेणी में यह द्वन्द्वभाव कूटकूटकर भरा है । पहिला द्वन्द्व 'राजा × प्रजा' का है, दूसरा 'पूंजीपति × मजदूरों' का है, तीसरा द्वन्द्व 'शिक्षित × अशिक्षितों' का है, चौथा द्वन्द्व 'साम्राज्यवादी × दलित मानवों' का है, पांचवा द्वन्द्व 'राष्ट्रवाद × साम्यवाद' का है, छठा द्वन्द्व 'ब्राह्मण × अब्राह्मणों' का है, सातवा द्वन्द्व किन्हीं दो संप्रदायों के संघर्ष में दीखता है, जैसा भारत में 'हिंदु × मुसलमानों' का है, आठवा द्वन्द्व 'गुरु × शिष्यों' का है, जो स्कूलों और कालेजों की हडतालों में दिखाई देता है । नववा द्वन्द्व 'अधिकारी × अनधिकारियों' का है, जो रिश्वतखोर ओहदेदारों के संबन्ध में व्यक्त होता है, दसवा द्वन्द्व 'व्यापारियों और ग्राहकों' का है । ऐसे सैकडों द्वन्द्व इस समय खडे हैं, जिन में अटकी हुई जनता सताई जा रही है । कारण के बिना ये क्लेश खडे हुए हैं । सदैक्यवाद के प्रस्थापित होने से ये सब द्वन्द्व समाप्त हो सकते हैं और संपूर्ण जनतामें परस्पर सहायता का भाव उत्पन्न होकर सारी जनता अपूर्व आनन्द-मय होने का अनुभव कर सकती है ।

सदैक्यवाद कहता है कि राजा, प्रजा आदि द्वन्द्वों में वर्तमान प्रजाजन सब ही 'सत्' भाव के अंशभाक् हैं, इसलिए उन को उचित है कि, वे परस्पर सेवा करते हुए परस्पर के सहायक बनें । द्वैतवादियों के द्वैतमत के

विशेष प्रचार से और प्रत्येक की सत्ता स्वतन्त्र तथा परस्पराश्रित न मानने से प्रत्येक जीव अपनी व्यक्तिमत्ता बढाता है और दूसरों को खा जाने का यत्न कर रहा है। इसी तरह राजाप्रजा के द्वन्द्व का विचार कीजिए। राजा कहता है कि, मेरे सुकृतसे मेरे भोगके लिए यह राज्य मुझे प्राप्त हुआ है, इसलिए मैं इस का भोग करता हूं। प्रजा तो मेरी भोग्य ही है। प्रजा कहती है, प्रजा के कारण राजा का राजापन है, इसलिए हम राजा का शासन नहीं मानेंगे। इस तरह यह द्वन्द्व इस विश्व में सर्वोपरि शासन कर रहा है। वेद का सदैक्यवाद ही इस विषय में योग्य सन्देश दोनों को देता है और दोनों को समझाता है कि, दोनों राजा और प्रजा मिलकर एक 'सत्' होता है। यहां राजा भी स्वतन्त्र नहीं है और प्रजा भी स्वतन्त्र नहीं है। राजा और प्रजा मिलकर असली एक सत्ता है, इसलिए राजा को प्रजा का सेवक और सहायक बनना चाहिये और प्रजा को राजा का सेवक और सहायक बनकर दोनों को परस्पर की सहायता करनेद्वारा 'अनन्यभाव' से सब कार्य करने चाहिए और आनन्द का अनुभव लेना चाहिये।

'अनन्यभाव' अर्थात् 'यहां दूसरा कोई नहीं, दोनों मिलकर एक सत्ता है,' इस भाव से व्यवहार करना ही सदैक्यभाव से व्यवहार करना है। इस तरह सदैक्यभाव से दोनों का पृथग्भाव अथवा द्वैतभाव दूर होता है, और सदैक्यभाव का उदय होता है, जो सब के हित और आनन्द का हेतु है।

विश्व में कोई 'दूसरा' अथवा 'अन्य' नहीं है, सब विश्वभर में एक ही अद्वितीय 'सत्' भाव है, इस को जान कर उस एक सत् के लक्ष्य के अनुरोधसे सब व्यवहार करने से सम्पूर्ण आपत्तियों का नाश हो सकता है। इस समय के राज्यशासन के कायदेकानू, विधिनियम सब के सब द्वैत-भाव को बढानेवाले हैं और सदैक्यभाव का नाश करनेवाले हैं।

देखिये एक दुकानदार अपने पास बहुत धान्यसंग्रह करता है और धान्य महंगा होनेतक उस को बंद करके रख देता है, और बडा महंगा करके बेचकर खूब धन कमाता है।

प्रजापति का धान्य है और यह सब प्रजा के पोषणके लिए उत्पन्न हुआ है। यह बात सदैक्यवादीही जान सकता है। पर द्वैतवादी इसे व्यापार-कौशल कहता है और लाभ की ओर दृष्टि रखता है। लाभपर ऐसी दृष्टि रखना सदैक्यवाद की शासनप्रणाली में नहीं हो सकता। पर आज के सब वैधनियम इन लाभदृष्टिवाले धनिकों के हितकी रक्षा करने के लिये ही बने हैं, इसलिए इन का निर्बंधन नहीं होता और यह आपत्ति अनेक प्रकारों से बढ रही है।

इस तरह सैकडों कानूनी नियम बताये जा सकते हैं कि, जिनमें समभाव तो कहीं भी नहीं है, परन्तु विषमभाव ही बढाया जा रहा है और विशेष श्रेणियोंका हित करने में और दूसरों को दबाने में दक्षता दिखायी जा रही है। जिस समय सदैक्यवाद का राज्यशासन होगा, उस समय इस तरह की विषमता नहीं रहेगी। सर्वत्र 'समभाव' अथवा 'समदृष्टि' से सब नियम बनाये जायेंगे, जो आदि कालिकाल में थे।

स्वयंशासन

प्रत्येक मानव सदैक्यवाद में स्वयंशासक बनेगा। इसलिए उस का नियमन करने के लिये दूसरे किसी शासक की जरूरत नहीं लगेगी। इस कारण राज्यशासन अल्प व्यय में होगा। इस तरह वैदिक सदैक्यवादके सर्वत्र प्रचलित होने से अनेक लाभ हो सकते हैं। इस का विवरण संपूर्ण रीति से पाठक आगे आनेवाले लेखोंमें देख सकते हैं।

(७)
वेदमें नारायणका स्वरूप

वेदमें जो ईश्वर का स्वरूप बताया है, वह किसी अन्य संप्रदाय में इस समय दिखाई नहीं देता है। वेद का ईश्वरवाद एक अद्भुत वाद है, जिसे हम इस लेखमाला के द्वारा जनता के सामने रखते हैं। इस लेख में हम बतावेंगे कि वेदमें प्रतिपादित 'नारायणका स्वरूप' किस ढंगका है। पाठक इस का विचार करें और इसको अपनाएं।

पुरुषसूक्त

चारों वेदोंमें 'पुरुषसूक्त' नामके सूक्त हैं। इनकी प्रति वेद की मन्त्रसंख्या इस तरह है—

१ ऋग्वेद में (१०।९० में)	१६ मंत्र।
२ (वाजसनेयी) यजुर्वेद में (अध्याय ३१ में)	२२ मंत्र।
३ (काण्व) ,, (अध्याय ३५ में)	२२ ,, ।
४ तैत्तिरीय आरण्यक में (३।१२।१ में)	१६ ,, ।
५ सामवेद में आरण्यकाण्ड में (६।४।६–७ में)	५ ,, ।
६ अथर्ववेद (शौनकीयसंहिता के १९।६ में)	१६ ,, ।
७ अथर्ववेद (पिप्पलाद संहिताके ९।५ में)	१४ ,, ।

इसके अतिरिक्त भी पुरुषसूक्त के मन्त्र ब्राह्मणादि ग्रंथों में आ गये हैं।

ऋग्वेद में इस सूक्तके मन्त्र १६ हैं, वाजसनेय यजुर्वेद में वे १६ मन्त्र हैं पर और ६ मन्त्र अधिक हैं। सामवेद में केवल ५ ही मन्त्र हैं। अथर्ववेद में १४ मन्त्र हैं। इनमें थोडासा पाठभेद भी है। उस का विचार हम आगे अर्थ करने के समय करेंगे। हम यहां जो वैदिक ईश्वर का विचार करेंगे, वह संपूर्ण सूक्त का विचार करके ही करेंगे। क्योंकि पुटकर मन्त्र

लेनेसे पाठकों के ध्यान में आगेपीछे का संबन्ध नहीं आता और खींचातानी होनेकी भी संभावना रहती है। इसलिये हम यहां संपूर्ण सूक्त पाठकोंके सामने रखेंगे और उस सूक्त के सब मन्त्रों का अर्थ देंगे। पाठक भी स्वयं स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करके जानें लें कि, यह संगति ठीक हुई है, या नहीं। अपनी स्वतंत्र बुद्धि के अनुसार पाठक विचार कर सकें, इसीलिए यहां संपूर्ण सूक्त के मन्त्र दिये जाते हैं। हम कोई बात छिपाना नहीं चाहते। हम यही चाहते हैं कि, वैदिक सत्य धर्म पूर्ण रूप से पाठकों के सामने आ जाय।

शतपथ का कथन

इस पुरुष-सूक्त के विषयमें शतपथ-ब्राह्मण का कथन यहां ध्यान में रखने योग्य है, इसलिए उसे हम यहां सबसे प्रथम पाठकों के सामने धर देते हैं-

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहं एव इदं सर्वं स्यामिति। ...... तेनेष्ट्वा अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वं अभवत्, अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि इदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते, यो वा एतदेवं वेद ॥ १ ॥ ... सर्वं हि प्रजापतिः, सर्वं पुरुषमेधः० ॥ ७ ॥ ... इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो, योऽयं पवते, सो अस्यां पुरि शेते, तस्मात्पुरुषः ॥ १ ॥ ब्रह्म वै प्रजापतिः, ब्राह्मो हि प्रजापतिः० ॥ ८ ॥ ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः० इत्येतेन षोडशर्चेन षोडशकलं वा इदं सर्वं, सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्य आप्त्यै० ॥ १२ ॥ (श. प. ब्रा. १३।१-२)

नारायण पुरुषने ऐसी कामना की कि मैं (इदं सर्वं स्यां) मैं स्वयं यह सब अर्थात् सब विश्व बन जाऊं और (अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि)

अधिष्ठाता भी बन जाऊं। . उसने यज्ञ किया जिससे वह (इदं सर्वं अभवत्) यह सब अर्थात् सब विश्व बन गया और (सर्वेषिष्टत् सर्वाणि भूतानि) सब भूतों का अधिष्ठाता भी बन गया। जो यह जानता है, वह भी सब बनता है और वह सब का अधिष्ठाता हो जाता है ॥ १ ॥ .. जो सब है वह प्रजापति ही है, सब ही पुरुषमेध है। ये सब लोक 'पू' हैं, जो इस पुरि में सोता है, वह पुरुष है० ॥ ६ ॥ ब्रह्म प्रजापति है और (याह) ब्रह्मके जो सब पदार्थ भी प्रजापति ही है० ॥ ८ ॥ ब्रह्मा दक्षिण दिशा में रह कर पुरुष नारायण का वर्णन 'सहस्रशीर्षा' आदि सोलह मंत्रों से करता है, इस सूक्त की सोलह ऋचाएं हैं, इसका कारण यह है कि यह सब सोलहकलाओं से युक्त है। सब ही पुरुषमेध है। सब की प्राप्ति के लिये यह पुरुषमेध यज्ञ किया जाता है। ''

शतपथ के इस प्रकरणमें 'नारायण' का वर्णन है और नारायण ही यह सारा विश्व है, ऐसा स्पष्ट यहाँ कहा है। इस तरह पुरुषसूक्त का संक्षेप से आशय शतपथ की ओर से देखने के पश्चात् हम पुरुषसूक्त का विचार करेंगे। शतपथ कहता है कि–

(१) नारायण पुरुष ने कामना की कि 'मैं यह सब विश्व बन जाऊं' और उस विश्वके बन जानेके बाद उसका अधिष्ठाता भी मैं ही बन जाऊं।

(२) इस तरह वह 'नारायण पुरुष अपनी इच्छा से विश्वरूप बन गया,' और विश्व का अधिष्ठाता भी बना है।

(३) जो इस ज्ञान को प्राप्त करता है वह सब विश्वरूप बनता है, और विश्व का अधिष्ठाता भी बन जाता है।

इस तरह शतपथ का कथन है। इस सूक्त की देवता 'पुरुष' है। यह पुरुष 'नारायण' है। 'पुरुष' और 'नारायण' एक ही 'सत्' के

नाम है। इसी को 'जगद्वीज पुरुष' भी कहते हैं। जिस से संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है, वही जगद्वीज पुरुष है। इसी पुरुष का यह सूक्त है।

पुरुषका अर्थ

'पुरुष' पदमें 'पुर्-उष, पुर्- वस्' ये दो पद है। पुरमें वसनेवाला, पुरके साथ सदा रहनेवाला, जो पुरसे कभी पृथक् नहीं होता, वह पुरुष है। जिस तरह मिश्रीमें 'रवा- मिठास 'सदा मिली जुली रहती हैं, न रवा मिठास से कभी पृथक् हो सकता है और ना ही कभी मिठास रवे से पृथक् हो सकती है, उसी तरह 'पुर्-वस्' का संबंध जानना चाहिये। रवा और मिठास का भेद कल्पना का है, वास्तविक नहीं है। इसीतरह 'पुरि- वसनेवाला' यह भेद भी केवल कल्पना का ही है, वास्तविक नहीं है। अर्थात् 'पुरुष' नामक एक ही 'सत्' है। 'प्रकृति+पुरुष' यह केवल कल्पना का भेद है वस्तु का भेद नहीं। इसलिये पुरुष नामक 'एक सत्' है, यह बताने के लिए ही यहां 'पुरुष' देवता रखी है।

सांख्यशास्त्रकार 'प्रकृति- पुरुष' का भेद वर्णन करते हैं। पर वह एक कल्पना मात्र है। प्रकृति-पुरुष मिलकर 'एक सत्ता' है, जिस एक 'सत्' से संपूर्ण विश्व बनता है।

इसी एक पुरुष ने 'मैं अनेक होऊं' ऐसा संकल्प किया, अपने संकल्प के अनुसार वह विश्व के अनेक रूपोंमें प्रगट हुआ, अर्थात् वह 'अरूप' होते हुए अपनी इच्छासे 'सुरूप' बना और स्वयं ही उस विविधरूपी विश्व का अधिष्ठाता भी बन गया। शतपथ के अनुसार इसकी संगति पाठक देखते जायेंगे, तो वेद का सत्य उनके सामने प्रकट होता जायगा।

नारायण का अर्थ

शतपथ ब्राह्मण ने कहा है कि जो 'पुरुष' है वही 'नारायण' है।

पुरुषका अर्थ हमने देखा, अब 'नारायण' का अर्थ हमें देखना है। **'नार-अयन'** ये दो पद इसमें हैं। 'नार' का अर्थ (नराणां समूहः) मानवों का समुदाय और 'अयन' का अर्थ 'गमन, प्राप्ति और आश्रय' है। अर्थात् 'नारायण' का अर्थ 'जो मानवों के समुदायों में रहा है' ऐसा हुआ। पाठक इस अर्थ को ठीक तरह स्मरण में रखें। पुरुषसूक्त के अर्थ के विचार करने के समय इसकी आवश्यकता पडेगी।

शतपथ-ब्राह्मण के पूर्वोक्त कथनानुसार जगद्बीज पुरुष नारायणने कामना की कि 'मैं नाना मानवों के रूपों में प्रकट हो जाऊं और उनका अधिष्ठाता भी मैं ही बनूं।' इस अपनी कामना के अनुसार वह सब मानवों के रूपमें प्रकट हुआ और उन सबका अधिष्ठाता भी बन गया। शतपथ में इसी को 'प्रजा-पति' कहा है। नाना प्रकार की प्रजाओं के रूपों में वह प्रकट हुआ और उनका अधिष्ठाता भी बना। पूर्वोक्त शतपथ के वचन में 'प्रजापति' पद है। यहां पाठक 'प्रजा' और 'पति' ऐसी दो विभिन्न वस्तुओं की कल्पना न करें। क्योंकि यह प्रजापति ही अपनी महत्ती इच्छा से सब प्रजाओं के विविध रूपों में प्रकट हुआ और उन सब के निर्माण होनेके पश्चात् वही उन सबका पालन भी करने लगा है।' यहां पुरुष (पुर्-वस्), नारायण (नार-अयन), प्रजापति (प्रजा-पति) ये शब्द हैं। ये द्वैत के वाचक नहीं हैं, पर 'एक सत्' के वाचक हैं, यह बात भूलना उचित नहीं है।

एक ही 'सत्' था, उसने कामना की कि, मैं एक हूं, पर मैं अब बहुत हो जाऊं। इस अपनी प्रबल इच्छासे वही एक सत् नाना रूपोंमें प्रकट हुआ। जब यह नाना रूपोंमें प्रकट हुआ, तब वही अपनी शक्ति से इस सब विश्व का अधिष्ठाता अथवा नियामक बन गया। एक ही सत् के 'विश्व और विश्व का नियन्ता' ये दो रूप बने हैं। यह भाव बताने के लिये 'पुरुष, ...

यम, प्रजापति ' ये शब्द ऊपर के वेदके वचन में प्रयुक्त हुए हैं। स्वामी दो या तीन वस्तु माननेवाले इन ही शब्दों का अर्थ द्वैत अथवा त्रैत पर करेंगे, पर पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मण के वचनों के अनुसार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि, ' एक ही सत् है, वह नाना रूपोंमें उल गया है। ' पाठक इस तत्व को कभी न भूलें।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब हम पुरुष सूक्त का विचार करते हैं–

पुरुष का स्वरूप .

जिस नारायण पुरुष का वर्णन इस पुरुष-सूक्त में किया है, जिस को प्रजापति भी कहा है, उस का स्वरूप इस सूक्त में निम्नलिखित रीति से कहा है–

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ (१०।९०।२)
० यच्च भाव्यम्। (वा. यजु. ३१।२; काण्व ३५।२)
० यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह।
(अथर्व. १९।६।४)
० यद् भूतं यच्च भाव्यम्। (अथर्व. १३।३।५४)

' यह पुरुष ही (इदं सर्वं) यह सब है, अर्थात् यह संपूर्ण विश्व पुरुष का ही रूप है। इस संपूर्ण विश्व में (यत् भूतं) जो भूत काल में बन चुका था, जो इस वर्तमान काल में बन रहा है, और जो (भव्यं) जो भविष्य काल में बननेवाला है, यह सारा विश्व इस पुरुष का ही रूप है। यही पुरुष अमृतत्व का (ईशानः, ईश्वरः) अधिपति है, इसी तरह (यत् अन्नेन अति रोहति) जो अन्न से बढता है, अन्न से पुष्ट होता है, उसका भी स्वामी यही है। ऊपर दिये अथर्व-वचन का अर्थ यह है कि, (यत्) जो (अन्येन सह अभवत्) अन्य भाव के साथ उत्पन्न होता है, अर्थात् विविध रूपों बन आता है, उन विविध रूपों का भी वही अधिपति है। जो एक-

सत् है, वही विविध रूपोंमें प्रकट हुआ है और वही अमरत्व का और वही मरनेवालों का स्वामी है। सब का वही एक अधिपति है और वही विश्व-रूपी प्रभु है। इस विश्वरूप में सब रूप आते हैं, एक भी रूप छूटा नहीं है। इस एक के ही दो रूप ये हैं—

१————————२

अमृत | मृत, (मृत्युयुक्त)
अन्नेन अति रोहति (अन्न से बढ़ता है)
अन्येन सह अभवन्, मानव

एक सत् से ही ये दोनों रूप हैं। जिस एक के ये विविध रूप हैं, वही इन रूपों का धारण करनेवाला है और वही इस विविध रूपों तथा विविध स्वभावोंवाले विश्व का अधिष्ठाता है।

यहां पाठक देखें कि ऋग्वेद और यजुर्वेद के 'ईशानः' पद का अर्थ अथर्ववेद में 'ईश्वरः' ऐसा स्पष्ट किया है। विविध शाखा-संहिताओं को देखने से इस तरह अर्थ की स्पष्टता होती है।

चतुष्पाद् पुरुष

जो पुरुष विश्वरूप बनकर हमारे चारों ओर उपस्थित है, वह चतुष्पाद है, अर्थात् चार अंशों में विभक्त होकर वह विश्वरूप हुआ है। इस का विचार पुरुषसूक्त में निम्नलिखित प्रकार किया है—

त्रिपात् पुरुष

अतो ज्यायांश्च पूरुषः ॥ ३।१ (ऋ. १०।९०)
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः ॥ ३।२ ,,
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ४।१ ,,
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्। (अथर्व० १९।६।२।१)

एकपात् पुरुष

पादोऽस्य विश्वा भूतानि ॥ (ऋ० १०।९०।३।२)
पादोऽस्य सर्वा भूतानि। (अथर्व० १९।६।३)
पादोऽस्येहाभवत् पुनः ॥ ३।२
(ऋ० १०।९०, यजु० ३१; अथर्व० १९।६)

'त्रिपात्पुरुष' का वर्णन– (अतः ज्यायान्) इस विश्व से बहुत बडा यह पुरुष है। इस पुरुष के तीन अंश ऊर्ध्व भाग में प्रकाशते हैं। इस के तीन पाद अमर हैं और वे द्युलोक में हैं। तीन पावों से उन्होंने द्युलोक पर आरोहण किया है। अर्थात् इस पुरुष के तीन हिस्से अमर स्थिति मे उच्च द्युलोक में सदा रहते हैं। यहां तीन पाद तीन अंश, अथवा तीन हिस्से का आशय ठीक तीन चौथाई भाग ऐसा नहीं समझना चाहिये। बहुतसा भाग ऐसा इसका आशय है।

'एकपात्पुरुष' का वर्णन– इस पुरुष का एक अंश ये सब भूत हैं। इस का एक अंश इस विश्व में (पुनः) पुन पुनः, वारंवार, (इह अभवत्) नाना भूतों के रूप बनता है। विश्व के रूप में इसका यह अंश वारंवार टल जाता है। यही अंश यहां विश्वरूप बनता है।

(सर्वा भूतानि पाद.) सब भूत, सब प्राणी, अथवा जो भी इस विश्व में वस्तु मात्र है, वह सब इस पुरुष का एक अंश मात्र है। विश्वरूप बननेवाला इस का यह अंश है। इसका चित्र बनाया जाय, तो वह ऐसा दीखेगा—

अगले पृष्ठ पर यह आकृति देखो

यहां यद्यपि 'त्रिपाद्' और 'एकपाद्' ऐसे पद पडे हैं और इनका 'तीनचौथाई' और 'एकचौथाई' ऐसा अर्थ है, तथापि यहां 'एकपाद' का अर्थ 'एक अलगसा अंश' ऐसा है और 'त्रिपाद्' का अर्थ 'शेष सारा
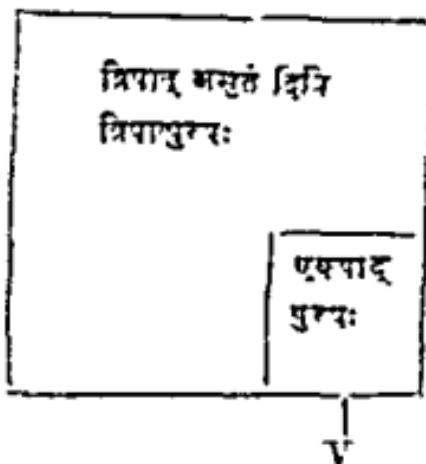
यहीं विश्वरूप बनता है।

भाग ' ऐसा है। यहां का वर्णन पुरुष का महत्त्व और विश्व का अल्पत्व बताने के लिये किया है, यह गणितशास्त्र का अंश बताने के लिये नहीं है।

नारायण पुरुष बहुत ही बड़ा है, उसकी अपेक्षा से यह विश्व अत्यन्त अल्प है, इतना ही यहां बताना है। जो विश्व हमें अनादि अनन्त दीख रहा है, वह इस नारायण पुरुष के एक अल्प अंश से बना है, अल्प अंश ही इस विश्व के रूप में बन गया है, यह मंत्र ने यहां बताया है। इसी का वर्णन वेद और कैसा करता है, यह देखिये—

तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥
(ऋ० १०।९०।५)

विराडग्रे समभवत् विराजो अधि पूरुषः।
(अथर्व० १९।६।९)

ततो विराडजायत०। (साम० ६२१)

(तस्मात्= ततः] उस नारायण पुरुष से (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में

विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। इस विराट् पुरुष के ऊपर अधिष्ठाता भी यही बना। वह विराट् बनते ही (अति अरिच्यत) अतिरिक्त अर्थात् विविध रूपों में प्रकट हुआ। पहले भूमि बनी और उसके पश्चात् उसके ऊपर के सब (पुर) शरीर बने। इस तरह यह सब संसार बना है।

इस मन्त्र से जो सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बताया है, वह यह है–

१ पहले नारायण पुरुष था, उसने इच्छा की कि मैं विश्वरूप बनूं।
२ उस पुरुष से विराट् पुरुष बना (जिसमें सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान गोल हैं, वही विराट है)।
३ प्रथम इस विराट् से पृथ्वी बनी और पश्चात् पृथ्वी के ऊपर व विविध गुणधर्मवाले शरीर बने हैं।

इस मन्त्र में (स अत्यरिच्यत) वह अतिरिक्त होता रहा, ऐसा कहा है। अतिरिक्त होने का तात्पर्य गुणों का अतिरेक होना। एक एक वस्तु में एक एक गुण का अतिरेक होते जाना। इस अतिरेक से, इस गुणों की अतिरिक्तता से यह संसार बना है। देखिये, पृथ्वी में आधार शक्ति, जल में शान्ति, अग्नि में उग्रता, वायु में जीवन प्रदान, आकाश में अवकाश, चन्द्र में आल्हाद आदि अनन्त वस्तुओं में अनंत गुणों की अतिरिक्तता अथवा विशेषता हुई है।

गुणों की विशेषता होना ही पुरुष का विश्वरूप बनना है। गुणों का विशेषीकरण यहां स्पष्ट दीखता है। नारायण पुरुषने यही कामना की कि मेरे सूक्ष्म गुणों का मैं विशेषीकरण करूंगा और मैं एक हूं तथापि मैं बहुत होऊंगा। बहुत होने का ही तात्पर्य गुणों का विशेषीकरण है। पृथ्वी होनेके पश्चात् जो उस पर विविध शरीर बने, उन में एक से दूसरेमें यह गुणों की विशेषता है। विशेषता के प्रकटीकरण से ही बहुत्व होगा है। इस तरह एक के अनेक बनकर यह सृष्टी बनी है।

विराट् पुरुष का वर्णन
[आधिदैवत]

ऊपर पुरुष सूक्त के मन्त्र से बताया कि, नारायण पुरुष से विराट् पुरुष बना। [विविधानि राजन्ते वस्तूनि अत्र इति विराट्] जिस में विविध प्रकार के सूर्यचन्द्र नक्षत्रादि तारागण प्रकाशते हैं, उसको विराट् पुरुष कहते हैं। यह विराट् पूर्ण पुरुष नारायण के एक अल्प अंश से बना है। इस का वर्णन अब देखिये-

> चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
> मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
> नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
> पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥
> (ऋ १०।९०, वा य ३१, काण्व ३५)
> श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।
> (काण्व य ३५।१२, वा य ३१।१२)

' उस नारायण पुरुष के मनसे चन्द्रमा, आंख से सूर्य, मुख से इन्द्र अथवा अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पांव से भूमि, कान से दिशाएं उत्पन्न हुई हैं। इसी तरह अन्यान्य अवयवों से अन्यान्य लोकों की उत्पत्ति होने की कल्पना की जा सकती है।'

यहां का वर्णन नारायण पुरुष के अवयवों से चन्द्रमा आदि पदार्थों की उत्पत्ति हुई ऐसा है। परन्तु इस सूक्त में, ' नारायण पुरुष के मुख बाहु उदर और पांव कौन से हैं ? ' ऐसा प्रश्न ग्यारहवें मन्त्र में पूछा है। ' इस नारायण पुरुष के अवयवों से किन किन पदार्थों की उत्पत्ति हुई, ऐसा प्रश्न नहीं पूछा है। प्रश्न के अनुकूल ही उत्तर आना चाहिये, प्रश्न पूछा ' इसके अवयव कौनसे हैं ' और उत्तर दिया ' इसके अवयवों से ये पदार्थ बने '

यह ठीक नहीं। अतः इन मंत्रों का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होना चाहिये—

'इस नारायण पुरुष का मन चन्द्रमा है, आंख सूर्य है, मुख अग्नि है, प्राण वायु है, नाभि अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, पांव भूमि है, तथा अन्य अवयव अन्य लोक हैं।' वास्तव में पंचमी और प्रथमा का आशय एक ही है, देखिये नीचे के वाक्य में—

१ मिट्टी घड़ा बनी है,

२ मिट्टी से घड़ा बना है।

इन दोनों वाक्यों का 'मिट्टी घड़े के रूप में ढल गयी है' इतना अर्थ स्पष्ट है। इसी तरह—

१ चक्षोः सूर्यो अजायत [आंखसे सूर्य हुआ।]

(ऋ. १०।९०।१३)

२ यस्य सूर्यः चक्षुः [सूर्य जिसका आंख है।]

(अथर्व० १०।७।३३)

इन दोनों मन्त्रभागों का अर्थ एक ही है। जो यह सूर्य दीख रहा है, वही नारायण का, प्रभु का आत्म, पुरुष का आंख है। अब पाठक यहां अथर्ववेद के मन्त्र में प्रथमा का प्रयोग 'चक्षुः सूर्यः' और ऋग्वेद में 'चक्षोः सूर्यः' पंचमी का प्रयोग देखें और जानें कि वेद की परिभाषा में इन दोनों प्रयोगों का तात्पर्य एक ही है और वह 'सूर्य ही परमात्माका चक्षु है' यह है। यही अर्थ उपनिषदोंमें लिया गया है। वह अब देखिये—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ, दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ (मुण्डक उप० २।१।४)

'सर्वभूतों का जो अन्तरात्मा है, उसका सिर अग्नि है, आंखें सूर्य और चन्द्र हैं, कान दिशाएं हैं, वाणी वेद है, वायु प्राण है, हृदय विश्व है,

पांव पृथ्वी है। यही सर्वभूतान्तरात्मा है।' इस मुण्डक उपनिषद् के अनुवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर्यादि लोक ही उस विराट् पुरुष के नेत्रादि अवयव हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह परमात्मा नारायण पुरुष प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। वेद और उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर प्रत्यक्ष दीखनेवाला है और वह द्युलोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, वृक्ष-वनस्पति, जलप्रवाह, मेघ, पृथ्वी आदि रूपों से हमारे सम्मुख उपस्थित है, क्योंकि ये ही इस प्रभु के नेत्रादि अवयव हैं, ऐसा वर्णन उक्त मंत्रों में किया है।

अधिभूत प्रकरण

पूर्वोक्त वर्णन 'अधिदैवत' प्रकरण में हुआ, अब अधिभूत प्रकरण का वर्णन जो इसी सूक्त में आया है, उसे देखते हैं। 'भूत' का अर्थ वेद की प्रक्रिया में 'प्राणी' है। इन प्राणियों की उत्पत्ति कैसी हुई, यह विषय अब देखिये—

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥
(ऋ० १०।९०।४।२)

तथा विष्वङ् व्यक्रामत् ॥ (साम० ६१८)
तथा व्यक्रामद् विष्वङ् अशनाऽनशने अनु। (अथर्व० १९।६।२)
ततो भूमिं व्यक्रामत् ॥ (कठ ब्रा०)

नारायण पुरुष का एक अंश यहां (पुनः अभवत्) वार वार जन्मता है, ऐसा पूर्वस्थान में कहा है। वह किस रीतिसे बनता है, यह यहां इन मंत्र भागों में बताया है। '(तत) पश्चात् यह पुरुष नारायण (विष्वङ् व्यक्रामत्) चारों ओर गति करता है और (साशन-अनशने अभि) खाने वालों और न खानेवालों के रूपों में (अभि) सब प्रकार से (अनु) अनुकूलतापूर्वक प्रकट होता है। कठ ब्राह्मण में 'भूमिं व्यक्रामत्' ऐसा पाठ

है, इसका अर्थ 'पृथ्वी पर गति करता है,' ऐसा है, अन्य वर्णन समान ही है।

इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि, वह नारायण-पुरुष इस पृथ्वी पर विविध रूप धारण करने के लिये जो गति करता है, उस गति से ही भोजन न करनेवाले मिट्टी पत्थर, स्थावर आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पश्चात् भोजन करनेवाले कृमिकीट, पशुपक्षी, मानव आदि प्राणी होते हैं।

इस तरह स्थावर जंगम सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यह इस मन्त्र का कथन है। अब पशुसृष्टी की उत्पत्ति बताते हैं—

पशुसृष्टि

पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये ॥ ८।२
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १०
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। ८।१
(ऋ० १०।९०)

पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।
(अथर्व० १९।६।१४)

'उन पशुओं की उत्पत्ति हुई। जो वायु में संचार करते हैं, वे पक्षी और अरण्य में तथा ग्राम से रहनेवाले सब पशु ये उत्पन्न हुए। उसी (तस्मात्) नारायण पुरुष से घोडे हुए और जो दोनों ओर दातवाले पशु हैं, वे सभी इसी पुरुष से उत्पन्न हुए। इसी नारायण पुरुष से गौएं भेड बकरियाँ तथा सब ग्रामीण पशु उत्पन्न हुए। ये ग्रामीण पशु होनेके पश्चात् (दूध दही मक्खन बनने के पश्चात्) घृत भी निर्माण हुआ जिससे दधि-मिश्रित घृत हुआ।

वन्य पशु, आकाशसंचारी पक्षी, तथा ग्रामीण पशु हुए और ग्रामीण पशु

होनेके पश्चात् दही और घृत ये खाद्य और हव्य पदार्थ बने। यहां तक सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बताया गया।

यह सब (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सबसे पूजनीय यज्ञपुरुष नारायण से ही उत्पन्न हुआ है। अर्थात् यही नारायण पुरुष इन पशुपक्षियों के रूपों में प्रकट हुआ है। यहां 'सर्वहुतः' शब्द का विशेष विचार करें। (सर्वस्मिन् हूयते इति सर्वहुत् तस्मात्सर्वहुतः) सब पदार्थों में जो हवनरूप समर्पित होता है, सब पदार्थों की शक्ल में जो ढल जाता है, वह सर्वहुत है। जो स्वयं अपने आपको सब पदार्थों के आकारों में ढाल देता है, वह सर्वहुत है। इस विषय में ब्रह्म का संकल्प देखिये—

> ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत।... अहं भूतेषु आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि इति, तत्सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं...पर्यत्।
>
> (श० ब्रा० १३।७।१।१)

स्वयंभु ब्रह्मने तप किया, [और ऐसा संकल्प किया] कि मैं सब भूतों में अपने आपका हवन करूंगा और सब भूतों का अपने में हवन करूंगा। इस तरह उन्होंने अपना हवन सब भूतों में और सब भूतों का हवन अपने में करके वह स्वयंभु ब्रह्म श्रेष्ठत्व को प्राप्त हुआ।'

यही सर्वमेधयज्ञ है, यही सर्वहुत यज्ञ है। ब्रह्म का यह यज्ञ समझ में आनेके लिये हम एक उदाहरण देते हैं। 'मिट्टीने संकल्प किया कि, मैं अपने आपका हवन घडे की शक्ल में करूंगा और घडे की आकृति का हवन अपने में करूंगा।' इसी तरह सर्वस्व का हवन होने से ही मिट्टी का घडा बनता है। यदि मिट्टी घडे के रूप में या आकार में अपना पूर्णतया हवन नहीं करेगी और घडे का आकार मिट्टी में पूर्णतया हुआ नहीं होगा, तो घडा बनेगा ही नहीं। मिट्टी का हवन घडे की आकृति में

होनेसे ही घडा बनता है, यह हर कोई जान सकता है। उसी तरह ब्रह्म, नारायण, पुरुष, परमात्मासंज्ञक एक ही सत् वस्तुने जब अपना हवन इस विश्व के विविध रूपों में पूर्णतया किया, तब यह विश्व इस सृष्टि के रूप में दीखने लगा। 'सर्वहुत' का यह तात्पर्य है। पाठक इसका ज्ञान ठीक तरह ग्रहण करें। पूर्वोक्त स्थान में पृथ्वी, पृथ्वी के ऊपर के स्थावर, जंगम, पशुपक्षी आदि सब पदार्थ इस तरह सर्वहुत यज्ञ से बने हैं, । यह बात कही गयी है। 'सर्वहुत' का यह आशय ठीक तरह समझना चाहिये, तब विश्वरूपी नारायण कैसा है और वही हमारा उपास्य कैसा है, इसका पता लग जायगा।

पशुसृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् मानवसृष्टि बनी है, उसका अब वर्णन देखिये-

मानवसृष्टि

स्थावरों और पशुपक्षियोंकी सृष्टि होनेके पश्चात् मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। इस मानवोंकी उत्पत्ति के विषयमें वेद के मंत्र जो वर्णन करते हैं, वह वर्णन अब देखिये-

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किं अस्य, कौ बाहू, कौ ऊरू, पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥ १ ॥
[ऋ. १०।९०]

मुखं किं अस्य आसीत् किं बाहू, किं ऊरू, पादा उच्येते ॥१०॥
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥१॥
[वा. य. ३१; काण्व. ३५]

मुख किं अस्य, किं बाहू० ॥ ५ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥६॥
सहस्रबाहुः पुरुष.० ॥ १ ॥ [अथर्व. १९।६]

"जिस पुरुष का आपने वर्णन किया, उसके अवयवों की धारणा कैसी की गयी है ? उसके मुख, बाहु, मध्यभाग, ऊरू, तथा जंघाएं और पांव कौनसे हैं ? [इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-] ब्राह्मण उस पुरुष का मुख है, क्षत्रिय इसके बाहू हैं, वैश्य इसका मध्यभाग तथा जंघाएं हैं और शूद्र पांव हैं । [इस तरह चारों वर्ण इस पुरुष के चार अवयव हैं अतः-] यह पुरुष [सहस्रशीर्षा] सहस्रों सिरोंवाला, [सहस्राक्षः] सहस्रों आंखोंवाला, [सहस्रबाहुः] सहस्रों बाहुओंवाला, [सहस्रपात्] सहस्रों पावोंवाला है, [अर्थात् अन्यान्य अवयव भी इसके सहस्रावधि हैं । इस तरह यह अनंत शरीरोंवाला नारायण पुरुष है ।] यह [भूमिं विश्वतः, सर्वतः वृत्वा, स्पृत्वा] भूमि के चारों ओर घेर कर रहता है, पृथ्वी के चारों दिशाओं में है । और यह [दशांगुलं अत्यतिष्ठत्] दस इंद्रियों से जिनके साथ व्यवहार होता, ऐसे विश्वका अधिष्ठाता हुआ है, अर्थात् सब विश्व का शासन कर रहा है । "

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्णों के लोग इस नारायण पुरुषके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं । अर्थात् यह जनता ही इस नारायणका स्वरूप है जो मानवोंके द्वारा सेवा करनेयोग्य है । इस वेदके वर्णन से यह स्पष्ट हुआ कि जैसा सूर्य, चन्द्र, इन्द्र [विद्युत्] वायु, पृथ्वी ये ईश्वर के शरीर के अवयव हैं, उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी उसी ईश्वरके शरीरके अवयव हैं और वैसे ही गाय, बैल, घोडे, भेड बकरियां भी और कृमिकीट भी उसीके शरीर के अवयव हैं । इस तरह वेदप्रतिपादित

यह सर्वभूतान्तरात्मा सब का उपास्य है, जो सबको दीखता है, उपासक अपना संबंध उसके साथ साक्षात् देख सकता है और इस ईश्वर को किस समय क्या चाहिये और इसकी सेवा किस समय कैसी करनी चाहिये, यह हरएक मानव थोडे से विचार से जान सकता है।

वेद का ईश्वर इस तरह प्रत्यक्ष है। इसके साथ मानव बातें कर सकता है, जिनके साथ बातें नहीं हो सकती, उनसे अन्य रीतिसे जाना जा सकता है कि, उनकी सेवा किस तरह करनी चाहिये। पाठको देखिये, विचारिये और निर्णय कीजिये कि इस वैदिक ईश्वर का स्वीकार आप कर सकते हैं वा नहीं ? अथवा आप इसको तुच्छ समझ कर इसको दूर करना चाहते हैं ? जैसा कि इस समय हरएक संप्रदाय इस विश्वरूपी ईश्वर का त्याग करके कभी न प्राप्त होनेवाले अदृश्य की प्राप्ति में लगा है ? आपको यदि वैदिक धर्म चाहिये, तो आपको इस विश्वरूपी ईश्वर का स्वीकार करना अनिवार्य है।

इसी के हजारों सिर हैं, इसी को हजारों आंख, नाक, कान हैं, इसी के सहस्रों मुख हैं, इसी के सहस्रों बाहू और हाथ हैं, इसी के सहस्रों पेट हैं, इसी की सहस्रों जांघें और पांव हैं। उक्त ईश्वर स्वीकारने से ही यह वेद का वर्णन ठीक तरह समझ में आता है। यह वर्णन ख्याली, निरा काल्पनिक नहीं है, यह प्रत्यक्ष वैदिक ईश्वर का वर्णन है और यह जिस समय चाहे पाठक साक्षात् देख सकते हैं। जो देखा जा सकता है, वह काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। वेद में अनेक स्थानों में इसी ईश्वर का वर्णन पाठक आगे के अनेक लेखों में देख सकते हैं। उक्त मंत्रों का आशय मुण्डक-उपनिषद् ने इस तरह दिया है—

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ (मुण्डक० २।१।७)

(तस्मात्) उसी ईश्वर से (देवा) सूर्यचन्द्रादि सब देव (बहुधा) अनेक रीतिसे (स प्रसूता) सम्यक्तया प्रसुति को प्राप्त हुए हैं।

जन्मको प्राप्त हुए हैं, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, चावल जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि यह सब उसी प्रभु से प्रसूत हुआ है।

यहां ' प्रसूत ' शब्द महत्व का है। स्त्री प्रसूत होकर सन्तान उत्पन्न करती है। अपने शरीर से पैदा होने का अर्थ प्रसूतिमें है। यद्यपि नर और मादा रूपसे मानवादि प्राणियों में प्रजा होती है, तथापि नरमादा एक ही देहम कई योनियों में होते हैं। अर्धनारीनटेश्वर का कल्पना यहां करना उचित है। क्योंकि ईश्वर जैसा पिता है, वैसा माता भी है। अर्थात् ईश्वर में मातृपितृशक्ति एक ही स्थान में हैं, इसीलिये कहा है–

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भू ।
पिता माता सदं इन् मानुषाणाम् ॥ (ऋ० ६।१।५)

' हे प्रभो ! तू सब का तारक है और सब मानवों का मातापिता तू ही है ' तथा–

अदितिः माता, स पिता। (ऋ० १।८९।१०)

' अखण्ड प्रभुही सब का मातापिता है। ' तथा और देखिये–

(१४७ पृष्ठ पर का कोष्टक देखो)

त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता शतक्रतो
बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे (ऋ० ८।९८।११)

हे प्रभो ! तू, हम सबका जैसा पिता है, वैसा ही तू हम सब की माता भी होता है ' अर्थात् परमेश्वर सब का मातापिता है। यदि वह सचमुच मातापिता है, तब तो सब प्राणी उसी से माता से उत्पन्न होने के समान ही उत्पन्न हुए हैं, इस में सन्देह नहीं है। उक्त वर्णन से सूर्य,

चन्द्र, पृथ्वी, स्थावर, जंगम, पशुपक्षी, मानव ये सब उसी से, माता से उत्पन्न होने के समान उत्पन्न हुए हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

एकपाद पुरुष से इस तरह स्थिरचर सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस तरह एक सत्स्वरूप परमात्मा का निज स्वरूप ही यह सब विश्व, यह सब संसार है। अब परमेश्वर की वाणी का रूप देखिये–

ईश्वर का वाग्रूप

जिस तरह वैदिक ईश्वर के आंख, नाक, कान, हाथ, पांव, पेट आदि हैं, उसी तरह उसकी वाणी भी है। वेदरूप वाणीहि उसकी वाणी है–

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (ऋ० १०।९०।९)
छन्दो ह जज्ञिरे तस्मात्० । (अथर्व० १९।६।१३)

" उस सर्वपूज्य पुरुष नारायण से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, तथा छन्द उत्पन्न हुए हैं। " यहां भी ' सर्वहुत् ' पद है। परमात्माने जिस तरह सब भूतों के आकारों में अपने आपको ढाल दिया, वैसा ही उसने इस वाणी में भी अपने आपको ढाला है। अर्थात् अपने ज्ञानके स्वरूप को इस वेदवाणी में प्रकट कर दिया है।

ये वेद कैसे प्रकट हुए, इस विषय में यहां शंका पाठक कर सकते हैं। वेदों की उत्पत्ति के विषय में नाना मत इस समय जनता में प्रचलित हैं। पर यदि पाठक इसी पुरुषसूक्त को अपने सामने रखकर विचार करेंगे, तो उन के सामने की वेदोत्पत्ति की समस्या हल हो जायगी। देखिये वाणी का उच्चारण मुखसे होता है, इसमें किसीको सन्देह नहीं है। इसलिये परमेश्वर का मुख यह है, ऐसा जिस समय पता लग जायगा, उस समय यह बात निःसन्देह सिद्ध होगी कि, उसी मुखसे यह परमेश्वर की वाणी प्रकट हुई है। इस पुरुषसूक्त में परमेश्वर का मुख बताया है–
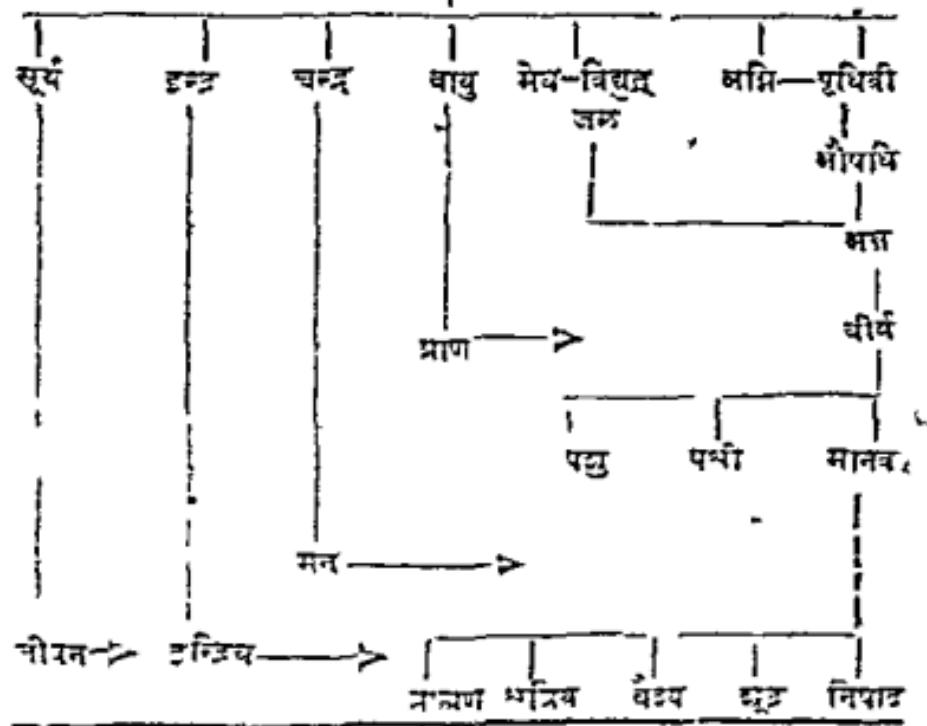
त्रिपात् पुरुष
अमर द्युलोकमें है।
एकपात्पुरुषसे
संसार बना है
सूर्य
इन्द्र
चन्द्र
वायु
मेघ-विद्युत्
जल
अग्नि—पृथिवी
औषधि
अन्न
प्राण
वीर्य
पशु
पक्षी
मानव
मन
जीवन
इन्द्रिय
ब्राह्मण
क्षत्रिय
वैश्य
शूद्र
निषाद

प्रश्न– मुखं किं अस्य ? (ऋ० १०।९०।११)

उत्तर– ब्राह्मणः अस्य मुखम् (ऋ० १०।९०।१२)

'इस प्रभु का मुख कौनसा है ? इस का मुख ब्राह्मण है। ' इसप्रश्नोत्तर से स्पष्ट हुआ कि, ब्राह्मण इस प्रभु का मुख है। अतः इस मुख से उस की वाणी प्रकट हुई है। जो ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं। जो ब्राह्मी स्थिति में पहुंचे हैं, वे ब्रह्मरूप बनते और ब्राह्मण कहलाते हैं। ये ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मण ही ईश्वरके मुख हैं। इनके मुखसे ईश्वर बोलता है, अतः इनके मुखसे निकली वाणी ईश्वर की वाणी है। ये ब्रह्मज्ञानी और ईश्वरका मुख एक ही है। यह इस पुरुषसूक्तका कथन पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे, तो उनको स्पष्ट हो जायगा कि वेद कैसे प्रकट हुए हैं।

वेदके द्रष्टा ऋषि वसिष्ट, अग्नि, भरद्वाज, मधुच्छंदा, विश्वामित्र आदि अनेक हैं। ये ऋषि ब्रह्मरूप स्थिति में जो स्फुरणसे बोले, वह ईश्वर की ही वाणी है। इसी तरह जो ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होंगे, वे जो ब्राह्मी स्थिति में स्फुरण से बोलेंगे, वह भी ईश्वर का ही सन्देश होगा, क्योंकि उस स्थितिमें वे दूसरा कुछ भी कह नहीं सकते।

पुरुषसूक्त के उपदेशानुसार वेदों की उत्पत्ति का वर्णन यह इस तरह है। पाठक इस का विचार अधिक करें। ज्ञान इस तरह उत्पन्न होने के पश्चात् ज्ञान से कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है, इसलिये अब कर्म का विचार करना चाहिये। कर्मका अर्थ ' यज्ञ ' ही है, अतः अब अग्नियज्ञ का विचार करते हैं।

इस पुरुषसूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का उपदेश करने के पश्चात् वेदोत्पत्ति का वर्णन किया। सृष्टि में अग्नि, वायु, सूर्य, आदि देवगण हैं, इन्हीं का वर्णन वेद में है और जो उपदेश वेद देता है, वह इन देवताओंके वर्णनके मिष से ही देता है। ईश्वर के अंश ही इन देवताओं के रूप में प्रकट हुए हैं

और उन अंगों का अर्थात् ईश्वर के अंगों का वर्णन वेद में है। इसीलिये सब वेद ईश्वर का ही वर्णन कर रहे हैं, ऐसा सब आप्त पुरुष मानते आये हैं।

सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति। (क० उ० १।२।१५)
वेदैश्च सर्वैः अहं एव वेद्यः। (भ० गी० १५।१५।२)

'सब वेदों से ईश्वर का ही वर्णन होता है।' और इस ईश्वर के वर्णन से ही सब धर्मोपदेश प्राप्त होता है।

यज्ञ का विचार

वेद में जो ज्ञान दिया है, वह ईश्वर के वर्णन से दिया है। ईश्वर के वर्णन का अर्थ ईश्वर के अंगों का अर्थात् नाना देवताओं का वर्णन है। सब देवताएं मिलकर ईश्वर का शरीर होता है। और सब देवताओंका मिलकर एक विश्वव्यापक महान् यज्ञ विश्वभर में चल रहा है। वेद इस तरह इस महान् यज्ञ का ही वर्णन कर रहा है। अर्थात् वेद का विचार, अथवा वेद का ज्ञान उक्त प्रकार यज्ञ की समृद्धि करनेवाला है। इस पुरुषसूक्त में इस पुरुष नारायण को 'यज्ञ' नामसे ही पुकारा है। अतः इस यज्ञ का स्वरूप हमें यहां देखना आवश्यक है, वह निम्नलिखित मन्त्रों में प्रकट हुआ है-

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातं अग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ७॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ ६॥
सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १५॥
(ऋ० १०।९०)

सं यज्ञं प्रावृषा प्रोक्षन्०। (अथर्व० १९।६।११)

(अग्रतः जातं त यज्ञं पुरुषं) सब से प्रथम प्रकट हुए उस यज्ञपुरुष

को (बर्हिषि प्रौक्षन्) यज्ञमें यजनीय मान कर संकल्पित किया और उस से देव साध्य और ऋषियोंने (अयजन्त) यजन किया। अर्थात् उस का पूजन किया। (यत् देवाः यज्ञं पुरुषेण हविषा अतन्वत) जब देवोंने पुरुषरूपी हविर्द्रव्यसे यज्ञ का विस्तार किया, तब आज्य, इन्धन और हवि क्रमसे वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु थे। जब यज्ञ का फैलाव करनेवाले देवोंने सर्वद्रष्टा पुरुष को अपने यज्ञ का उपास्य या पूज्य मान लिया, तब उस यज्ञ की सात परिधियां थीं, और (त्रि. सप्त) तीन गुणा सात समिधाएं बनी थीं। इन साधनों से ये प्रारंभिक यज्ञ किये जाते थे।

विश्वरूप महायज्ञ में जो हो रहा है उस का यह वर्णन है। इस विश्वरूपी महायज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् ये ऋतु यज्ञ करते हैं, वसन्त ऋतुमें फलों की निष्पत्ति होती है, ग्रीष्म इन्धनवत् गर्मी करता है, शरदृतुमें सस्य उत्पन्न होते हैं, वे हविके स्थान में हैं। इस तरह यह सांवत्सरिक यज्ञ इस विश्व में हो रहा है। सब देवताएं इस यज्ञ को कर रहे हैं। इस यज्ञकी निष्पत्ति अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों से हो रही है। ऋषि इस यज्ञ को देखते हैं, और अपने व्यवहारमें उस यज्ञ को लाने का यत्न करते हैं।

जैसे ये संवत्सरमें ऋतु हैं, वैसे मानवके जीवन में भी ऋतु हैं। इन ऋतुओंके अनुसार कर्तव्यरूप यज्ञ करना मानवके लिये आवश्यक है। बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, वार्धक्य ये ऋतु मानवी जीवनमें होते हैं। इन ऋतुओंके अनुसार कर्तव्य करना मनुष्य के लिये आवश्यक होता है।

इसी तरह राष्ट्र में, पंचजनोंके समूहमें ऋतुओंके अनुसार यज्ञ करना आवश्यक होता है; जिस से मानवों की उन्नति होती है।

विश्व में वसन्तादि ऋतुओंके अनुसार सूर्यादि देवताओं की शक्तियों से विश्वयज्ञ का कार्य चल रहा है। शरीरमें बाल्य, कौमार्य, तारुण्यादि ऋतुओं के अनुसार इंद्रियादिकों का कार्य चल रहा है। पंचजनोंके व्यवहारमें इस

यज्ञ को स्थापन करना और सब मानवों की उन्नति का साधन करना मानवों का कर्तव्य है। इस रीतिसे व्यक्ति, समाज और विश्व में यज्ञ का स्वरूप देखना उचित है।

यज्ञ का विचार करने के समय इस यज्ञ का साकल्य से विचार होगा। यहां इस लेखमाला में हमें केवल ईश्वरके स्वरूप का ही विचार करना है, इसलिए इस यज्ञके विषय को यहीं हम संक्षेप से समाप्त करना चाहते हैं।

इस यज्ञमें भी यज्ञस्वरूप ईश्वर की पूजा ईश्वरस्वरूपी विश्वान्तर्गत हवि-द्रव्योंसे ही की जाती है। देखिए इस का यह संक्षेप से स्वरूप है-

१. ईश्वर चार भाग है, ऐसी कल्पना कीजिये। उन मे से तीन भाग अमृतरूप हैं और चतुर्थ भाग इस विश्व के रूप मे वारंवार उत्पन्न होता है, जिस से यह विश्व बना है।

२. इस एकपाद ईश्वर से सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथ्वी, औषधि वनस्पति आदि सृष्टि बनी है।

३. इसी एकपाद विश्व से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बने हैं, जो ईश्वर के शरीर के चार अवयव हैं।

४. मानव यज्ञ करते हैं, प्रभुका यजन, पूजन करते हैं। इस यज्ञ में वे विश्व में प्राप्त पदार्थों को ही वर्तते हैं। इस का अर्थ वे 'यज्ञ से ही यज्ञीय प्रभु का यज्ञ करते हैं।' क्योंकि यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणक्षत्रियादिक ईश्वर के रूप हैं, अग्नि आदि देवता भी ईश्वर के रूप हैं, वृक्षवनस्पतियां ईश्वर का रूप होने से समिधाएं भी ईश्वर के रूप हैं, घृत आदि भी ईश्वरके ही रूप हैं। अर्थात् यह आत्माका यज्ञ आत्मा ही कर रहा है, यही भाव निम्न लिखित मन्त्रमें है-

यज्ञ का फल

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १६ ॥ (ऋ. १०।९०)

यज्ञस्वरूप परमेश्वर की पूजा यज्ञस्वरूप विश्वसामग्री से की जाती है। येही धर्म मुख्य हैं। जो ऐसे यज्ञ करते है, वे महत्त्व को प्राप्त करते हैं, जहां पूर्वसमय के सिद्ध लोग जाते और प्रकाशपूर्ण स्थिति मे रहते हैं।'

यहां 'यज्ञ से यज्ञ का यजन' होने का वर्णन है। निरुक्तकार यास्काचार्य इसीका आशय 'आत्मना आत्मानं अयजन्त' अर्थात् आत्मा से आत्मा का यजन यहा होता है, ऐसा बताते हैं। गीता मे यही भाव है-

> ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
> ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (भ. गी. ४।२४)

'आहुति ब्रह्म है, हविर्द्रव्य ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, हवनकर्ता ब्रह्म है और वह हवन करता है। इस तरह ब्रह्मबुद्धि होनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है।' यही बात इस पुरुषसूक्त मे कही है। तात्पर्य यह सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मस्वरूप है। यह इस पुरुषसूक्त से सिद्ध हुआ।

पुरुष, नारायण, देव, यज्ञ, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि नाम एक 'सत्' के है। इसी एक सत् से सूर्यादि लोकलोकान्तर हुए, इस सूर्य से बुध, शुक्र, पृथ्वी, गुरु, शनि आदि ग्रह हो गये, पृथ्वीसे वृक्षवनस्पति अन्नधीर्य होकर सब प्राणी बने। ये मानव यज्ञ करने लगे, तो उस यज्ञ के साधन विश्वान्तर्गत औषध्यादि साधन ही थे और वे एक ही 'सत्' के रूप हैं। अत. 'सत्' ही यह सब करता है, यह सिद्ध होता है। इस तरह वेदका सदैक्यवाद इस पुरुषसूक्तने सिद्ध करके बताया है।

पाठक इस वेदके सदैक्यवाद को जानें और अपनाने का यत्न करें। वेद का धर्म आचरण मे लानेके लिये है। केवल वादविवाद का यह धर्म

नहीं है। सदैक्यवादसे आचार में क्रांति होनेवाली है। इस समयका समाज द्वैतवाद का आचरण कर रहा है, उस समाज को इस संदैक्यवाद की अनन्यभाव की भूमिका पर लाना है। इस से दिव्य समाज की निर्मिति होनेवाली है। जो इसको अपनायेंगे वेही इस वेद के धर्म के संदेशहर हैं।

आगेके लेखमें पुरुषसूक्तके श्रीमद्भागवतमें लिये अनुवाद से इसी संदैक्यवादका अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा।

(८)

नारायण की उपासना

गत लेखमें बताया कि, वेदमें 'नारायणका स्वरूप' जो पुरुषसूक्त में बताया है, वह यह 'विश्व' अथवा यह 'संसार' ही है। मानवों में 'ब्राह्मण-क्षत्रिय- वैश्य- शूद्र' ये नारायण के क्रमशः सिर, बाहु, उदर और पांव हैं। अतः ये मानवों के उपास्य, पूज्य और संसेव्य हैं। इसी तरह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, मेघ, वृष्टि, वायु, पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति, नदियां, जलाशय, पर्वत आदि सब वस्तुएं जो दीखती हैं और जो नहीं दीखतीं, वे सबके सब पदार्थ मिलकर ही नारायण का स्वरूप है। यह सब संसार ही नारायण का शरीर है, इस शरीर में संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् इन सब पदार्थों का समूह मिलकर ही नारायण का शरीर है। इस में किसी भी वस्तु का त्याग करना नहीं है। सभी संसार में दीखनेवाले पदार्थ नारायण रूप हैं। इसलिये यह सब विश्वका रूप 'नारायणका रूप' होनेसे उपास्य, पूज्य और सेवा करनेयोग्य है। यह विवरण इस से पूर्वके लेख में किया गया है।

सब धर्मके लोग इस ' संसार को त्याग दो, ' ऐसा उपदेश दे रहे हैं, और वेदका ही अकेला धर्म ऐसा है कि, जो इस संसार को ईश्वर का स्वरूप बताकर उपास्य बता रहा है। पाठकोंके मन पर ' संसार तुच्छ है, ' यह भाव सब अन्य धर्मवादियोंने स्थिर किया है, इसलिये पाठक एकदम इस विश्व को ईश्वर का रूप मानने के लिये तैयार नहीं होंगे, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। धार्मिक वेदियों पर खडे रह कर आजके धर्मोपदेशक जिस तरह का उपदेश करते हैं, वह संसार को तुच्छ मान कर छोड देनेका उपदेश है, इसके विरुद्ध खडे हो कर वेद के वचनों के आधार से हम सारी जनता को यह कहना चाहते हैं कि, यह संसार ही ' सच्चिदानन्द प्रभु का रूप ' है। इस प्रभुको पहचानो, इसकी उपासना करो, *इसकी पूजा करो; तुह्मारा बेडा पार होगा। जिस को तुम त्याग रहे हो, वही तुह्मारा पूज्य प्रभु है।*

आप का प्रभु चार वर्णों और चार आश्रमों के रूप में तथा इनसे बाहर भी अनंत रूपों में आपकी उपासना लेने के लिये और आप को कृतकृत्य करने के लिये खडा है। इस प्रभु का साक्षात्कार करो, इसकी सेवा करो, इसको सेवा से अपने आप को पुनीत करो। विश्वरूप ही प्रभु है।

पाठक ऐसे लेख पढकर घबरा जाते हैं। इन वाक्यों पर पाठकोंका विश्वास नहीं टिकता। अपने आंखसे ईश्वर दीख सकता है, यही उनको विलक्षण दीखता है ! पर जो वेदादि शास्त्रों का सत्य सिद्धान्त है, वह यही है। इसलिये पाठकों से निवेदन यह है कि, जो हम लिख रहे हैं, वह इन वचनों से सिद्ध हो रहा है या नहीं, इतना ही पाठक देखते जाँय। अभी और दस पांच लेख होने तक शंकाएं उपस्थित करके संदेह में न पडें। यदि आगे के लेख पढकर भी वाचकों के पास इस विषय के वेदादि शास्त्रों के पर्याप्त वचन न पहुँचे और इस विषय के प्रतिपादन से पाठकों के मन में

शंकाएं रहीं, तो फिर जितने चाहे उतने प्रश्न पूछना योग्य होगा।

इस लेख में पुनः पुरुषसूक्त के नारायण के स्वरूप का ही विचार करना है। गत लेख में हमने पुरुषसूक्त का जो विचार किया और उससे जो नारायण के स्वरूप का दर्शन पाठकों को बताया, वही स्वरूप श्रीमद्भागवत में अनेकवार पुरुषसूक्त के ही आधार से बताया है। अर्थात् हमने पुरुषसूक्त का जो अर्थ गत लेख में किया, वैसा ही अर्थ श्रीमद्भागवतकारने अपने ग्रन्थमें प्रतिपादित किया है, देखिये–

पश्यन्त्यदो रूपं अदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकम् सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ४
एतन्नानावताराणां निधानं वीजं अव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देव-तिर्यङ् नरादयः ॥ ५ ॥
(श्री. भागवत १।३)

" मनुष्य (अ-दभ्र-चक्षुषा) विशाल दृष्टिसे (अदः रूपं) इस रूपको, ईश्वर के इस रूपको (पश्यन्ति) देखते हैं। इस रूप के हजारों पांव, हजारों जंघाएं, हजारों हाथ और हजारों मुख हैं, इसलिये यह रूप अद्भुत है। इस रूप में हजारों सिर, हजारों कान, हजारों आंखें और हजारों नासिकायें हैं, इसी तरह इसमें हजारों किरीट हैं, हजारों वस्त्र परिधान किये हैं, हजारों कुंडल इसने धारण किये हैं अर्थात् हजारों कर्णभूषण इसने धारण किये हैं, अतः ऐसे अलंकारों से यह प्रभु यहां शोभायुक्त हुआ है। यही ईश्वर (नानावताराणां निधानं) अनेक अवतारों का लयस्थान है, अर्थात् यहीं अनेक अवतार लेता है और यही (अव्ययं वीजं) सब का अविनाशी बीज है, अर्थात् इससे ही सब विश्वकी उत्पत्ति होती है। (यस्य अंश-अंशेन) इस ईश्वर के अंशके अंशसे अर्थात् इसके अत्यन्त अल्प अंश से देव, पशु, पक्षी तथा मनुष्यों की उत्पत्ति होती है।'

देव अर्थात् सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि; पशु, पक्षी तथा मनुष्य इसी ईश्वर के एक अल्प अंशसे उत्पन्न होते हैं । मनुष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य मानवों का समावेश होता है ।

पाठक इस वर्णन में पुरुषसूक्त का ही अर्थ देख सकते हैं । पुरुषसूक्त के प्रथम मन्त्र में ' हजारों सिर, बाहु, आंख और पावोंवाला पुरुष ' वर्णन किया है और बारहवें मन्त्रमें इस ईश्वर के ' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये सिर, बाहू जंघा और पांव हैं ' यह बात कही है । यही वर्णन इस श्लोक में है । यहां जो (तिर्यक्) शब्द है, उस का अर्थ पशुपक्षी है । इन का वर्णन पुरुषसूक्त में आरण्यक, वायव्य और ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति के वर्णन के प्रसंग में मन्त्र ८ और १० में आया है । इस तरह पुरुषसूक्त के आधारपर ही ये श्लोक श्रीमद्भागवतकारने रचे हैं ।

हजारों शिरोभूषण; हजारों वस्त्र, हजारों कपडेलत्ते, हजारों आभूषण इस नारायणने धारण किये हैं, ऐसा यहां कहा है । यह वर्णन पाठक प्रत्यक्ष देख सकते हैं । इस पृथ्वीपर के सब मानव जो वेषभूषा अपने शरीरपर पहन रहे हैं, वह सब इस ईश्वर की ही पहनी हुई है । इसलिये इस ईश्वर के शरीरपर लाखों पगडियां, लाखों टोपियां, लाखों साफे, लाखों कोट और अन्यान्य वस्त्र हैं । इसके पांवों में भी अनेक प्रकार की जूतियां हैं । मानवप्राणी जो कुछ पहन रहा है, वह सब इस नारायण के शरीरपर ही पहने कपडे हैं । यह वर्णन देखने से स्पष्ट हो जाता है कि संपूर्ण मानवजाति मिलकर ही यह ईश्वर है । यही पुरुषसूक्त का वेदोक्त वर्णन है । यह प्रभु साक्षात् दिखाई देता है ।

यहां कई लोग कहेंगे कि, यह तो परमेश्वर का रूप नहीं है । इनकी शंका दूर करने के लिये निम्नलिखित श्लोक हम पाठकों के सामने धर देते हैं—

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥
(श्रीभागवत० १।३)

इस परमेश्वर के अवयवों के स्थानोंपर नाना लोकों के विस्तार की कल्पना की है । अर्थात् इस के अवयवों के स्थानपर नाना लोक रहते हैं। यही (भगवत रूप) भगवान का रूप है और यही (विशुद्ध सत्त्व ऊर्जित) परिशुद्ध, सात्त्विक और सामर्थ्यवान् रूप है । यही बडा महत्त्व का ईश्वरस्वरूप है ।

इस श्लोक को देखने से पाठकों को पता चलेगा कि, यही जो विश्वका रूप है, वही ईश्वर का ' शुद्ध सात्त्विक रूप है ।' यदि पाठकोंको प्रभुका शुद्ध सात्त्विक रूप देखने की इच्छा है, तो वे इस रूप को देखें, जो सब विश्वके रूप में सब के सामने प्रकट है । यह पूजा के योग्य, उपासना के योग्य और सेवा के योग्य रूप है ।

पाठक विश्व को तुच्छ और त्याज्य समझ रहे हैं और इस विश्व से भिन्न ईश्वर को ढूंढ रहे हैं ! पर वेद का पुरुषसूक्त तथा ऊपर दिया श्री भागवत का अर्थ इसी विश्वके रूप को ईश्वर का शुद्ध, सात्त्विक रूप करके बता रहे हैं । पाठक देखें कि सत्य कहां छिपा है । और देखिये—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥ २४ ॥
अण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ २५ ॥
(श्री. भागवत २।१)

विशेष करके उस ईश्वर का यह देह बडे देहधारियों से भी बडा है। इस देह में भूत, वर्तमान और भविष्यकाल का संपूर्ण विश्व दिखाई देता

है। इस ब्रह्माण्ड के कोश में सात आवरण हैं, यही विराट् पुरुष कहा जाता है और योगी इसीपर धारणा करते हैं। अर्थात् योगियों की ध्यान-धारणा का यह आधार है।'

जो पूर्वस्थान में विराट् पुरुष कहा है, वही उपास्य देव है। योगसाधन करनेवाले इसी की ध्यानधारणा करते हैं। अब इस का विशेष वर्णन देखिये—

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥
उरस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतंगः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद् भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ३०
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥ ३१ ॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मस्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः ३२
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ॥ ३३ ॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् वासस्तु संध्यां कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥ ३४ ॥

विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ॥ ३५ ॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः॥ ३६ ॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्मवितानयोगः ॥ ३७ ॥
(भाग० २।१)

ब्रह्मोवाच—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ १४ ॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥ ३५ ॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥ ३७ ॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥ ३९ ॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जंघाभ्यां च तलातलम् ॥ ४० ॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलतः इति लोकमयः पुमान् ॥ ४१ ॥
(श्री० भाग० २।५)

उक्त वर्णन हम निम्नलिखित तालिका में रख देते हैं, जिससे पाठकोंको समझने की सुविधा होगी। पूर्वोक्त श्लोकों में जिस क्रम से प्रभु का वर्णन है, उसी क्रम से निम्नलिखित तालिका में दर्शाया है–

ईश्वर के अवयव	लोकलोकान्तर
,, पांव	पाताल
,, पांवके आगेपीछे के भाग	रसातल
,, एड़ी	महातल
,, पिंडलियां (२६)	तलातल
,, घुटने	सुतल
,, जंघाएं	वितल, अतल
,, कमर	महीतल, भूः
,, नाभि (२७)	अन्तरिक्ष, भुवः,
,, छाती	तारामंडल, स्वः
,, गला	महर्लोक, महः
,, मुख	जनोंलोक, जनः
,, ललाट	तपोलोक, तपः
,, सिर (२८)	सत्यलोक, सत्यं
,, बाहु	इन्द्र आदि देव
,, कान	दिशाएं
,, नाक	अश्विनौ देव
,, घ्राणेंद्रिय	गन्ध
,, मुख (२९)	प्रदीप्त अग्नि
,, आंख	अन्तरिक्ष
,, दृष्टि	सूर्य

	पलके	दिनरात
,,	भौंहोंका विस्तार	ब्रह्मलोक
,,	तालु	जल
,,	ईश्वर की जिह्वा (३०)	रस
,,	छंद (वेद)	मस्तिष्क
,,	दाढ	यम
,,	दांत	प्रेम
,,	हास्य	मायाकौशल
,,	नेत्रकटाक्ष (३१)	सृष्टि-उत्पत्ति
,,	ऊपर का होंठ	लज्जा
,,	निचला ,,	लोभ
,,	स्तन	धर्म
,,	पीठ	अधर्म
,,	शिस्न	प्रजापति (ब्रह्मा)
,,	अण्डकोश	मित्रावरुण
,,	कोख	समुद्र
,,	हड्डियाँ (३२)	पर्वत, पहाड
,,	नाडियाँ	नदियाँ
,,	केश	वृक्षवनस्पतियाँ
,,	श्वासोच्छ्वास	वायु (बल)
,,	गति	काल
,,	कर्म (३३)	संसार (प्राणियों की हलचल)
,,	लंबे बाल	मेघ (जलधाराएं)

,,	रंगीन वस्त्र	संध्या
,,	हृदय	अव्यक्त प्रकृति
,,	मन (३४)	चन्द्रमा
,,	विज्ञान	महत्तत्त्व
,,	अन्तःकरण	रुद्र (गिरीश)
,,	नाखून	घोड़े, खचर, ऊंट, हाथी
,,	कमरस्थान (३५)	मृगादि पशु
,,	शिल्प	पक्षी
,,	बुद्धि	मनु
,,	निवास	मानव
,,	स्वर	गन्धर्व, विद्याधर, चारण अप्सरा
,,	स्मरण (३६)	असुरश्रेष्ठ (प्रल्हाद)
,,	मुख	ब्राह्मण
,,	भुजाएं	क्षत्रिय
,,	जघाएं	वैश्य
,,	पाव	शूद्र
,,	कर्मयोग (३७)	यज्ञ

इस तालिकासे पूर्वोक्त श्लोकोंका आशय पाठकोंके ध्यान में आ जायगा। परमेश्वर के शरीरके किस अवयवके स्थान में कौनसे देवता हैं, यह ऊपर बताया है। इस से सब विश्व ही परमात्मा के देह के रूप में हमारे सामने हैं, यह बात सिद्ध हुई। अब अगले श्लोकों का अर्थ देखिये--

द्रव्य (पचमहाभूत), धर्म, काल, स्वभाव तथा जीव यह सब ही परमेश्वर से भिन्न नहीं है। तस्मात यह विश्व ही विष्णु का स्वरूप है। (१४)

ब्रह्मांड का भेद करके यह विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ, इस पुरुष को सहस्रों जघाएं, सहस्रों पांव, सहस्रों आंख और इसी तरह सहस्रों सिर और मस्तक हैं। (३५)

इस पुरुष के शरीर के अवयवों के स्थानों में सब विश्व की रचना होती है। इस पुरुष के कमर के नीचे सात लोक हैं और कमर के ऊपर सात लोक हैं। (इस तरह चतुर्दश भुवनों का इस परमात्मा का शरीर है।)

आगे का आशय निम्नलिखित तालिका में देते हैं-

ईश्वर के अवयव	विश्व के पदार्थ
,, मुख	ब्राह्मण
,, बाहू	क्षत्रिय
,, जंघा	वैश्य
,, पांव (३७)	शूद्र
,, पांव	पृथ्वी, भूः
,, नाभि	अन्तरिक्ष, भुव.
,, हृदय	स्वः
,, छाती (३८)	महः
,, कंठ	जनः
,, होंट	तपः
,, स्तन	सत्य
,, सिर	ब्रह्मलोक
,, कमर	अतल
,, जघा	वितल
,, घुटने	सुतल
,, पिंडरियां (४०)	तलातल

”	एडियां	महातल
”	पांव	रसातल
”	पांवका तल	पाताल

इस तरह यह सर्व-लोक-मय प्रभु का शरीर है। यही वर्णन संक्षेप से पुरुषसूक्तमें है, जिसका विस्तार यहां किया है। और भी देखिये—

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥ १ ॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥ २ ॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ॥ ३ ॥
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ॥ ४ ॥
रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु संभृतः।
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ॥ ५ ॥
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्।
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ॥ ६ ॥
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ॥ ७ ॥
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः।
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ॥ ८ ॥
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः।
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ॥ ९ ॥
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः।
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ॥ १० ॥

उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ।
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ॥ ११ ॥
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ।
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ॥ १२ ॥
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ॥ १३ ॥
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ।
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ॥ १४ ॥
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः ।
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥ १५ ॥
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ॥ १६ ॥
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ।
सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ॥ १७ ॥
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ।
इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥ २७ ॥
इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥ ३२ ॥
(श्री० भा० २।६)

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु—
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चिः ॥ ३६ ॥
(श्री० भा० ७।९)

निम्नलिखित तालिका में ईश्वर के अवयव, उस अवयव में देवता और उसका स्थान बताया है—

ईश्वर के अवयव	प्रयोजन	देवता
" मुख	वाणी	अग्नि
" सप्तधातु	छंद	वेद
" जिह्वा (१)	रस	अन्न
" नथुने	प्राण	वायु
" घ्राणेंद्रिय (२)	प्राण	अश्विनौ, औषधि, गन्ध
" आंख	रूप	तेज, अग्नि, सूर्य
" कान (३)	शब्द	दिशा, आकाश
" त्वचा	स्पर्श	वायु
" केश (४)	यज्ञ, मेघ	वृक्ष, पर्जन्यधारा
" श्मश्रु		विद्युत्
" नख (५)		लोह
" बाहु	ग्रहण	इन्द्रादि देव
" पाव (६)	आश्रय,	गमन पृथ्वी
" शिस्न	आनंद	जल, पर्जन्य
" वीर्य (७)	उत्पत्ति	प्रजापति
" गुदा (८)	मलत्याग	यम, मित्र, मृत्यु
" पीठ	अज्ञान	अधर्म
" नाडियाँ (९)	रुधिरप्रवाह	नद, नदियाँ
" अस्थि		पर्वत
" पेट	अन्नरस	अव्यक्त
" हृदय (१०)	मन	अन्तरिक्ष

इस तरह परमेश्वर के इंद्रिय अवयव, वहां की देवता, उसका स्थान और कर्म यहां कहा है। संक्षेप से ११ श्लोंको की यह तालिका बनायी है।

आगे श्लोक १२ से १५ तक का आशय यह है कि ब्रह्मा, शंकर, ऋषि, देव, दानव, मानव, हाथी, गधे, हिरन, सर्प, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, पिशाच, पितर, पशु, सिद्ध, स्तुतिपाठक, वृक्ष, जलचर, स्थलचर, आकाशगामी पक्षी आदि प्राणी, इसी तरह शनि, गुरु आदि ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु, तारका, विद्युत्, मेघ आदि सब जो पूर्वकाल में (भूतं) हो चुका है; (भव्यं) भविष्य में जो होनेवाला है, तथा (भवत्) जो आज विद्यमान है, यह (इदं सर्वं) सब (पुरुष एव) यह नारायणपुरुष ही है। यह सब विश्व उसके वितास्तिमात्र है। यह पुरुष ही स्वयं होने के कारण इसने सह व्याप लिया है, (जिस तरह मिट्टी घडे को व्यापती है)। (१२-१५)

सूर्य जिस तरह अपने अन्दर और बाहर प्रकाश करता है, उस प्रकार यह नारायणपुरुष अपने विराट् स्वरूप को प्रकाशित करता है और अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रकाश देता है (१६)। जहां मृत्यु और भय नहीं है, ऐसे मोक्षस्थान का यह स्वामी है। यह भोग से दूर रहने के कारण इस का यह महिमा अवर्णनीय है। (१७)

इस पुरुष के अवयवों की सामग्री से ही मैंने इस नारायणपुरुषकी पूजा की। (२७) अर्थात् यज्ञ की जो सामग्री समिधा, हविर्द्रव्य, घृत, दुग्ध, अन्न आदि सब, इस ईश्वर के ही अवयव हैं। इस पुरुष के अवयवरूप-सामग्री से ही मैंने पुरुष का यजन किया है।

तात्पर्य इस सदसदात्मक विश्वमें भगवान् को छोडकर अर्थात् ईश्वर से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। (३२) जो है, वह नाना रूपोंके द्वारा भगवान् ही है।

इस प्रकारके हजारों हस्त, पाद, सिर आदि अवयववाले ईश्वर का

साक्षात्कार करके ब्रह्मा भी प्रसन्न होता है। (३६) जो इसको ऐसा जानेगा, वह भी इसी तरह प्रसन्न होगा। प्रसन्नता की प्राप्ति का यही एक अखण्ड साधन है। तथा–

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स वै महापुरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥
अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३३ ॥
सोमं मनो यस्य समामनन्ति दिवौकसां यो बलमन्ध आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३४ ॥
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन्स्वधातून् प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३५ ॥
यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३६ ॥
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३७ ॥
श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३८ ॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादान्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३९ ॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययासन् धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात् प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४० ॥
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेद शूद्रौ प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४१ ॥
लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युतिर्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः।

भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४२ ॥
(श्री० भा० ८।५)

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥ २६ ॥
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो द्यौर्भगवन् शिरस्ते ॥ २७ ॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।
छन्दांसि साक्षात्तव सप्त धातवस्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥ २८ ॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥ २९
(श्री० भा० ८।७

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥ १४
यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १६ ॥
(श्री० भा० १०।४१)

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥
(श्री० भा० ११।१७)

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥ ६ ॥
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः ।

सद्याहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७ ॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः ।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥ ८ ॥
(श्री० भा० १२।११)

इन श्लोकों में आये वर्णन की तालिका देने की यहां आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यही अनेकवार इससे पूर्व दी गयी है। पर यहां ये श्लोक इसलिये दिये हैं कि, पाठक यह जानें कि श्रीमद्भागवत में दस वार पुरुषसूक्त का अनुवाद दिया है। जिस सूक्त का बार बार अनुवाद दिया जाता है और एक ही ग्रन्थ में दस वार वही विषय दुहरा जाता है, तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, इसका महत्व बहुत ही अधिक है। पुरुषसूक्त का यह महत्व है। दस वार एक जैसा अनुवाद करके श्रीमद्भागवतने पुरुषसूक्त का आशय स्पष्ट किया है, जो हमने गत लेख में बताया, वही आशय इस सूक्त का है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। अत. अब इस में कोई सन्देह नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—

१ सब मानवरूप ईश्वर है, जिसका ज्ञानी सिर है, शूर बाहू है, कृषि-कर्मकारी पेट है और कर्मचारी पांव है। मनुष्य का उपास्य देव यही है।

२ ऊपर आकाश में दीखनेवाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रोंसे लेकर भूमितक के अवकाश में जो कुछ है, वह भी ईश्वर का रूप है। इस साधन से मानव-रूपी ईश्वर की सेवा करनी है।

· मानवसमाज की सेवा करना ही मानव का धर्म है। यह सेवा करनेका साधन इसी विश्वके अन्तर्गत पदार्थ हैं। अतः यह आत्मासे आत्मा की, यज्ञ से यज्ञ की, पुरुष से पुरुष की सेवा कही जाती है।

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः। (ऋ० १०।९०।१६)

यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप ईश्वर के पूजन करने का जो विधान पुरुषसूक्त के अन्तिम मन्त्र में किया है, इस का यह आशय है। इस का अधिक स्पष्टी-

करण आवश्यक हो, तो वह इस तरह हो सकता है ।

एक द्विजने एक अतिथि को जल दिया। इसमें आत्माद्वारा आत्माने आत्मा की पूजा की । यह कैसे हुआ, सो देखिये—

१ अतिथि ब्राह्मण हुआ, तो वह ईश्वरका मुख है, अर्थात् ईश्वररूप है ।

२ जल देनेवाला भी ईश्वरका अवयव ही है, क्योंकि वह त्रैवर्णिक होनेसे ईश्वरके शरीरका वह अंश है ।

३ जल तो ईश्वर का वीर्य ही है । अत यह भी ईश्वर का भी अंश है, अत --

एक द्विजने एक अतिथि को जल दिया, इस का अर्थ ईश्वरने ईश्वर को ईश्वरके द्वारा सेवा की, अथवा आत्माने आत्माद्वारा आत्मा की उपासना की, किंवा मैंने अपने द्वारा अपनी सेवा की, या यजने यजके द्वारा यजपुरुषका यजन किया । इन सब वाक्यों का अर्थ वैदिक परिभाषासे समान ही है, देखिये-

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवा। (ऋ० १०।९०।१६)

अग्निना अग्निं अयजन्त देवा । (निरु० दै० १२।४।२८)

आत्मनात्मानं अयजन्त देवा ।

यहां ' यज ' पद का अर्थ अग्निपद से किया है। इसी तरह पुरुषसूक्त का अर्थ श्रीमद्भागवत में किस तरह किया है, यह अब देखिये-

(१)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । (ऋ० १०।९०।१)

इस मन्त्र का अर्थ श्रीमद्भागवतकार निम्नलिखित रीतिसे करते हैं-

सहस्र-उरुअङ्घ्रि-बाहुअक्षः, सहस्र-आननशीर्षवान् ।

(श्री० भा० २।१।२५)

सहस्र-पाद्-उरु भुज-आनन-अद्भुतं ।

सहस्र-मूर्ध-श्रवण-अक्षि-नासिकं ॥ (श्री० भा० ३।३।४)

देखिये, ऊपर के मन्त्र का भाव कैसा बताया है। और देखिये—

(२)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। (ऋ० १०।९०।२)
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्। (श्री० भा० ७।६)

इसी तरह निम्नलिखित मन्त्र का अर्थ देखिये—

(३)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(ऋ० १०।९०।१२)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

ब्रह्म-आननं क्षत्र-भुजो महात्मा
विड्रुरः अंघ्रिश्रितकृष्णवर्णः। (श्री० भा० ३।१।३७)
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रं एतस्य बाहवः।
उर्वोः वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥
(श्री० भा० ३।५।३७)

विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं। राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
उर्वो विड् ओजोऽङ्घ्रिरेव शूद्रो० (श्री० भा० ८।६।४१)
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥
(श्री०भा० ११।१७।१३)

(४)

पादोऽस्येहाभवत् पुनः। (ऋ० १०।९०।४)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

यस्य अंश-अंशेन सृज्यन्ते देव-तिर्यङ्नर-आदयः ।
(श्री० भा० १।३।५)

(५)

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
(ऋ. १०।९०)

इन मन्त्रोंका अर्थ श्रीमद्भागवतमें निम्नलिखित रीतिसे किया दीखता है-
इन्द्रादयो बाहवः आहुः उस्राः, कर्णौ दिशः, श्रोत्रं अमुष्य शब्दः । नासत्यदस्रौ परमस्य नासे, घ्राणोऽस्य गन्धो, मुखं अग्निः इद्धः ॥ २९ ॥
द्यौः अक्षिणी, चक्षुरभूत् पतंगः,
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ॥ ३० ॥ (श्री० भा० २।१)
सोमं मनो यस्य समामनन्ति, अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदाः ।
यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं, श्रोत्रा दिशो यस्य हृदश्च खानि ।
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य, अम्भस्तु रेत उदारवीर्यं ।
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणः । (श्री० भा० ८।६।३२-३८)
अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवांघ्रिपंकजम् ।
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेत । (श्री० भा० ८।७।२६-२७)

(६)

सप्तास्यासन् परिधयः । (ऋ. १०।९०।१५)
इस मन्त्र का अर्थ देखिये—
सप्तावरणसंयुते । (श्री० भा०२।१।२५)

(७)

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः। (ऋ. १०।९०।१६)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

पुरुषावयवैः एते संभाराः संभृता मया।

इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैः अहम्।

तं एव पुरुषं यज्ञं तेनैवाय जमीश्वरम्॥ (श्री० भा० २।६)

इस तरह श्रीमद्भागवतकारने पुरुषसूक्त के मंत्रों का ही अनुवाद करके अपना ग्रन्थ तैयार किया है। इसकी संगति पुरुषसूक्त के साथ देखनी चाहिये और पुरुषसूक्त की संगति इसके साथ लगानी चाहिये।

इससे पाठकों को पता लग जायगा कि वेद का तत्वज्ञान समझने के लिये इस पुरुषसूक्त के ठीक समझने की कितनी आवश्यकता है। सत्, आत्मा, ब्रह्म, नारायण, पुरुष, ईश, ईश्वर ये पद एक ही अर्थ के वाचक हैं। एकही वस्तु है, जिसके ऊपर लिखे अनेक नाम वेदमें आये हैं।

इसी एक वस्तुसे, एक सत् से, एक ही आत्मासे यह सब संसार बना है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादादि मानव जितने इस भूमण्डल पर हैं, वे सब इसी एक सत् के रूप हैं, सब गाय आदि पशु, हंस आदि पक्षी, अश्वत्थादि वृक्ष, सोम आदि वनस्पति, पर्वतादि स्थावर, ये सब के सब उसी एक सत् के रूप हैं। जो जो रूप आंख से दिखाई देता है, जो शब्द कानसे सुनते हैं, त्वचा से जिसका स्पर्श किया जाता है, जिह्वा से जिसका रस लिया जाता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियों से जिसका ग्रहण होता है, वह सब सामस्त्य से मिलकर प्रभु का रूप है।

यहां सामस्त्य से अथवा सामग्र्य से ऐसा जानबूझ कर कहा है। इसका कारण पाठकों को विचार की दृष्टि से देखना आवश्यक है। किसीएक इंद्रिय से वस्तु का एक अंश ग्रहण होता है, सब इद्रियोंसे मिलकर जिसका

ग्रहण होता है, वह ' सत् ' है। एक इंद्रिय से आंशिक सत्य का ग्रहण होता है। आंखसे 'रूप'का ग्रहण होता है, पर जिस सत् का रूप यह एक अंश है, वह केवल एक ही रूप के ग्रहण से पूर्णतया गृहीत हो चुका, ऐसा समझना अशुद्ध है। प्रत्येक इंद्रिय से आंशिक ग्रहण होता है, संपूर्ण इंद्रियों से, मन, बुद्धि, आत्मा से अर्थात् सब अंतर्बाह्य साधनों के योगसे जिसका ग्रहण होता है, वह 'सत्' है। इसी एक सत् के साथ हमारे सब इंद्रिय संयुक्त होकर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी अपनी ग्रहण-शक्ति के अनुसार आंशिक भाव का ग्रहण करते हुए संपूर्ण सत् का ग्रहण करते हैं।

देखिये, कानोंने शब्द का ग्रहण किया, त्वचाने स्पर्श का ग्रहण किया, आंखने रूप का ग्रहण किया, जिह्वा ने रस का ग्रहण किया और नासिकाने गन्ध का ग्रहण किया, इस एक एक इंद्रियने एक सत् वस्तु के पांचवे अंश का ग्रहण किया है, संपूर्ण वस्तु का नहीं। पांचोंसे मिलकर समग्र वस्तु का ग्रहण होता है। इसीलिये उपनिषदादि ग्रंथों में कहा है कि, आंख का वह विषय नहीं है, कानका नहीं इत्यादि। इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्रभु आंखसे बिलकुल दीखता नहीं, परन्तु केवल एक ही इंद्रिय से उस समग्र सत् वस्तु का ग्रहण नहीं होता, परन्तु उस के पांचवें अंश का ग्रहण होता है।

साकल्य से ग्रहण

इसलिये ईश्वर का साकल्य से ग्रहण करना हो, तो सब इंद्रियोंद्वारा जो ग्रहण होगा, उस का समन्वय करना चाहिये। संपूर्ण विश्व, संपूर्ण संसार, ईश्वर का रूप है, इस का अर्थ एक एक इंद्रिय से प्राप्त हुआ गुण नहीं, परन्तु जो सभी इंद्रियों से अनुभव में आता है, वह सब मिलकर ईश्वर का स्वरूप है। इसीलिये हमने ऊपर कहा कि, साकल्य से जो ग्रहण होता है, वह ईश्वर का रूप है।

अखंड रूप

अखण्डरूप ईश्वर है। बीच में खण्ड, टुकडे या अंश पृथक् पृथक् नहीं हैं। पृथक् विभागों की कल्पना करने से जो विभक्त पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ईश्वर का रूप नहीं, परन्तु अविभक्त, अखण्ड, अटूट ऐसी जो एक सत्ता है, जिस का ग्रहण संपूर्ण इंद्रियों से मिलकर होता है, वही अविकल रूप परमेश्वर का है। इसीलिये सर्वत्र कहा है कि, इंद्रियों को ईश्वर का रूप अगोचर है। इस का यह अर्थ नहीं कि, इंद्रियोंको प्रभु के आंशिक रूपका अनुभव नहीं होता। आंशिक अनुभव जो होता है, वह प्रभु के ही गुणों का अनुभव है। इस तरह इंद्रियों की ग्रहणशक्ति अल्प है, यह जान कर इंद्रियों से जो रूपादि का ग्रहण होता है, वह ईश्वर का आंशिक साक्षात्कार है, ऐसा समझना उचित है।

पांच अन्धे हाथी का दर्शन करते हैं

एक हाथी को जानने के लिये पांच अन्धे गये थे, उन में से प्रत्येकने हाथी के एक एक अवयव का पता लगाया। वह पता हाथी का तो था ही, पर हाथी के एक अंश का था, संपूर्ण हाथी का नहीं। यही पांच अन्धे हमारे पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वे ईश्वररूपी हाथी का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन में से प्रत्येक जिस का ज्ञान प्राप्त करता है, वह पांचवें अंश का ज्ञान है। वह पूर्ण ज्ञान नहीं है। ' विश्वं विष्णुः ' विश्व ही विष्णु है, यह सत्य है, तथापि विश्वका अर्थात् विष्णु का ज्ञान किसी एक इंद्रिय से पूर्णतया नहीं होता, यह भी उतना ही सत्य है।

दर्शन आधे का होता है

मनुष्य अपने मित्र को देखता है, पर आधे भाग का ही दर्शन नेत्र कर सकता है। आगेपीछे का दर्शन इकट्ठा करने की शक्ति नेत्र से नहीं है। हम

आधे का दर्शन करके पूर्ण का दर्शन हुआ, ऐसा मानते हैं। इसीलिए नेत्रादि इन्द्रियसे सत् का पूर्ण दर्शन नहीं हो सकता, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। सत् का साकल्य से साक्षात्कार करना हो, तो उस कार्य के लिये " सर्वांगयोग ' करना चाहिये। सब इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान का समन्वय करने से ही "सत् तत्त्व ' का पूर्ण साक्षात्कार हो सकता है। इसी को हमने साकल्य से अनुभव कहा है। पाठक इस का विचार करें। सर्वेंद्रिययोग से प्रभु का साक्षात्कार होता है।

इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि, ' यह सब संसार नारायण पुरुष ही है ' यह वेद का सत्य सिद्धांत है। अर्थात् परमेश्वर विश्वरूपमें हमारे सामने है और हम सब उस में हैं, दोनों अनन्य ही हैं। वेदने इस सत्य का दर्शन कराया है। यह दर्शन सब इंद्रियों के योग से होगा। अब इसी का अधिक विवेचन अगले लेख में करेंगे।

---

(९)

रुद्रदेवता का स्वरूप

पूर्व दो लेखों मे ' नारायण ' के स्वरूप का विचार किया और बताया कि, यह संपूर्ण विश्व नारायण का ही रूप है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अथवा ज्ञानी, शूर, किसान और कारीगर ये क्रमशः नारायण के सिर, बाहु, उदर और पांव हैं। इसी तरह आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी– अर्थात् आकाशस्थ सूर्य, अन्तरिक्षस्थ इन्द्र, चन्द्र, वायु, विद्युत, तथा भूमिस्थानीय अग्नि, जल, औषधि आदि सब ये नारायण के सिर, पेट, और पांव हैं।

सब स्थावर, जंगम सृष्टि का अन्तर्भाव इस नारायण के रूप में हुआ है। कोई वस्तु नारायण के स्वरूप से बाहर नहीं है।

नारायण नाम 'पुरुष, विष्णु, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' आदि का है। अतः जो वर्णन नारायण का किया गया है, यह इन देवताओं का हुआ। इस में सन्देह नहीं कि, जो यह सब संसार है, वही विष्णु का स्वरूप है। यह त्याज्य नहीं, अपितु उपास्य है। वह हेय नहीं अपितु सन्मान्य है। यह सब वर्णन इस के पूर्व के लेखों में पाठकों के सन्मुख रखा गया है।

यदि यह वैदिक सत्य है और यदि परमात्मा ही विश्वरूप है, तब तो प्रायशः प्रत्येक देवता के वर्णन में यह सत्य प्रकट होना चाहिये, क्योंकि अनेक देवताओं के वर्णन के मिष से एक ही परमात्मा का वर्णन वेद में होता है, अतः यदि परमात्मा विश्वरूप है, तब तो यह वर्णन प्रत्येक देवता के वर्णन में आना चाहिये।

इस सत्य का पता लगाने के लिये ही हमने 'पुरुषसूक्त' का विचार गत दो लेखोंमें किया। अब उसी उद्देश्य से हम रुद्रसूक्त का विचार इस लेख में करते हैं। यह रुद्रसूक्त यजुर्वेद-संहिता में है। वाजसनेयी संहिता का १६ वां अध्याय, काण्वसंहिताका १७ वां अध्याय, मैत्रायणी संहिता का काण्ड २, प्रपाठक ९; काठक संहिता का १७,११-१४; कपिष्ठल कठ संहिता का २७, ३-४; तैत्तिरीयसंहिता का कां० ७।५।४-५ रुद्रदेवता के वर्णन के लिये ही प्रसिद्ध हैं। जो सूक्त हम यहां आज विचार करने के लिये लेना चाहते हैं, वह इतनी संहिताओं में प्रमाणत्वेन विद्यमान है। इस अध्याय में रुद्रदेवता का बड़ा विस्तृत वर्णन है। पुरुषसूक्त में संक्षेप से वर्णन है, वही वर्णन इस रुद्रसूक्त से बहुत विस्तृत है। अतः पाठक अब इस का विचार करें और देखें कि, इस रुद्राध्याय में रुद्र के स्वरूप का कैसा वर्णन किया है और इस सूक्त के विचार से रुद्रदेवता का स्वरूप

कौनसा सिद्ध होता है। सबसे प्रथम इस सूक्तका आवश्यक भाग हम नीचे देते हैं—

रुद्रसूक्त (वा० य० अ० १६)

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये, दिशां च पतये नमः, नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः, पशूनां पतये नमः, नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते, पथीनां पतये नमः, नमो हरिकेशाय उपवीतिने, पुष्टानां पतये नमः, ॥१७॥
नमो बभ्लुशाय व्याधिने, अन्नानां पतये नमः, नमो भवस्य हेत्यै, जगतां पतये नमः, नमो रुद्राय आततायिने, क्षेत्राणां पतये नमः, नमः सूताय अहन्त्यै, वनानां पतये नमः, ॥ १८ ॥
नमो रोहिताय स्थपतये, वृक्षाणां पतये नमः, नमो भुवन्तये वारिवस्कृताय, ओषधीनां पतये नमः, नमो मन्त्रिणे वाणिजाय, कक्षाणां पतये नमः, नमः उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते, पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥
नमः कृत्स्नायतया धावते, सत्वनां पतये नमः, नमः सहमानाय निव्याधिने, आव्याधिनीनां पतये नमः, नमो निषङ्गिणे ककुभाय, स्तेनानां पतये नमः, नमो निचेरवे परिचराय, अरण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥
नमो वञ्चते परिवञ्चते, स्तायूनां पतये नमः, नमो निषङ्गिण इषुधिमते, तस्कराणां पतये नमः, नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यः, मुष्णतां पतये नमः, नमोऽसिमद्भ्यो नक्तंचरद्भ्यः, विकृन्तानां पतये नम ॥ २१ ॥
नम उष्णीषिणे गिरिचराय, कुलुञ्चानां पतये नमः, नम इषुमद्भ्यो, धन्वायिभ्यश्च वो नमः, नम आतन्वानेभ्यः, प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमः, नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः, ॥ २२ ॥
नमो विसृजद्भ्यो, विध्यद्भ्यश्च वो नमः, नम स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो

नमः, नमः शयानेभ्यः, आसीनेभ्यश्च वो नमः, नमस्तिष्ठद्भ्यो, धावद्भ्यश्च वो नमः ॥ २३ ॥

नमः सभाभ्यः, सभापतिभ्यश्च वो नमः, नमो अश्वेभ्यो, अश्वपतिभ्यश्च वो नमः, नम आव्याधिनीभ्यो, विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमः, नम उगणाभ्यः, तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥ २४ ॥

नमो गणेभ्यो, गणपतिभ्यश्च वो नमः, नमो व्रातेभ्यो, व्रातपतिभ्यश्च वो नमः, नमो गृत्सेभ्यो, गृत्सपतिभ्यश्च वो नमः, नमो विरूपेभ्यो, विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः, ॥ २५ ॥

नमः सेनाभ्यः, सेनानिभ्यश्च वो नमः, नमो रथिभ्यो, अरथेभ्यश्च वो नमः, नमः क्षत्तृभ्यः, संग्रहीतृभ्यश्च वो नमः, नमो महद्भ्यो, अर्भकेभ्यश्च वो नमः, ॥ २६ ॥

नमस्तक्षभ्यो, रथकारेभ्यश्च वो नमः, नमः कुलालेभ्यः, कर्मारेभ्यश्च वो नमः, नमो निषादेभ्यः, पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमः, नमः श्वनिभ्यो, मृगयुभ्यश्च वो नमः, ॥ २७ ॥

नमः श्वभ्यः, श्वपतिभ्यश्च वो नमः, नमो भवाय च, रुद्राय च, नमः शर्वाय च, पशुपतये च, नमो नीलग्रीवाय च, शितिकण्ठाय च ॥२८॥

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च, नमः सहस्राक्षाय च, शतधन्वने च, नमो गिरिशाय च, शिपिविष्टाय च, नमो मीढुष्टमाय च, इषुमते च ॥ २९ ॥

नमो ह्रस्वाय च, वामनाय च, नमो बृहते च, वर्षीयसे च, नमो वृद्धाय च, सवृधे च, नमो अग्र्याय च, प्रथमाय च ॥ ३० ॥

नम आशवे च, अजिराय च, नमः शीघ्र्याय च, शीभ्याय च, नम ऊर्म्याय च, अवस्वन्याय च, नमो नादेयाय च, द्वीप्याय च ॥ ३१ ॥

नमो ज्येष्ठाय च, कनिष्ठाय च, नमः पूर्वजाय च, अपरजाय च, नमो मध्यमाय च, अपगल्भाय च, नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ ३२ ॥

नम सोभ्याय च, प्रतिसर्याय च, नमो याम्याय च, क्षेम्याय च,
नम श्लोक्याय च, अवसान्याय च, नम उर्वर्याय च, खल्याय च ॥ ३३ ॥
नमो वन्याय च, कक्ष्याय च, नम श्रवाय च, प्रतिश्रवाय च, नम
आशुषेणाय च, आशुरथाय च, नम शूराय च, अवभेदिने च ॥ ३४ ॥
नमो बिल्मिने च, कवचिने च, नमो वर्मिणे च, वरूथिने च, नम
श्रुताय च, श्रुतसेनाय च, नमो दुन्दुभ्याय च, आहनन्याय च ॥ ३५ ॥
नमो धृष्णवे च, प्रमृशाय च, नमो निषङ्गिणे च, इषुधिमते च,
नमस्तीक्ष्णेषवे च, आयुधिने च, नम स्वायुधाय च, सुधन्वने
च, ॥ ३६ ॥
नम स्रुत्याय च, पथ्याय च, नम काट्याय च, नीप्याय च, नम
कुल्याय च, सरस्याय च, नमो नादेयाय च, वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥
नम कूप्याय च, अवट्याय च, नमो वीध्र्याय च, आतप्याय च, नमो
मेघ्याय च, विद्युत्याय च, नमो वर्ष्याय च, अवर्ष्याय च, ॥ ३८ ॥
नमो वात्याय च, रेष्म्याय च, नमो वास्तव्याय च, वास्तुपाय च,
नम सोमाय च, रुद्राय च, नमस्ताम्राय च, अरुणाय च, ॥ ३९ ॥
नम शङ्गवे च, पशुपतये च, नम उग्राय च, भीमाय च,
नमो अग्रेवधाय च, दूरेवधाय च, नमो हन्त्रे च हनीयसे च,
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो, नमस्ताराय, ॥ ४० ॥
नम शम्भवाय च, मयोभवाय च, नम शङ्कराय च, मयस्कराय च,
नम शिवाय च, शिवतराय च ॥ ४१ ॥
नम पार्याय च, अवार्याय च, नम प्रतरणाय च, उत्तरणाय च,
नमस्तीर्थ्याय च, कूल्याय च, नम शष्प्याय च, फेन्याय च ॥ ४२ ॥
नम सिकत्याय च, प्रवाह्याय च, नम किंशिलाय च, क्षयणाय च,
नम कपर्दिने च, पुलस्तये च, नम इरिण्याय च, प्रपथ्याय च, ॥ ४३ ॥
नमो व्रज्याय च, गोष्ठ्याय च, नमस्तल्प्याय च गेह्याय च,

नमो ह्रदय्याय च, निवेष्प्याय च, नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥
नमः शुष्क्याय च, हरित्याय च, नमः पांसव्याय च, रजस्याय च,
नमो लोप्याय च, उलप्याय च, नम ऊर्व्याय च, सूर्व्याय च ॥ ४५ ॥
नमः पर्णाय च, पर्णशदाय च, नम उद्गुरमाणाय च, अभिघ्नते च,
नम आखिदते च, प्रखिदते च, नम इषुकृद्भ्यो, धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः,
नमो व किरिकेभ्यो, देवानां हृदयेभ्यः, नमो विचिन्वत्केभ्यो, नमो
विक्षिणत्केभ्य,ः नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥
असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥ (वा. यजु. अ. १६)

यहां कई रुद्रों के नाम गिनाये हैं । इन मन्त्रों में नाम ही नाम गिनाये हैं, इसलिये इन मंत्रों का पदशः अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इन नामों के हम नीचे वर्ग करके बता देते हैं, जिन से पाठकों को पता लगेगा कि, ये सब रुद्र किन किन वर्गों में संमिलित होनेयोग्य हैं । इनमें से जो मानवों में संमिलित होनेयोग्य हैं, उनके वर्ग ये हैं—

मानवरूपोंमें रुद्र (ज्ञानी पुरुष)

पूर्वोक्त मन्त्रों में जो ज्ञानी वर्ग के रुद्र हैं, उनकी नामावलि यह है। ज्ञानी वर्ग के रुद्रों को ब्राह्मणवर्ग के रुद्र कहा जा सकता है ।

१. गृत्स = ज्ञानी, कवि, एक ऋषि (२५)
२. गृत्सपति = ज्ञानियों में श्रेष्ठ, गृत्सों का अधिष्ठाता (२५)
३. श्रुत = विख्यात, प्रसिद्ध, विद्वान्, श्रुति का वेत्ता (३५)
४. पुलस्ति = विद्वान्, ऋषि (४३)
५. रुद्र = (रु) शब्द शास्त्र का (द्र) पारंगत, ज्ञानी (१८)
६. उद्गुरमाण = उत्तम ज्ञान का उपदेश देनेवाला, वक्ता (४६)
७ अधिवक्ता = (वा० य० १६।५) = उपदेशक, अध्यापक, वक्ता।

८. मंत्री = राजा का मन्त्री, दिवान, सलाहगार, सुविचारी, बुद्धिमान, चतुर, हित की मंत्रणा देनेवाला (१९)

९. देवानां हृदयः = देवताओं के लिये जिसने अपना हृदय दिया है, भक्त, प्रेमी, साधु, सज्जनों की सेवा करनेवाला (४६)

१०. भिषक्, दैव्यो भिषक् = दिव्य वैद्य (वा० य० १६।५), आयुर्वृध (६०) आयुष्य की वृद्धि करनेवाला।

११. ओषधीनां पतिः = औषधियां अपने पास रखनेवाला (१९)

१२. सभा = सभा, परिषद्, विविध सभाओं के सभासद (२४)

१३. सभापति = सभा का अध्यक्ष, परिषद् का प्रमुख (२४)

१४. श्रवः = कान, सुननेवाला, श्रवण करनेवाला, शिष्य (३४) प्रमृश = परामर्श लेनेवाले पंडित (३६)

१५. प्रतिश्रवः = सुनानेवाला, उपदेश करनेवाला, गुरु (३४)। वादी-प्रतिवादी, (प्रश्न-प्रतिप्रश्न के, समान श्रव-प्रतिश्रव ये पद हैं। इनका परस्परसंबंध है।) सोभ्यः (३३) = पुण्यकर्म करनेवाले तथा प्रतिसर्य (३३) = गुप्त बात प्रकट करनेवाले,

१६. श्लोक्य = प्रशंसनीय, श्लोकों के योग्य, प्रशंसनीय विद्वान् (३३)

प्राचीन परंपराके अनुसार वैद्य, राजा का मंत्री, अध्यापक आदि ब्राह्मण अथवा ज्ञानी वर्ग के लोग ही हुआ करते हैं। अर्थात् वे ब्राह्मण हैं अथवा ज्ञानी तो निःसन्देह हैं।

पुरुषसूक्त में 'ब्राह्मणों को नारायण का मुख' कहा है। यहां उसी नारायण के अथवा रुद्रदेवता के मुख में किन का समावेश होता है, यह अधिक नाम देकर बताया है। यहा के कई नाम जैसे 'उद्गुरमाण' आदि अन्य वर्ग में भी गिने जाना स्वाभाविक है। जो शेष बचेंगे, वे इस वर्ग में रहेंगे। इस तरह ब्राह्मणवर्ग के रुद्रों का विचार करने के पश्चात् अब

क्षत्रियवर्ग के रुद्रों का अथवा वीरों का विचार करते हैं। रुद्र का नाम 'वीरभद्र' सुप्रसिद्ध है। कल्याण करनेवाला वीर 'वीरभद्र' कहा जाता है। देखिये ,वीरभद्र के वर्ग में कौन से रुद्र गिने जाने योग्य हैं-

क्षत्रिय वर्ग के रुद्र। (वीर रुद्र।)

(रोदयति इति रुद्रः) जो रुलाता है, वह रुद्र है। शत्रुओं को रुलाने के कारण वीर को रुद्र कहते हैं। इस तरह क्षत्रिय वीर रुद्र कहे जाते हैं।

१ रुद्रः = शत्रुओं को रुलानेवाला वीर (१,१८) तवस् = बलवान (४८) आगे राजाके अनेक अधिकारी, ओहदेदार, रुद्र करके गिनाये हैं।

२ क्षेत्राणां पतिः = खेतोंकी रक्षा करनेवाला (१८) भूतानां-अधिपतिः = प्राणियों के रक्षक (५९)

३ वनानां पतिः = वनोंका पालन करनेवाला (१८) वन्यः= वनमें उत्पन्न (३४)

४ अरण्यानां पतिः = अरण्यों का संरक्षण करनेवाला (२०)

५ स्थपतिः = स्थानोंका पालक (१९), पथिरक्षिन् (६०), प्रपथ्य (४३) = मार्गों की रक्षा करनेहारे।

६ कक्षाणां पतिः(१९) दिशां पतिः(१७) (कक्षा) = गुप्त स्थान, अन्तका भाग, बडा अरण्य, बहुत ही बडा वन। (कक्षाणां पतिः, कक्षायः)= गुप्त स्थान की रक्षा करनेवाला, अन्तिम विभाग का रक्षक, बडे अरण्योंका रक्षक (१९), कक्ष्यः = अरण्य की कक्षा में रहनेवाला (३४)

७ पत्तीनां पतिः = सेनाओं का पालक, सेनापति, पादचारी सेना-विभाग का अधिपति (१९) सत्वनां पतिः = प्राणियों का रक्षक (२०)

८ आव्याधिनीनां पति = उत्तम निशाना मारनेवाले सैनिकों का अधिपति, सेनापति (२०), (व्याधिन् =) शत्रु का वेध करनेवाला (२०,२४)
९ विकृन्तानां पति. = शत्रुसेना को काटनेवाले वीर सैनिकों का अधिपति (२१)
१० कुलुञ्चानां पतिः = शत्रुसेनाको पीसनेवाले, शत्रुपर चढाई करके उनके सेनाविभागों को पृथक् करके उनका नाश करनेवाले वीरोंके प्रमुख अधिपति (२२)
११ गणपतिः = वीरोंके गणों के अधिपति (२५) ककुभ = प्रमुख, मुख्य (२०)
१२ व्रातपतिः = वीरों के समूह के प्रमुख (२५)
१३ सेना, १४ व्रातः, १५ गण = ये सेनाविभागोंके नाम हैं, सैनिकों की सख्या के अनुसार ये नाम प्रयुक्त होते हैं (२५,२६)।
१६ शूर = वीर, शूर, (३४), क्षयद्वीर = शत्रु का नाश करनेवाला वीर (४८), उग्र , भीम. = उग्र, शूर वीर, भयानक कर्म करनेवाले (४०)
१७ विचिन्वत्कः = शूर वीर, बहादुर, चुनचुन कर शत्रुवीरों का वेध करनेवाला वीर (४६), विक्षिरिद्र = विशेष नाश करने वाला (५२)
१८ रथी = रथ में बैठनेवाला वीर (२६)
१९ अरथी = रथ के विना युद्ध करने में प्रवीण वीर (२६)
२० आशुरथ. = जो त्वरा के साथ रथयुद्ध करता है, त्वरा से रथ चलानेवाला वीर (३४)
२१ उगणा = शस्त्रास्त्रों को ऊपर उठाकर शत्रुपर हमला करनेवाली

सेनाका समूह (२४)

२२ आशुसेनः = अपनी सेनाको अतिशीघ्र तैयार करनेवाला वीर, अपनी सेनाको सदा सिद्ध रखनेवाला वीर (३४)

२३ श्रुतसेनः = जिस सेना का यश चारों ओर फैला हो, विख्यात, यशस्वी, सदा विजयी सेनापति (३५)

२४ सेनानी = सेना को कुशलता के साथ चलानेवाला सेनापति (२६)

२५ दुंदुभ्य = नौबत, ढोल अथवा बाजे के साथ रहकर लड़नेवाला सैन्य (३५)

२६ असिमान् = तलवार से लड़नेवाले सैनिक वीर (२१)

२७ इषुमान् = बाणों का उपयोग करनेवाले, बाणों को बर्तनेवाले वीर (२२,२९)

२८ सृकायी = तीक्ष्ण बाण अथवा भाला बर्तनेवाला वीर (२१)
सृकाहस्ताः = शस्त्र धारण करनेवाले (६१)

२९ निषङ्गी = खड्गधारी वीर (२०, २१, ३६)

३० धन्वायी = धनुष्य धारण करके शत्रुपर चढाई करनेवाला वीर (२२)

३१ आयुधी = शस्त्रास्त्रों को साथ रखनेवाला वीर (३६)

३२ शतधन्वा = सौ धनुष्यों का धारण करनेवाला वीर (२९)

३३ इषुधिमान् = बाणों के तर्कस को पास रखनेवाला (२१, ३६)

३४ तीक्ष्णेषु = तीखे बाणों का उपयोग करनेवाला (३६)

३५ स्वायुध = उत्तम आयुधों को पास रखनेवाला (३६)

३६ सुधन्वन् = उत्तम धनुष्य का उपयोग करनेवाला (३६)

३७-३९ वर्मी, कवची, बिल्मी, वरूथी = विविध प्रकार के कवच धारण करनेवाला वीर (३५)

४० कृत्स्नायतया धावन् = आकर्ण धनुष्य पूर्णतया खींचकर युद्धभूमि में दौडनेवाला वीर (२०)
४१ निव्याधी (१८,२०) = शत्रु का निःशेष वेध करनेवाला वीर (५०)
४२ जिघांसत् = शत्रुकी कतल करनेवाला वीर (२१)
४३ विध्यत् = शत्रु का वेध करनेवाला (२३)
४४ अवभेदी = शत्रु को नीचे गिराकर उसको छिन्नभिन्न करनेवाला वीर (३४)
४५ हन्ता = शत्रु का हनन करनेवाला (४०)
४६ हनीयान् = शत्रु का संहार करनेवाला (४०)
४७ अभिघ्नत् = शत्रुपर प्रहार करनेवाला (४६)
४८ अग्रेवध = अग्रभाग में रहकर शत्रु का वध करनेवाला (४०)
४९ दूरेवध = दूरसे शत्रुका वध करनेवाला (४०)
५० आहनन्य = शत्रुपर आघात करनेवाला (३५) ढोलका शब्द करता हुआ शत्रुपर आक्रमण करनेवाला।
५१ धृष्णु = शत्रु का वध करनेवाला साहसी वीर (१४,३६)
५२ विक्षिणत्क = शत्रु का नाश करनेवाला (४६)
५३ आनिर्हत = आसमन्तात् भाग से जिसने शत्रु का वध किया है। (४६)
५४ सहमान = शत्रुका पराभव करनेवाला (२०)
५५ आतन्वान = धनुष्य की प्रत्यचा चढानेवाला वीर। (२२)
५६ प्रतिदधान = प्रत्यचा चढाये धनुष्यपर बाण लगानेवाला (२२)
५७ आयच्छत् = धनुष्य की डोरी खींचनेवाला वीर (२२)
५८ अस्यत् = शत्रु पर बाण फेंकनेवाला (२२)
५९ विसृजत् = शत्रु पर विशेष रूपसे बाण फेंकनेवाला (२९)

६० ६१ आखिदत्, प्रखिदत् = शत्रु को खेद उत्पन्न करनेयोग्य आचरण करनेवाला वीर (४६)

६२-६३ आव्याधिनी (२४), आव्याधिनीनां पतिः (२०) = शत्रुसेना पर चारों ओर से हमला करनेवाला वीर, तथा ऐसी वीरसेना का सेनापति।

६४ विविध्यन्ती = विशेष रीतिसे शत्रुसेना का वेध करनेवाली प्रबल वीरसेना (२४)

६५ तृंहती = शत्रु का नाश करनेवाली वीरसेना (२४)

६६ अवसान्यः = अन्तिम भाग पर खडा रहकर संरक्षण करनेवाला वीर (२३)

६७ पथीनां पतिः = मार्गस्थोंके रक्षक वीर (१७)

६८ मृगयु = मृगया, अथवा शिकार करनेवाला वीर (१७)

ये वीरवर्ग अथवा क्षत्रियवर्ग के नाम हैं। रुद्रोंके ही ये नाम हैं, जैसे ब्राह्मणवर्गके रुद्र पीछे दिये हैं, वैसे ही ये क्षत्रियवर्गके रुद्र हैं। जिस तरह ब्राह्मण रुद्र है, वैसे ही क्षत्रिय भी रुद्र हैं। अब वैश्यवर्ग के रुद्र देखिये। वैश्यवर्ग में खेती और पशुपालन करनेवालों का समावेश होता है, अतः उक्त मन्त्रों में वैश्यरुद्रों का वर्णन देखिये—

वैश्यवर्ग के रुद्र

वैश्यवर्ग में निम्नलिखित रुद्रों का अन्तर्भाव हो सकता है-

१ वाणिजः = बनिया, व्यापारी, दूकानदारी करनेवाला (१९)

२ संग्रहीता = पदार्थों का संग्रह करनेवाला (२६)
वारिवस्कृत (१९) धन की उत्पत्ति करनेवाला

३-४ अन्धसस्पतिः (४७), अन्नानां पतिः (१८) = अन्न का पालनकर्ता, अन्नके लिये उपयोगी होनेवाले विविध धान्यादि पदार्थों

का पालन करनेवाला, (४७, १८) पैलवृद्धाः (६०) अन्न की वृद्धि करनेवाला।

५. वृक्षाणां पतिः = वृक्षवनस्पति आदिकोंका पालन करनेवाला (१९)
६-७. पशुपतिः, (२८) पशूनां पतिः (१७) पशुओं का पालनेवाला।
८ अश्वपतिः = घोडों का पालन करनेवाला (२४)
९-१० श्वपतिः (२८) श्वनी (२७) = कुत्तोंका पालन करनेवाला।
११ पुष्टानां पतिः = पुष्टों के स्वामी (१७)
१२ जगतां पतिः = चलनेवालों का पालक (१८)

वैश्यों का कर्तव्य खेती, वृक्षसंवर्धन और पशुपालन है। यह कर्म करनेवाले ये रुद्र इस रुद्रसूक्त में दीखते हैं, इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्गों के रुद्रों का वर्णन हमने यहां तक देखा। शूद्रवर्ग के रुद्रों का वर्णन अब देखना है। शूद्रों में सब कारीगरों का समावेश होता है। देखिए-

शिल्पिवर्ग के रुद्र

पूर्वोक्त मंत्रोंमें निम्नलिखित रुद्र शिल्पिवर्ग के आ गये हैं-

१ सूत = सारथी, रथ चलानेवाला, घोडोंको शिक्षा देनेवाला, भाट और वीरों की कथाओं को सुनानेवाला।
२-४ क्षत्ता (२६), तक्षा (२७), रथकारः (२७) = बढई, तर्खाण, रथ बनानेवाला, लकडी का काम करनेवाला (२६)
५-६ धनुष्कृत्, इषुकृत् = धनुष्य और बाण बनानेवाला कारीगर (४६)
७ कर्मारः = लुहार, लोहेका अथवा धातु का कार्य करनेवाला (२७)
८ कुलालः = कुम्हार (२७)
९ निषादः = जंगल में रहनेवाला, जंगली आदमी, सभा में (नि-साद) सब से नीचे बैठनेयोग्य (२७)
१० पुंजि-ष्ठ = टोलियां बनाकर रहनेवाले लोग (२७)

११ गिरि-चर (११) गिरिशयः (२९) गिरिशन्त (१) पहाडि-योंपर घूमनेवाला, पहाडी लोग।

१२ उत्तरण, प्रतरण, तार = नदीके पार करानेवाला, नदीपार कराने में कुशल (४२)

१३ अहन्त्य सूत = इनमसे बचानेवाला सूत (१८) ये नाम प्राय कारीगरों के तथा अन्यान्य व्यवहार करनेवालों के वाचक हैं। अर्थात् शूद्रों के वाचक हैं। शूद्रों में जो कारीगरी कर नहीं सकते, वे परिचर्या, सेवा शुश्रूषा करके अपनी आजीविका करते हैं, उनके नाम उपर्युक्त रुद्रमंत्रों में ये हैं--

१४ परि-चरः = परिचारक, नौकर, सेवक, परिचर्या करनेवाले (२२)

१५ नि-चेरुः = नौकरी करनेवाला, नीचे के स्थानमें रहनेयोग्य (२०)

१६ जघन्यः = हीन, अन्त्यज, नीच वृत्तिका मनुष्य, अध पतित मनुष्य (३२)

ये नाम शूद्रवर्ग के हैं। इन में 'परिचर' नाम परिचर्या करनेवाले का स्पष्ट है। लुहार बढई आदि के नाम भी सब को मालूम हैं। शूद्रों में दो भेद हैं, एक सच्छूद्र कहलाते हैं, जो कारीगरीके द्वारा अपनी आजीविका प्राप्त करके निर्वाह करते हैं और दूसरे असच्छूद्र हैं, जो सेवा करके आजी-विका प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रकारके शूद्रों का वर्णन पूर्वोक्त शब्दोंद्वारा हुआ है।

यहां तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके अर्थात् ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर इन चार प्रकार के व्यवसायियों के नाम रुद्र के नामों से दीखते हैं। ये सब रुद्र के रूप हैं। रुद्रदेवता इन रूपों में इस भूमिपर विचर रहा है। रुद्रदेवता की भेट करनी हो, तो इन रूपों

में रुद्र का दर्शन हो सकता है। रुद्र इन नाना रूपों में इस भूमिपर विचर रहा है। रुद्रदेवता के भक्त अपनी उपास्य देवता का दर्शन करें। वेद ने रुद्रदेवता का इस तरह प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराया है। पाठक इस का स्वीकार करें।

पाठक यह जानते हैं कि, ' रुद्र ' उसी एक अद्वितीय देव का नाम है, जिस को ' पुरुष , नारायण, अग्नि, इन्द्र ' आदि अनेक नाम दिये गये हैं। पुरुष और नारायण का रूप हमने इस लेखमाला के पूर्व लेखों (संख्या ७ और ८) में दिखा दिया है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(ऋ० १०।९०।१२)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंके लोग ये सब परमात्माके क्रमशः सिर, बाहू, पेट या जंघा तथा पांव हैं। अर्थात् चारों वर्ण मिलकर परमात्मा का शरीर है। परमात्मा के शरीरके ये चार अवयव हैं। इस परमात्मा को आत्मा, ब्रह्म, पुरुष, नारायण या रुद्र आदि नामों से पुकारते हैं। रुद्र और नारायण एक ही देव है। एक ही देवताके ये दो नाम हैं। इसलिये जो वर्णन नारायणपुरुष का पुरुषसूक्त में हुआ है, वही वर्णन रुद्र का विस्तारसे रुद्रसूक्त में दिखाई दिया, तो यह उचित ही है।

यहां पाठक देखें कि, पुरुषसूक्त में जो वर्णन अतिसंक्षेप से है, वही वर्णन रुद्रसूक्त में विस्तार से है। पुरुषसूक्त में पुरुष नारायण देवता के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये लोग अवयव हैं, ऐसा कहा है और रुद्रसूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्गों के कई नाम गिनाये हैं। अर्थात् पुरुषसूक्त का यह विस्तार से स्पष्टीकरण है। इस रुद्रसूक्तमें ये रुद्र के रूप हैं, ऐसा कहा है, और इन रुद्रों को नमस्कार किया है। ये उपास्य

और संसेव्य है ऐसा यहां बताया है।

मानवों को जो परमात्मा संसेव्य है वह ज्ञानी, शूर, व्यापारी और सेवकरूप से इस भूमिपर विचरनेवाला ही परमात्मा है। यह बात इस रुद्रसूक्त के मनन से सिद्ध हो रही है। परमात्मा सब रूपों में इस भूमिपर विचर रहा है, इन में मानवों के रूप भी हैं। हमें परमात्मा की सेवा करके कृतकृत्य बनना है, तो हमें इन मानवों की-जनतारूपी जनार्दन की सेवा करना उचित है। वेदका यही धर्म है, पर आज मानवों की सेवा अपनी कृतकृत्यता के लिये करने का भाव समाज से दूर हुआ है और अन्यान्य उपासनाएं प्रचलित हुई हैं!! आज मूर्ति के मंदिरों के लिये करोंडों रुपयों का व्यय हो रहा है, पर मानवों की उन्नति के लिये उनमें से कितना व्यय हो रहा है? वैदिक धर्म से जनता कितनी दूर जा रही है, इसका विचार यहां इस विवेक से हो सकता है।

चार वर्णों के रुद्र

चार वर्णों के, चार वर्गों में, जो रुद्र होते हैं, उन की गणना उपर के लेख में की है, परन्तु वहां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये नाम नहीं आये हैं। इसलिये पाठकोंके मनमें सन्देह हो सकता है कि, ये नाम चार वर्णों के कैसे माने जायेंगे। इस शंकाका निवारण यजुर्वेदकी मैत्रायणी संहिता में किया है, वह मन्त्रभाग अब देखिये—

नमो ब्राह्मणेभ्यो राजन्येभ्यश्च वो नमः।
नमः सूतेभ्यो विश्येभ्यश्च वो नमः॥ (मैत्रायणी सं० २।९।५)

' ब्राह्मण , क्षत्रिय, वैश्य और सूत संज्ञक रुद्रों को मैं प्रणाम करता हूं।' यहां शूद्र नाम नहीं है, पर ' सूत ' नाम है, जो शूद्र का वाचक है, अन्य तीन नाम हैं। इस से सिद्ध होता है कि, चारों वर्णों के लोग रुद्रदेवता के रूप हैं। इसलिये इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वोक्त चार वर्गों के रुद्रों में ही संपूर्ण जनता समाप्त नहीं होती है। जिनको दुष्ट, डाकू आदि कहा जाता है, उन रूपों में भी रुद्रदेवता हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। देखिये—

आततायी वर्ग के रुद्र

१ आततायी = घातपात करनेवाला (१८) धनुष्य सज्ज करके हमला करनेवाला घातक।

२-५ स्तेनानां पतिः (२०), तस्कराणां पतिः (२१), मुष्णतां पति (२१) स्तायूनां पति (२१) = चोर, डाकू, लुटेरे, ठगानेवाले।

६-८ वञ्चत् (२१), परिवञ्चत् (२१), = धोखेबाज, फरेबी, मक्कार, कपटी, छल करनेवाला,

९ लोप्य = नियमों का लोप करनेवाला, नियमों का उल्लंघन करनेवाला (४५)

१० नक्तंचरत् = रात्री के समय दुष्ट इच्छा से भ्रमण करनेवाला (२१)

ये नाम चोर, डाकू, लुटेरे, आततायी दुष्टों के हैं। निःसन्देह ये दुष्ट भाववाले मानवों के वाचक हैं। परन्तु ये भी 'रुद्र' के ही रूप हैं। जिस तरह ज्ञानदाता ब्राह्मण, सब के पालन करनेवाले क्षत्रिय, सब के पोषणकर्ता वैश्य और सबकी सहायतार्थ कर्म करनेवाले शूद्र रुद्रके रूप हैं, उसी तरह चोरी करके लोगों को लूटनेवाले भी रुद्र के ही रूप हैं।

पाठकों को यह मानने के लिये बडा कठिन कार्य है। चोर भी परमात्मा का अंश है। क्या यह सत्य नहीं है? भगवद्गीता में कहा है कि—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(भ. गी. १५।७)

मेरा सनातन एक अंश जीवलोक में जीव होता है। यदि मानवों का

जीव परमात्मा का अंश है, तब तो वह जैसा ज्ञानी योगियों का जीव परमात्मा का अंश है, वैसा ही दुष्ट डाकुओं का भी जीव परमात्मा का ही अंश है। जीवमात्र परमात्मा का अंश है। यह जैसा भगवद्गीता में कहा है, वैसा ही वेद में-पुरुषसूक्त में भी कहा है। पुरुष का एक अंश इस विश्व में वारंवार जन्मता है, यह बात पुरुषसूक्त में कही है। अस्तु, इस तरह चार वर्णोंके मानवों का जीव जैसा परमात्मा का अंश है, वैसा ही चोर, डाकू, लुटेरे दुष्टों का जीव भी परमात्मा का ही अंश है। तत्वतः सब की आत्मिक एकता है।

इसी तरह आंख में सूर्य का अंश, जिह्वा में जल का अंश, नासिका में पृथ्वी का अंश और अन्यान्य इंद्रियों में और अवयवों में अन्यान्य देवताओं के अंश आकर वसे हैं। ये जैसे सत्पुरुष के देह में वसे हैं, वैसे ही दुष्ट दुर्जनोंके देहों में भी वसे हैं। देवताओं के अंशों के निवास की दृष्टि से भी सब मानवों की, सब प्राणियों की समता है। इस रीति से ३३ देवताओं के अंश और परमात्मा का अंश शरीर में आकर रहे हैं, इस दृष्टि से सब के देह समान हैं। प्रत्येक देह में ३३ देवताओं के अंशों के साथ परमात्मा का अंश रहता है। देह सज्जन का हो या दुर्जन का, उसमें परमात्माके अंशके साथ सब देवताओं के अंश रहतेही हैं।

अतः वेद का कथन यह है कि, जिस तरह चार वर्णों में विद्यमान जनता संसेव्य है, इसी तरह चोर, डाकू आदि भी वैसे ही संसेव्य हैं। पर सज्जनों की अपेक्षा दुर्जनों की सेवा अधिक प्रेमसे करनी चाहिये, क्योंकि इन दुष्ट मानवों की दुष्टता उनके शारीरिक और मानसिक विकृतिके कारण होती है।

सेवा उनकी करनी चाहिये, जिसके लिये सेवा की आवश्यकता है। जैसा किसीको सर्दी लगती हो, तो उस को कंबल देना चाहिये, प्यासे को जल, भूखे को अन्न, रोगीको दवा आदि देना सेवा है। जो दुष्ट है, उसको

अन्न देना सेवा नहीं है। सर्वत्र न्यूनता, हीनता, विकृतता की पूर्तिके लिये ही सेवा हुआ करती है। रोगी की सेवा, शुश्रूषा उस में उत्पन्न विकार अथवा न्यूनता को दूर करने के लिये की जानी चाहिये। इसी तरह चोर, डाकू, आततायी, लुटेरे, ठग, कपटी आदि जो गुनहगार हैं, वे यकृत, प्लीहा या मस्तिष्क की विकृतिके कारण अथवा सामाजिक, आर्थिक या राजकीय दोषों के कारण गुनाह करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। देखिये, यकृत बिगडने से मस्तिष्क बिगडता है और क्रोधी प्रकृति बनती है, जिसका परिणाम खून करनेतक होता है। दरिद्रता के कारण ग्रस्त हुआ मनुष्य चोरी की ओर झुकता है। इसी तरह अन्यान्य कुप्रवृत्तियों के कारण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजकीय विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिये जैसे ज्वरके रोगी चिकित्साद्वारा संसेव्य हैं, उसी तरह चोर, डाकू, खूनी, आततायी भी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजकीय चिकित्सा से सेवा करनेयोग्य हैं।

आजकल इन चोर, डाकू आदिकों को जेलखाने में बंद करते हैं, कोडों से मारते हैं अथवा खूनियों को फांसी देते हैं। पर वेद कहता है कि, ये भी वैसे ही रुद्र के अवतार हैं, जैसे उत्तम ब्राह्मण और श्रेष्ठ क्षत्रिय। अतः ये भी सेवा के योग्य हैं। उन की सेवा करके जिन दोषोंके कारण उन में कुप्रवृत्तियां उठीं, उनको दूर करके उनकी तनदुरुस्ती अथवा मनदुरुस्ती करनी चाहिये। सर्वेश्वरवाद की भूमिका के अनुकूल और वेद के द्वारा कथित उपदेश के अनुसार चोर भी ईश्वर का रूप है और वह भी सज्जन के समान ही सेवा के योग्य है। यदि ठीक तरह इस ईश्वरके रूपकी सेवा होगी, तो जो उस ईश्वर के रूपमें अप्रसन्नता थी, वहां सुप्रसन्नता होगी और वे ही लोग समाज में प्रसन्नता बढायेंगे। सर्वेश्वरवाद से अर्थात् वैदिक दृष्टीसे धारण करने से इस तरह चोर और डाकू भी दिव्य भाव प्रकाशन का अवसर मिलने से देवत्व को प्रकट कर सकते हैं। सेवा तो अप्रसन्न की

प्रसन्नता करने के लिये ही की जाती है। इस विषय में अधिक आगे लिखा जायगा। यहां किंचित् दिग्दर्शनमात्र लिखना पर्याप्त है।

यहांतक मानवी प्राणियों के रुद्र के रूपों का वर्णन हुआ, अब अन्य प्राणियों के रूपों में जो रुद्र का अवतरण हुआ है, उस विषय में देखिये–

प्राणियों में रुद्र के रूप

१ अश्वः = घोडा (२४)
२ श्वा = कुत्ता (२८)
३ व्रज्य· = व्रज अर्थात् ग्वालों के वाडोंमें पालनेयोग्य गौ आदि पशु (४४)
४ गोष्ठ्य· = गोशाला में पालनेयोग्य गौ आदि पशु (४४)
५ शीभ्यः = बैल आदि गतिमान पशु (३१)
६ गेह्यः = घरों में पालनेयोग्य पशु अर्थात् गाय, भैंस, बैल, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु (४४)
७ किरिकः = किरिः = सूअर, सूकर (४६)
८ तल्प्य = बिछोना, चारपाई, गदिया, तकिया आदि में जो कृमिकीट होते हैं, जिन को खटमल आदि नाम हैं, ये क्रिमी (४४)
९ रेष्म्यः = हिंसक क्रिमिकीट अथवा जीव (३९)
१० गह्वरेष्ठः = घन जंगलों में, पहाडों की गुफा में रहनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि पशु (४४), गुहा में रहनेवाले मनुष्य।
११ इरिण्यः = उजाड मैदान में, रेतीले स्थानमें, जो भूमि उपजाऊ नहीं है, वैसी भूमि में रहनेवाले, प्राणि अथवा कृमि (४३)
१२ सिकत्य = रेतीले स्थान में रहनेवाले पशु अथवा कृमिकीट (४३)
१३ किंशिलः = पथरीले स्थान में रहनेवाले पशु अथवा जीव (४३)

१४-१५ पांसव्यः, रजस्यः = धूली में रहनेवाले जीवजन्तु (४५)
१६-१७ उर्व्यः (४५), उर्वर्यः (३३), = उपजाऊ भूमिमें रहनेवाले जीव।
१८ खल्यः = खलियान में जो जीव रहते हैं (३३)
१९ सूर्व्यः = (सु-उर्व्यः) उत्तम उपजाऊ भूमि में होनेवाला जीव (४५)
२०-२१ शष्पयः (४५), अवर्ष्यः (३८), = शुष्क स्थान में, वर्षा न होनेवाली भूमिमें होनेवाले जीवजन्तु।
२२-२३ हरित्यः (४५), वर्ष्यः (३८) = हरेभरे स्थान में रहनेवाले, वर्षाके स्थान में होनेवाले जीवजन्तु।
२४ अवटयः = छोटे तालाब में रहनेवाले जीव (३८)
२५ उलप्यः = घास जहां उगता है, ऐसे स्थान में होनेवाले कृमि (४५)
२६ शष्प्यः = कोमल घासके ऊपर रहनेवाले कृमि (४२)
२७-२८ पर्णः, पर्णशद्यः = पत्तोंपर रहनेवाले जीवजन्तु (४६)
२९-३० पथ्यः (३७), प्रपथ्यः (४३), = मार्गोंपर रहनेवाले जीव, मार्गों के रक्षक।
३१ नीप्यः = पहाड के निम्न स्थान में रहनेवाले प्राणि (३७) अथवा पहाडियों की तराईपर निवास करनेवाले मनुष्य।
३२ आतप्यः = धूप में रहनेवाले प्राणी (३८)
३३ वात्यः = वायुरूप में रहनेवाले प्राणी (३९)
३४ वीध्रयः = शुष्क अभ्ररूप में रहनेवाले (३८)
३५ मेघ्यः = मेघ मे रहनेवाले प्राणि (३८)
३६-३७ काटयः (३७, ४४), कूप्यः (३८) = कुवे में रहनेवाले प्राणी, कूप के पास रहनेवाले मनुष्य।

३८ कुल्यः (३७) कूल्यः (४२) = जलप्रवाह में अथवा प्रवाह के समीप रहनेवाले प्राणी, जलप्रवाह के पास रहनेवाले मनुष्य।

३९ सरस्यः = तालाव के समीप अथवा तालाव में रहनेवाले जीव वा मानव (३७)

४० नादेयः = नदी में अथवा नदीके समीप रहनेवाले जीव वा मानव (३१, ३७)

४१ वैशन्तः = छोटे तालावमें रहनेवाले जीव (३७), अथवा मनुष्य।

४२ तीर्थ्यः = तीर्थस्थान में रहनेवाले (४२), ये तीर्थानि प्रचरन्ति (६१) = जो तीर्थों में विचरते हैं, यात्री।

४३ ऊर्म्यः = लहरियों में रहनेवाले (३१)

४४ प्रवाह्यः = प्रवाह में रहनेवाले (३१)

४५ पार्यः = परतीर में रहनेवाले (४२)

४६ अवार्यः = नदीके इधरके तीरपर रहनेवाले (४२)

४७ फेन्यः = जल के फेन में रहनेवाले (४२)

४८ द्वीप्यः = द्वीप में रहनेवाले, टापू में रहनेवाले, (३१)

४९ निवेष्प्यः = पानी के भंवर में रहनेवाले (४४)

५० क्षयण = जहां पानी स्थिर रहता है, ऐसे स्थान में रहनेवाले(४३), वे सब रुद्र जलस्थानोंमें रहनेवाले प्राणियों के रूप हैं। और देखिये—

५१ हृदय्यः = हृदय में रहनेवाले (४४), हृदय को प्रिय लगनेवाले स्थानमें रहनेवाले।

५२ वास्तुपः = घरों का संरक्षण करनेवाले (३९) पहरेदार।

५३ वास्तव्यः = घरों में रहनेवाले (३९)

'वास्तव्य तथा वास्तुप' ये दो पद सर्वसाधारण मानवजाति के

वाचक हो सकते हैं। क्योंकि प्रायः मानव घरों में रहते और घरों की रक्षा करते हैं।

सर्वसाधारण रुद्र

१ उपवीती = यज्ञोपवीत अथवा उत्तरीय धारण करनेवाले (१७)
२ उष्णीषी = पगडी अथवा साफा धारण करनेवाले (२२)
३ हिरण्यबाहुः = बाहुओं पर सुवर्णभूषण धारण करनेवाले (१७)
४ कपर्दी = जटा अथवा शिखा धारण करनेवाले (२९, ४८)
५ व्युप्तकेशः = जिन के बाल कटे हैं, हजामत बनाये हुए (२९), विशिखासः (५९) = शिखा न रखनेवाले, सिरमुंडन करनेवाले।
६ सोम्यः = शान्त (२९)
७ याम्यः = नियममें रहनेवाले (३३)
८ क्षेम्यः = आराम देनेवाले (३३), घरमें रहनेवाले,
९-११ आशु, शीभ्य, अजिर = शीघ्रता करनेवाले (३१)
१२-१९ महान् (२६), सवृद्ध (३०), पूर्वज (३२), ज्येष्ठ (३२), अग्र्य (३०), प्रथम (३०), बृहत् (३०), वर्षीयस् (३०), वृद्ध (३१) = बडा, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, पूर्वज।
२०-२६ अर्भक (२६), ह्रस्व (३०), वामन (३०), मध्यम (३२), अपर-ज (३२), कनिष्ठ, (३२) अवसान्य (३३) = छोटा, कनिष्ठ, बालक, निकृष्ट,
२७ बुध्न्य = तह में रहनेवाला (३२)
२८ अप्रगल्भ = अज्ञानी (३२)
२९-३० ताम्र, अरुण (३९) = विलोहित (७, ५२, ५८), बभ्रु (६), सस्पिंजर (१७) लाल रंगवाले;
३१ आक्रन्दयन्, उच्चैर्घोषः = गर्जना करनेवाला (१९)

३२ स्वपत् = सोनेवाला (२३)
३३ जाग्रत् = जागनेवाला (१६)
३४ शयान = लेटनेवाला (२३)
३५ आसीन = बैठनेवाला (२३)
३६ तिष्ठत् = खडा रहनेवाला (२३)
३७ धावत् = दौडनेवाला (२३)

यहा नानाविध प्राणियो के नाम है, तथापि इनमें कई पद मानव-प्राणियों के भी वाचक हो सकते है, जैसा देखिये- गव्हरेष्ठ (४४) वह पद सिंहव्याघ्रादि जगली जानवरों का वाचक करके ऊपर दिया है, पर इस पदका अर्थ ' गुहा मे रहनेवाला मानव ' भी हो सकता है, जो गुहा में रहता है, वह गव्हरेष्ट हैं। इसी तरह ' नीप्य = (३७) पहाड की तराई पर रहनेवाला, वह मानव भी हो सकता है, क्योंकि पहाडो की तराई पर मनुष्य भी रहते है। 'कूल्य' (४२) = नदीतीरपर रहनेवाला जैसा मानव वेसा ही अन्य प्राणी भी होना सभव है। इसी तरह अन्ततक समझना उचित है। ये पद प्राणियों के वाचक हैं, फिर ये प्राणी मनुष्य हो अथवा अन्य हो। ये सब रुद्रदेवता के रूप हैं।

वास्तुप- (३९) यह पद घरोंकी सुरक्षा के लिये जो पहरेदार होतेहैं, उन का वाचक है। आगे ' उपवीती ' (१७) आदि शब्द मानवों के ही वाचक है, व्युप्तकेश (हजामत किये हुए), विशिखास• (शिखा-रहित, सन्यासी) ये सब निःसंदेह मानव ही हैं।

•इस के आगे (३२-३७) जागनेवाले, सोनेवाले, लेटनेवाले, बैठनेवाले, दौडनेवाले ये सब जाती के प्राणी हो सकते हैं, क्योंकि सभी प्राणी इन क्रियाओ को करते हैं।

१२ से २६ तकके शब्द भी बालक-वृद्ध, जवान-तरुण, जीर्ण, मध्यम-

कनिष्ट आदि अवस्थाओं के वाचक हैं, अतः ये पद सब प्राणियों के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः इन अवस्थाओं में रहनेवाले सभी प्राणी रुद्रदेवता के रूप हैं। बालक, तरुण वृद्ध ये सब रुद्र हैं, अर्थात् सभी प्राणी रुद्र हैं।

यहां प्राणियों की कोई भी अवस्था छूटी नहीं है, अर्थात् सभी अवस्थाओं में विद्यमान सारे प्राणी रुद्रदेवता के रूप हैं, यह यहां सिद्ध हुआ। पशुपक्षी, मानव, कृमिकीट, पतंग सभी रुद्र के रूप हैं। इसी तरह सूक्ष्म कृमि भी रुद्र हैं, जो जलों और अन्नोंद्वारा मनुष्यादि प्राणियों में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी भयानकता प्रसिद्ध है–

सूक्ष्म रुद्र

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (वा. १६-६२)

जो अन्नों में तथा जलमें रहते हैं और अन्न खानेवालों तथा जल पीनेवालों में नाना प्रकार की पीडा उत्पन्न करते हैं, ये भी सूक्ष्म रोगकृमि रुद्र के रूप हैं।

वृक्षरूपी रुद्र

१ वृक्ष (४०) = वृक्ष, पेड, वनस्पति।

२ हरिकेश (४०) = हरे रंगवाले पत्तेरूपी केश जिनको होते हैं, ऐसे।

इस तरह वृक्षवनस्पति भी रुद्र के रूप हैं।

ईश्वरवाचक रुद्र

अब ईश्वरको इस रुद्रसूक्तमें 'विश्वरूप' कहा है। क्योंकि जब सभी रूप परमात्मा के हैं, तब विश्व के सब रूपों को कहां तक गिना जाय? एक बार 'विश्वरूप' कहा, तो उसमें सब रूप आगये, इसलिये ये नाम देखिये–

१ विश्वरूपः (२५) = विश्वका रूप धारण करनेवाला,
२ विरूप (२५) = विविध रूप धारण करनेवाला,
३ भव (२८) = सबका उत्पादक,
४ शर्व (२८) = प्रलयकर्ता,
५ भगवः, ईशानः (५३) = भगवान् ईश्वर,
६ भवस्य हेतिः (१८) संसार के दुःखों को दूर करने का साधन,
ईश्वर सब का कल्याण करता है, इसलिये निम्नलिखित पद उस में सार्थ होते हैं–

कल्याणकारी रुद्र,

१–३ शिव, शिवतर (४१) शिवतम (५१), = कल्याण करनेवाला,
४–५ शंभु, शंकर (४१) = शांति करनेवाला।
६–७ मयोभव, मयस्कर (४१) = सुख देनेवाला।
८ अघोर (२) = जो भयानक नहीं है, जो शांत है।
९ सुमंगल (६) = जो मंगल है।
१० शंगु (४०) = शांतिसुख का दाता।
११ मीढुष्टम = सुखदाता (५१)
१२ त्विषीमत् (१७) = तेजस्वी।
१३ विद्युत्य (३८) = बिजली के समान तेजस्वी।
१४–१५ शिपिविष्ट, सहस्राक्ष (२९) = सहस्रों किरणों से युक्त, तेजस्वी।

यहां तक जो रुद्रदेवता का वर्णन हुआ, उससे पाठकों को पता लग सकता है कि, तमाम विश्वरूप ही परमेश्वर का रूप है, इस रूप में सब रूप आ गये। सूर्य चंद्र के रूप, जल पृथ्वी अग्नि विद्युत् के रूप, सब

प्राणियों के रूप, सब जन्तुओं के रूप इसमें आ गये हैं।

अर्थात् जो वर्णन पुरुषसूक्त में 'पुरुष अथवा नारायण' देवता के मिष से किया है, वही वर्णन श्रीमद्भागवत में अनेक वार किया गया है। अब यही वर्णन बडे विस्तार से इस रुद्रसूक्त में हम देख रहे हैं। इस से वेद का तत्त्वज्ञान सुस्पष्ट हो जाता है कि, सब प्राणियों के रूप में ही ईश्वर हमारे सम्मुख उपस्थित है।

पुरुषसूक्त में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, ग्राम्य और आरण्य पशु इतने ही नाम गिनाये हैं, परन्तु इस रुद्रसूक्त में २०० से अधिक नाम इन्हीं वर्गों के गिनाये हैं, और बालक तरुण-वृद्ध आदि अवस्थाओं के वर्णनद्वारा सभी प्राणियोंको सभी अवस्थाओं का वर्णन करके बताया है कि, सब अवस्था में रहनेवाले सब ही प्राणी रुद्र के रूप हैं। वृक्ष, वनस्पति, शिला, रेती, धूली आदि सब रुद्र के रूप हैं। तेजस्वी सूर्य, वायु, आकाश, जल आदि सब रुद्र के रूप हैं। इतने विस्तार से वर्णन करने के कारण अब पाठकों के मन में कोई शंका नहीं रह सकती कि, यह सब विश्व ही रुद्र का रूप है या नहीं। यदि पाठकों के मन में अब भी शंका रही होगी, तो वे इस लेख में लिखे मन्त्रों का और उस में आये पदों का अधिक विचार करें।

यह रुद्रसूक्त ईश्वरस्वरूप का विचार करने के कार्य में मुख्य साधन है और पुरुषसूक्त के साथ इस का विचार करने से ईश्वर का स्वरूप अति स्पष्ट हो जाता है। सब प्राणी और सब स्थावर जंगम पदार्थ यह सब ईश्वर का रूप है। सब रूप को ईश्वर का रूप मानकर विचार करनेसे ही वैदिक-धर्म का ज्ञान ठीक तरह हो सकता है।

पाठक किसी न किसी वर्ण में होंगे ही, वहांसे वे अपने आप को परमेश्वर के विश्वव्यापक शरीर के अंश होने का अनुभव करें। सब पाठक इस तरह परमेश्वर से अभिन्न, अनन्य भाव एकरूप हैं। यह अनन्य भाव समझने से

ही अपने कर्तव्यकर्म का ज्ञान हो सकता है।

पाठक रातदिन किसी न किसी स्थावर, जगम पदार्थके साथ ही व्यवहार करते रहते हैं और ये सब पदार्थ मिलकर ही परमेश्वर का स्वरूप है। और यह ईश्वर का स्वरूप खींचाखींच चारों ओर भरा है, कोई स्थान खाली नहीं है। आप जो व्यवहार कर रहे हैं, वह परमेश्वर के साथ ही व्यवहार कर रहे हैं, किसी अन्य से नहीं। आप जिसे ठगाना चाहते हैं, वह परमेश्वर है और जिस का वध आपको करना है, वह भी परमेश्वर ही है। एक वार यह वेद का तत्त्वज्ञान स्वीकार कीजिये, फिर छल, कपट आदि सब आप से आप ही दूर होंगे और कर्म से चित्त शुद्ध होता जायगा। ईश्वरस्वरूप जानने पर जो कार्य होते हैं, उन ही कर्मों से चित्त की शुद्धता होना सम्भव है। अत यही उत्तम साधन है।

इसलिये विश्वरूपी ईश्वर के ज्ञान होने के पश्चात् ही सच्चा अनुष्ठान और सच्चा साधन मनुष्य कर सकता है। इस कारण सब से प्रथम इस ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस समय मनुष्य समझते हैं कि ईश्वर का ज्ञान अन्तिम ज्ञान है, पर वस्तुत वह ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही मनुष्य सुयोग्य कर्मों के साधन के द्वारा परमात्मसेवा करके अपने जीवनको सार्थक कर सकता है।

(१०)

वीरभद्रका राज्यशासन

शान्ति और क्रूरता

वीरभद्र' उसका नाम है, जो वीरों में सबसे अधिक जनता का कल्याण करता है। यह रुद्र का नाम है। रुद्र संहार की देवता है, पर यह संहार इसलिये किया जाता है कि जनता का अधिक से अधिक कल्याण हो। वीरभद्रका कार्य युद्ध करना है और दण्ड देना भी है। विशेषतः वधदण्ड देना इसका कार्य है। ये सब रुद्र के कर्तव्य हैं। ये कर्तव्य बडे भयानक हैं, इसलिये रुद्रका रूप बडा भयानक वर्णन किया है। वधकर्ता में कठोरता होना स्वाभाविक है। पर इस रुद्रदेवता के दो स्वरूप हैं एक क्रूर और दूसरा शान्त। यह जो वध करना है, वह, रक्तपिपासा से नहीं, अपितु जनता का अधिक से अधिक हित करने के लिये करना है। इसके अन्तर्याम में दया और कोमलता है, मृदुता भी है। यह इस देवता की विशेषता है।

पूर्व लेख में रुद्रदेवता के अनेक रूपों का वर्णन करके बताया है कि सब प्राणियों के रूपों में रुद्रदेवताही विचर रही है। जितने प्राणी हैं, वे सबके सब रुद्रदेवता के रूप हैं। जो प्राणी आप के सम्मुख आ जाय, आप निश्चित रूप से समझ लें कि, वह रुद्र का स्वरूप है। यह उपदेश गत लेखमें यजुर्वेद १६ वें अध्यायके प्रमाणसे बताया है।

उसी अध्यायके वर्णन में एक बात छिपी हुई है, जो इस लेख में प्रकट करनी है। वह है 'रुद्रके द्वारा प्रवर्तित गणराज्य का शासन'। रुद्रदेवताद्वारा एक प्रकार का गणराज्यशासन प्रवर्तित हुआ है, जो इस लेख

में बताना है। आप यहां ऐसी आशंका प्रकट करेंगे कि, यह लेखमाला 'सदैक्यवाद' के प्रतिपादन करने के लिये लिखी जा रही है, इस में राज्यशासन का क्या संबंध है? यह पाठकों की आशंका ठीक है, पर सदैक्यवादका तात्पर्य जो इस समय तक के लेखोंद्वारा प्रकट हुआ है, वह यह है कि, सब स्थावर और जंगम विश्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दीखनेवाला और सब के द्वारा सेवा करनेयोग्य रूप है। यदि यह सत्य है, तब तो राज्ययंत्रके कर्मचारी गण भी परमात्मा के ही रूप हुए, इस में सन्देह नहीं हो सकता।

स्थावर-जंगम में राज्ययन्त्रके कर्मचारी, राजा, मन्त्री, नाना प्रकारके द्रोहदेहार, प्रजाजन, सैनिक, योद्धा, क्षत्रिय, स्त्रियां, बालक, वृद्ध, तरुण, पशुपक्षी आदि सब आते हैं, जो परमात्मा के ही रूप हैं। यही तो सदैक्य-वादद्वारा बताया जा रहा है। इसलिये परमेश्वर के रूप में राज्ययंत्र का अन्तर्भाव होना स्वाभाविक है। सब राज्य-यन्त्र ईश्वर का स्वरूप है। इस विषय में इस यजुर्वेद के रुद्राध्यायद्वारा जो गूढ उपदेश दिया है, वह इस लेख में प्रकट करना है।

रुद्रदेवता संहार की देवता है, पर वह संहार जनता की भलाई करने के उद्देश्य से होता है। इसलिये यह रुद्रदेवता संघटना का कार्य भी करती है। इस देवताद्वारा जो संहार होता है, वह संघटना के लिये ही होता है। इस लिये रुद्रदेवता संघटना के लिये सहायक देवता है, यह बात यहां भूलनी नहीं चाहिये।

रुद्रदेवत्व ईश्वर का ही रूप है। ईश्वर संहारकारी है, वैसा रचनाकारी भी है। इसलिये जन्म और मृत्यु ये दोनों उसी के रूप हैं। इसलिये संहार से घबराना योग्य नहीं है। जंगल तोडने के बाद उस लकडी से घर बनते हैं, अर्थात् वृक्षों का तोडना घरों के बनानेका सहायक है। इसी तरह संहार आगामी रचनाके लिये आवश्यक ही है।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥
(वा० य० १६।४९)

शिवासद्भ्यः ॥ २१ ॥ क्षयणाय च ॥ ४३ ॥ (वा० य० १६)

रुद्रकी दो तनु हैं। एक 'घोरा' तनु और दूसरी 'शिवा' तनु। रुद्र का घोर कर्म करनेवाला एक शरीर है और कल्याणकारक कर्म करनेवाला दूसरा शरीर है। इसीलिये इस रुद्र को जैसे 'शिव' कहते हैं, वैसे ही 'क्रूर' भी कहते हैं। अस्तु, इस से ज्ञात हो सकता है कि, इस देवताके मिष से जैसे विघटना के, तोडने के कार्यों का विधान है, वैसे ही संघटना के, संगठन के कार्यों का भी उल्लेख है। शत्रु के साथ लडना और उस का नाश करना, इसका एक विघटनाका कार्य है और राष्ट्रकी संघटना करना इस का दूसरा संघटनाका कार्य है। यह दूसरा कार्य इस लेख में बताता है।

वा० यजु के अ० १६, मं० २५ में "नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः, नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमः" कहा है। यह गणपति-संस्था की महत्त्व की बात है। गणपति के सहस्रनामों में 'गण, गणेश, गणपति, गणमण्डल, गणमण्डलाध्यक्ष, महागणपति' आदि पद हैं। ये भी यहां देखने आवश्यक हैं। यही गणपति-संस्था रुद्र की शासनसंस्था में प्रधान कार्य करनेवाली संस्था है। गण और व्रात ये दो इन के संघटना के मूल भाग हैं।

गण और व्रात

'व्रत' पालन करनेवालों के संघ का नाम 'व्रात' है और जो केवल एकत्र गिनाये गये हैं, उन का नाम 'गण' है। 'गण् संख्याने' धातु से 'गण' शब्द बनता है, अतः इस का अर्थ जिनकी संख्या निश्चित की गयी है, जो गिने हैं, जिनकी गणना की गयी है, ऐसा होता है और एक

व्रतसे, एक नियमसे, एक उद्देश्य तथा ध्येय के कारण जो इकट्ठे कार्य कर रहे हैं, वे ' व्रात ' हैं। तीसरा एक संघटना बतानेवाला पद इस रुद्राध्याय में है, वह है ' पुञ्जिष्ट ' अर्थात् पुञ्ज करके रहनेवाले, अनेक लोग मिलकर अपना जमाव बनाकर रहनेवाले। ' पुञ्ज ' का अर्थ एकत्र मिलकर रहना है। रुद्रसंघटना के ये तीन भेद हैं।

वेदमें ' संभूति ' शब्द (वा. य. अ. ४०।९-११ में) आया है। कारीगरों की संघटना (व्यवसाय करनेवाली मंडली = ' कंपनी ') के अर्थ में यह पद है। ' संभूति, संभवन, संभूय-समुत्थान ' आदि अनेक पद, मिलकर व्यवसाय करने के अर्थ में, भारतीय अर्थशास्त्र में प्रचलित हुए हैं। अनेक लोगोंने मिलकर बहुत धन इकट्ठा करके बडा व्यापारव्यवहार करने के अर्थ में ये पद प्राचीन काल से प्रयुक्त होते हैं। स्मृतियों और अर्थशास्त्र में इस तरह की संघटना के विषय में विस्तारपूर्वक उल्लेख हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में उक्त ' संभूति, संभव ' ये पद मानवों के सांघिक जीवनविषयक व्यवहार के लिये आये हैं। पर रुद्राध्याय में इस पदका प्रयोग नहीं है, इसलिये हम इस लेख में इस पदका विचार नहीं करेंगे।

गण, व्रात और पुञ्ज ये तीन पद रुद्र की संघटना के लिये इस रुद्राध्याय में प्रयुक्त हुए हैं, इसलिये इनका विचार हम इस लेखमें करेंगे-

१ ' गण ' पदसे ' गणना किये गये, गिने हुए लोग, '

२ ' व्रात ' पद से ' एक व्रत का पालन करनेवाले लोग, ' और—

३ ' पुञ्ज ' पद से ' एक जाति के लोग ' बोधित होते हैं।

जनगणना करने की बात ' गण ' पद से बोधित होती है। रुद्र की शासनव्यवस्था में जनों की गणना की जाती थी, यह इस से सूचित होता है। बिना गणना किये ' गण ' बन ही नहीं सकते। इसलिये जहां गणों का राज्य होता है, वहां जनगणना अवश्य होती है। महादेव के भूतगण प्रसिद्ध

हैं, इन भूतगणों में गणगणना की जाती थी। ये ही गण रुद्रशासन में प्रमुख घटक माने गये हैं।

एक नियम का पालन करनेवाले, एक कार्य करनेवाले, एक उद्देश्य से संगठित हुए, एक ध्येय को माननेवाले जो लोग होंगे, उनके समूहका नाम 'व्रात' है। कर्मव्यवसाय से, व्यापारव्यवहार से ये व्रातनामक संघ निर्माण होते हैं। सैनिकों के समूहों के भी ये नाम मरुत्सूक्तों में प्रसिद्ध हैं। एक ही उद्देश्य से एक ही कर्म में लगने के कारण इन में सांधिक बल बढा चढा रहता है।

पूर्वोक्त रुद्रसूक्त में 'गण, गणपति, व्रात, व्रातपति' ऐसे पद आये हैं। अर्थात् इन संघों का एक अध्यक्ष भी रहता है। इस अध्यक्ष का कार्य अपने संघ का हित करना होता है। (आजकल Union, Guild आदि श्रमजीवी लोगों के संघ और उनके अध्यक्ष रहते हैं, वैसे ही यहा ये दीखते हैं।)

इससे पूर्व कहा है, 'गण, गणमण्डल, गणमहामण्डल' ऐसे संघों के छोटे और मोटे संघ हुआ करते हैं, इसी तरह 'गणेश, गणपति, गणमण्डलेश, गणमहामण्डलाधिपति, महागणपति' आदि नाम गणपतिसहस्रनामों में संघाधिपतियों के लिये हैं। इससे इनके कर्तव्यों का ज्ञान हो सकता है और ये संघ अपने संघ में रहनेवाले लोगों के लिये क्या कार्य करते हैं, इसका भी ज्ञान इन नामों के मनन से हो सकता है।

'पुञ्ज' के लिये 'पुञ्जपति' नहीं है। 'पुञ्जिष्ठ' पद ही है। अर्थात् इस नामके संघमें कोई अध्यक्ष नहीं होता था। ये संघके सभी सदस्य मिलकर अपना प्रबंध किया करते थे।

पुंज के सदस्य इकट्ठे होते हैं और वे सबके सब अपने संघ का हित या प्रबंध करने के लिये जो कुछ करना होगा, वह कर लेते हैं। इनके नाम

से यह सिद्ध होता है कि, ये संघशासक हैं। इन संघशासकों में कोई एक मुखिया नहीं होता। अतः ये पूरे पूरे ' समाजशासक ' होते हैं। इस पुंजव्यवस्था से गण और व्रात की व्यवस्थामें कुछ भिन्नता है। पाठक इस भेद को ध्यान में अवश्य धारण करें। पुंज का जाति के साथ संबंध है और ऐसा जातीय समाजशासन इस भरतखण्ड में कई जातियों में प्राचीन काल से इस समय तक प्रचलित है।

ये गण और व्रात संघ कार्य, व्यवहार, धंदा, उद्योग, सिद्धान्त या ध्येय के साथ संबंधित हैं। पुंज के समान जाति के या कुल के साथ संबंधित नहीं हैं। इसीलिये गण और व्रातके पूर्व दूसरे व्यवसायों का वाचक कोई पद अवश्य रखना चाहिये, तब इस व्यवस्था की कल्पना ठीक तरह ध्यान में आ सकती है। वा० यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में ऐसे अनेक धंदों के पद हैं, उनको इस के साथ जोड दें, देखिये इससे ये संघ सिद्ध होते हैं—

धंदा	संघ
भिषक् (वैद्य)	भिषग्गण (वैद्यों का संघ)
वणिक् (वैश्य)	वणिग्गण (व्यापारियों का संघ)
क्षत्ता (बढई)	क्षत्तृगण (बढइयों का संघ)
तक्षा (तर्खाण)	तक्षगण (तर्खाणों का संघ)
रथकार (रथ बनानेवाला)	रथकारगण (गाडी बनानेवालों का संघ)
कुलाल (कुम्हार)	कुलालगण (कुम्हारों का संघ)

इस तरह कार्यव्यवहार करनेवाले धन्देवालों के गण होते थे और धर्म बनाकर, नियम बांधकर, एक ध्येय से प्रेरित होकर जो संघ बनते थे, वे ' व्रात ' कहलाते थे। उनके नियमों का, उनकी शर्तों का ही बन्धन उन मानवसमाज संघवालोंपर रहता था। व्रात संघ के सदस्य अन्य व्यवहार के

लिये स्वतंत्र समझे जाते थे। 'गण' व्यवस्था में हरएक सदस्यपर अन्य सदस्यों के हिताहितकी जिम्मेवारी पूर्णतया रहती थी, पर 'व्रात' व्यवस्थामें उतने निश्चित व्रत की मर्यादा तक की ही यह जिम्मेवारी रहती थी। गणमें उत्तरदायित्व अधिक और व्रातमें नियमानुकूल मर्यादित रहता था। इस कारण गण में प्रविष्ट होनेवालों को लाभ भी अधिक होते थे और व्रातमें उसकी अपेक्षा से लाभ भी कम होते थे।

गणपतिसहस्रनामों का विचार करने से पता चलता है कि, गणसंस्थामें संमिलित होनेवाले सदस्यों का हित करने का पूर्णतासे उत्तरदायित्व गण के अधिष्ठाता पर रहता था। इसलिये गणेश अर्थात् गण के अधिष्ठाता को तथा गणपति अर्थात् गण के पालनकर्ता को गण के प्रत्येक सदस्य के हित की सब जिम्मेवारी उठानी पडती थी। अर्थात् गणमें प्रविष्ट सदस्य बीमार हुआ, युद्ध में जखमी हुआ, किसी अन्य आपत्ति में फँसा, तो ऐसी सब आपत्तियों का निवारण करने के लिये सुप्रबन्ध करने का कार्य गणपति को करना पडता था। यह भाव निम्नलिखित नामों से ज्ञात होता है—
"गणभीतिहर, गणदुःखप्रणाशन, गणभीपत्यहारक, गणसौख्यप्रद, गणाभीष्टकर, गणरक्षणकर्ता," ऐसे अनेक नाम हैं, जो बताते हैं कि गणों का सब प्रकार से हित करने के लिये गणों के अध्यक्ष को अनेक प्रकार का योग्य प्रबंध करना पडता था।

'व्रात' के विषय में जिम्मेवारी थोडी होती है। जिस नियम या शर्तसे वह व्रात संघटित होता था, उतना ही उत्तरदायित्व संघाधिपतिपर रहता था। अन्य बातों के विषयमें उस को देखने की आवश्यकता नहीं होती थी।

गण-व्यवस्थामें छोटी मोटी कई संस्थाएं थीं, जो निम्नलिखित नामों से ज्ञात हो सकती हैं— 'गणप, गणवर, गणेश, गणपति, गणाधीश, गणाग्रणी,

गणाध्यक्ष, गणेश्वर, गणेश्वराट्, गणाधिराज, गणनायक, गणमण्डलाध्यक्ष ' ये पद एक अर्थ के वाचक नहीं हैं। प्रत्येक पद में अधिकार का भेद है और तदनुसार छोटे या बडे संघ का भी वह सूचक है।

गणमण्डलाध्यक्ष वह है, जो अनेक गणो के संघों का अध्यक्ष होता है। गणनायक वह है, जो गणोंको चलानेवाला है। गणप वह है कि जो गणों का पालन करता है। ये सब पद गणशासनकी प्रणाली बताते हैं। इन सब का विचार करने से इस शासनसम्बन्धी सब बातों का पता लग सकता है, पर हमें इस लेख में गणपतिसंस्था का पूर्ण विचार करना नहीं है, प्रत्युत रुद्रशासनसंस्था का विचार करना है। इस के अन्तर्गत गणपति पद होने से गणपतिसंस्था का थोडासा विचार करना आवश्यक हुआ है, अतः अतिसंक्षेप से यह विचार यहां किया है।

अपना प्रकृत विषय ठीक तरह समझ में आने के लिये यजुर्वेद अ० १६ में आये गण और गणपति का थोडासा अधिक विचार करना आवश्यक है। विचार करने के लिये मान लीजिये कि, एक ' रथकार-गण ' है, अर्थात् गाडियाँ बनानेवालों का एक संघ रुद्रके अधिराज्य में स्थापन किया है। इस का एक अध्यक्ष होगा, जिस का नाम ' रथकार-गणेश ' होगा। इस अध्यक्ष का प्रथम कर्तव्य है अपने संघ में स्थित सदस्यों की गणना करना, एक पुस्तकमें अपने सदस्यों के नाम, स्थान तथा उनकी आवश्यकताओं का लेख तैयार करके सुरक्षित रखना। अपने गण को अर्थात् संघसदस्य को कार्य न होगा, तो उस को कार्य देना, भोजन का प्रबंध न होगा तो करना, बीमार होनेपर दवा का प्रबंध करना, अर्थात् काम लेना और उस के बदले दाम देना अथवा सुखसाधन देना। इतने वर्णनसे पाठकों के मन में यह बात आयी होगी कि, यह गणव्यवस्था कैसी होनी चाहिये।

' गण-आर्ति-हर ' यह नाम इस प्रबंध की सुव्यवस्था का सूचक

है । गणव्यवस्थामें आये सदस्यों की इसप्रकार की आपत्तियों को दूर करना गणनायक का कर्तव्य होता है और वह उस को करना ही पड़ता है । सदस्य कर्म करने के जिम्मेवार हैं, शेष जिम्मेवारी नायकपर रहती है ।

पाठक ऐसी कल्पना करें कि, इस रथकार-गण में १०० सदस्य होंगे, तो उन को उन के करनेयोग्य काम देना, उन से काम करवा लेना और उन को सुखसाधन समय पर देना, यह इस गणसंस्था में अध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य है । ऐसा प्रबंध करने के लिये देशभर कैसी सुव्यवस्था रखना आवश्यक है, इस का विचार पाठक कर सकते हैं । यह रथकार-संघ के विषय में हुआ ।

इस के पश्चात् ऐसे अनेक गणों का 'गण-मण्डल' होता है । जिस में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उपकारक गणों का परस्पर सम्मेलन होता है और अनेक 'गणमण्डलों' का मिलकर एक 'महागणमण्डल' हुआ करता है । हम पूर्वोक्त रुद्राध्यायमें देखेंगे कि, गणमण्डल में रथकार-गण के साथ कौन से अन्य गण संमिलित हो सकते हैं । हमारे विचार से निम्नलिखित कारीगरों का गणमण्डल रथकार- गण के साथ बन सकता है- (क्षत्तृगण) बढ़ईयों का संघ, (तक्षगण) तरखाणों का संघ, (कर्मारगण) लुहारों का संघ, ये और ऐसे एक दूसरेके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक कारीगरों के गणों का मिलकर यह गणम- ण्डल होगा ।

इस गणमण्डल का एक अध्यक्ष होगा । उसका कर्तव्य सब गणों का हित करना होगा । इस तरह सदस्यों का गण, गणों का गणमण्डल और गणमण्डलों का महागणमण्डल होता है । संघों का ऐसा यह जाला देशभर फैला रहता है । यह है गणशासन की आयोजना ।

रुद्रसूक्त में (गत लेख में) जो नाम गिनाये हैं, उन में जो कार्यव्यव-

हार के वाचक नाम हैं, उन सब के ऐसे गण हैं, ऐसा समझकर इस रुद्रशासनप्रणाली का विचार करना चाहिये। तब वैदिक गणशासन का महत्त्व ध्यान में आ सकता है। यहां प्रत्येक के संघका स्वतन्त्र विचार करके लेख को व्यर्थ बढाने की आवश्यकता नहीं है। रुद्र की शासनव्यवस्था की कल्पना ही यहां पाठकों को देना है। ऊपर दिये वर्णन से यह व्यवस्था पाठकों के मन में आ गयी होगी। इस तरह ब्राह्मणवर्ण में कई गण अथवा संघ, क्षत्रियों में अनेक गण अथवा संघ, इसी तरह वैश्य और शूद्रों में भी कार्यव्यवहार तथा व्यवसाय के गण बनाने से यह रुद्रशासनप्रणाली परिपूर्ण होती है।

राष्ट्र में कोई मनुष्य गणव्यवस्था से बाहर नहीं रहने पाय, जिसके कर्म और व्यवहार की गणना नहीं हुई, ऐसा भी कोई मनुष्य रहना नहीं चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को उसके करने के लिये सुयोग्य कार्य मिलना चाहिये और उस कर्म के बदले उसको कर्मफलस्वरूप आवश्यक सुखसाधन प्राप्त होने चाहिये। यह इस गणव्यवस्था का मूल सूत्र है।

प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्म उत्तम कुशलता के साथ समाप्त करना चाहिये, कर्म के फलस्वरूप सुखसाधन देना इस शासनसंस्था की जिम्मेवारी है। कर्म करनेपर हरएक को आवश्यक सुखसाधन मिलने ही चाहिये। आवश्यक सुखसाधनों में रहने के लिये सुयोग्य स्थान, भोजन के लिये योग्य और आवश्यक अन्न, पीने के लिये उत्तम जल, ओढने के लिये आवश्यक वस्त्र, बीमारी की निवृत्ति के लिये चिकित्सा के साधन, धर्मसंस्कार समय पर होनेकी व्यवस्था, विद्या की पढाई की व्यवस्था और आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक गुरूपदेश आदिका समावेश होना स्वाभाविक है। जो सदस्य उत्तम धर्मानुकूल रहेंगे, उनका इस व्यवस्था से कल्याण होगा। पर जो नियमभंग करेंगे, उनको कठोर दण्ड देना भी इस रुद्रशासन के प्रबंधद्वारा ही होता रहता है; उसमें क्षमा नहीं होगी।

रुद्रसूक्त में जो नाम कार्यव्यवहार करनेवालों के हैं, उतने ही कार्य-व्यवहार करनेवाले हैं ऐसी बात नहीं है। किसी देशविशेष में इससे न्यून वा अधिक भी कार्यव्यवहारवाले लोग हो सकते हैं। वहां के अनुसार न्यून वा अधिक गणों की व्यवस्था होगी। उस रुद्राध्याय के वर्णन में इस रुद्रीय शासनव्यवस्था का पता लगाने के लिये केवल सूचनामात्र उल्लेख है। उस अध्याय में 'गण, गणपति,' तथा 'व्रात, व्रातपति' ऐसे नाम लिखकर इस गणशासन के व्यवहार की सूचना दी है। परन्तु प्रत्येक धंधे-वाले के साथ 'गण' शब्द उस अध्याय में नहीं लगाया है। वह उन धंधेवाले नामों के साथ लगाकर इस शासन की कल्पना पाठकों को करनी चाहिये, इसीलिये यह लेख लिखा है।

उक्त अध्याय में कई पद सर्वसामान्य भाव बतानेवाले हैं, जैसा देखिये- (उपवीती) यज्ञोपवीतधारी, (उष्णीषी) पगडीधारी, (कपर्दी) शिखाधारी, (व्युप्तकेश) जिस के बाल कटे हैं। ये पद सामान्य हैं। प्रत्येक वर्णके लोगों को ये पद लगाये जा सकते हैं। 'उपवीती' पद तीन वर्णों के लिये प्रयुक्त हो सकता है, शेष तीनों पद सब मानवोंके लिये प्रयुक्त हो सकते हैं।

इसी तरह (स्वपत्) सोनेवाला, (जाग्रत्) जागनेवाला, (शयानः) लेटनेवाला, (आसीनः) बैठनेवाला आदि पद सर्वसामान्य मानवों के लिये अथवा प्राणियों के लिये लगाये जा सकते हैं। तथा (महान्) बडा, (ज्येष्ट) श्रेष्ठ, (प्रथम) पहिला, (कनिष्ठ) छोटा आदि पद भी सामान्य पद हैं, जो हरएक प्राणी के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे सामान्य पद इस अध्याय में कौनसे हैं, उन का पता पाठकों को उक्त पदों का अर्थ देखने से लग सकता है। ऐसे सर्वसामान्य पद छोडने चाहिये, और शेष पदों में जो पद कामधंधे के सूचक, व्यापारव्यवहार के सूचक

तथा विशेष उद्यम के सूचक हैं, उनके साथ ही यह 'गण' पद अथवा 'व्रात' पद लग सकता है। ये 'गण, व्रात और पुञ्ज' पद सब व्यवसायों के साथ लगनेवाले पद हैं। उदाहरणके लिये हम कुछ ऐसे गण बता देते हैं—

ब्राह्मणवर्ण में- गृत्सगण (कवियोंका संघ), श्रुतगण (श्रुतिशास्त्रों का संघ), अधिवक्तृगण (उपदेशक संघ), भिषग्गण (वैद्यों का संघ), इ. इ.

क्षत्रियवर्ण में- क्षेत्रपतिगण (खेतोंके मालिकों का संघ), रथीगण (रथियोंका संघ), स्वायुधगण (उत्तम हथियार चलानेवालों का संघ), दूरेवधगण (दूर से वध करनेवालों का संघ), इ. इ.

वैश्यवर्णमें- वणिग्गण (व्यापारियोंका संघ), संग्रहीतृ-गण (बडे बडे संग्रह (Store) करनेवालोंका संघ), पशुपतिगण (पशुपालकों का संघ), इ. इ.

शूद्रवर्ण में- रथकारगण (गाडी बनानेवालों का संघ), इषुकृद्गण (बाण बनानेवालों का संघ), कुलालगण (कुम्हारों का संघ), निषादगण (निषादों का संघ) इ. इ.

इस तरह हम रुद्राध्याय का विचार करके जितने धंधेवाले यहां हैं और जितने कल्पना में आ सकते हैं, उतनों के संघों की अर्थात् उतने गणोंकी अथवा व्रातोंकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इस तरह गणों की स्थापना के पश्चात् अनेक परस्पर सहायक गणों का मिलकर एक गणमण्डल बनने की भी कल्पना पाठक करें। प्रत्येक गण का एक अध्यक्ष तथा गणमण्डल का प्रमुख बनाने का भी विचार इसी तरह हो सकता है। इस संस्था के अध्यक्ष या प्रमुख का कर्तव्य पूर्व स्थान में बताया ही है। गणके सब सदस्यों का ठीक तरह योगक्षेम चलाना संघप्रमुखों का कर्तव्य है। धर्म

कुशलतास करना संघस्थों का कर्तव्य है। इस तरह विचार करने से निःसन्देह पता लग सकता है कि, यह गणशासन की आयोजना अत्यंत उत्तम है और बड़ी सुखदायी भी है।

इसमें कर्मकर्ताओं को चिंता नहीं है, प्रमुखों को ही चिंता रहती है। कर्मकर्ताको इतनी ही चिंता रहती है कि, अपनी कारीगरी की अत्यधिक उन्नति करना। योगक्षेम गणव्यवस्थाके प्रबंधद्वारा सबका यथायोग्य होता रहता है।

शिक्षाका प्रबंध ब्राह्मणों के द्वारा विनामूल्य होता रहता है। रक्षाका प्रबंध क्षत्रिय करते रहते हैं। इसी तरह वैश्यशूद्रों के व्यवसायों का प्रबंध होता रहता है। और सब मानवों का योगक्षेम चलता है।

'गणनायक' का कार्य गण के सदस्यों को चलाना है। यहां नायक का अर्थ अधिपति नहीं है, परन्तु नेता अर्थात् चालक है। आज क्या कर्तव्य करना चाहिये, इस विषय की योग्य संमति अपने सदस्यों को देकर जो अपने मंत्र से उत्तमोत्तम कार्य करता रहता है, वही गणनायक होता है। गण का ईश, गण का पालक, गण का अधिपति, गण का नायक ये सब विभिन्न कर्तव्य बतानेवाले पद हैं। इनके विभिन्न कर्तव्य अच्छी तरह समझनेसे ही गणशासन का उपयोगित्व ठीक तरह ध्यान में आ सकता है।

गण का अधिष्ठाता जानता है कि, अपने संघ में कितने कर्मकर्ता हैं, किसको किस वस्तु की जरुरत है, उस की आवश्यकता की पूर्तता किस तरह करनी चाहिये, अपने संघ में कौन बीमार है, किस वैद्य से उसकी चिकित्सा करना योग्य है, आदि का विचार गण का अधिष्ठाता करता रहता है। गणमण्डल के अन्दर अनेक संघ संमिलित रहते हैं, उनके धंधों का परस्पर संबंध रहता है और ये धंदे एक दूसरे के सहाय्यकारी रहते हैं। इसलिये गणमण्डल की सुव्यवस्था से सब गणों का सुख बढता जाता है।

गणमण्डलों के मुख्य महागणमण्डलाध्यक्ष के पास सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। सारे कारीगरों के सब पदार्थ उसके कार्यालयमें जमा होते हैं और आवश्यकताके अनुसार वह पदार्थों का लेनदेन करता है। अनावश्यक वस्तुओं के निर्माण पर वह प्रतिबंध रखता है, और आवश्यक वस्तुओं के निर्माण की प्रेरणा करता है। एक वार इस तरह की सुव्यवस्था की कल्पना पाठकों के मनमें उतर गयी, तो वे ही इस सारी व्यवस्था के विषय में उत्तम कल्पना अपने मन में कर सकते हैं। इस दृष्टि से यह वा० यजुर्वेद का १६ वाँ अध्याय विशेष अध्ययनीय है। साथ ही साथ वा० यजुर्वेद का ३० वाँ अध्याय भी मननपूर्वक अध्ययन करनेयोग्य है। १६ वाँ अध्याय रुद्रदेवताके रूप बताने के लिये है और ३० वाँ अध्याय नारायण पुरुष के रूप बताने के लिये है। पर तत्त्वदृष्टि से दोनों का आशय एक ही है।

यह गणशासनव्यवस्था वेद की आदर्श शासनव्यवस्था है। इस से प्रजा का हित अधिक से अधिक हो सकता है। प्रजा का सुख अधिक से अधिक करने के लिये इसी मार्ग से जाना चाहिये। इस में शासकों की व्यवस्था इस तरह रहती है-

१. रुद्र = (महारुद्र, महादेव) = सर्वाधिपति।
२. मंत्री = मन्त्री, सलाहकार।
३. सभा, सभापति = राष्ट्रसभा, राष्ट्रसभापति, ग्रामसभा, प्रांत-समिति, मामंत्रण (मन्त्रीमंडल)।
४. गण, गणपति = गणों के नाना प्रकार के संघोंकी व्यवस्था।
५. व्रात, व्रातपति = नाना प्रकार के मतनिष्ठ संघों की व्यवस्था।
६. पुष्टिपति = मानवपुष्टों की व्यवस्था।

यह व्यवस्था पूर्व स्थान में बतायी है। गण, महागण, गणमण्डल आदि बडे बडे संघों में से राष्ट्रसभा के सदस्य चुने जाते हैं और इस तरह राष्ट्र

का नियंत्रण होता रहता है और वहां प्रत्यक्ष जनता के साथ रातदिन रहनेवाले और जनता की स्थिति देखनेवाले ही लोग आते हैं। इसलिये उन का शासन जनहित का साधक होता है।

इस के साथ साथ निम्नलिखित कार्यकर्ता भी होते हैं-

७. क्षेत्रपतिः = खेतोंकी रक्षा करनेवाले,

८. वनपतिः = वनों की पालना करनेवाले,

९. स्थपतिः = स्थानों के पालन कर्ता,

१०. कक्षाणां पतिः = राष्ट्र की कक्षा चारों ओर की परिधी होती है, वहाँ की सुरक्षा करने के लिये जो नियुक्त होते हैं, वे कक्षापति कहलाते हैं, गुप्त स्थानों के रक्षक।

११. पत्तीनां पतिः = पैदल विभाग के नेता,

१२. सेना, सेनापतिः = सब प्रकार की सैना और उस के अधिपति,

१३. सेनानीं = सेना का संचालन करनेवाले,

१४. आव्याधिनीनां पतिः = हमला करनेवाली सेना के नेता।

इस तरह सैना की व्यवस्था इस रुद्रशासन में रहती है। इस रुद्राध्याय में सैनिकों के नाम बडे विस्तारपूर्वक दिये हैं। पाठक उन सब को यहां लेकर उन का कार्य राष्ट्ररक्षा में कितना है, इस का यथायोग्य विचार करें, इन सबको यहां फिरसे लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१५. वास्तुपः = घरोंकी रक्षाके लिये नियुक्त पहरेदार,

१६. वास्तव्यः = लोग जहां रहते हैं, वहां रहनेवाला,

१७. गह्वरेष्ठः = गिरिकंदरों की रक्षाके लिये नियुक्त,

१८. नादेयः, तीर्थ्यः = नदी तैरकर पार होनेके स्थानपर रक्षा के लिये तथा सहायतार्थ नियुक्त,

१९. नक्तंचरः = रात्री के समय घूमकर रक्षा करने में नियुक्त।

इस तरह अनेकानेक पदोंसे पाठक योग्य बोध प्राप्त कर सकते हैं और रुद्र की शासनव्यवस्थाका पता भी इस से लगा सकते हैं।

यहां पाठक देखें कि रुद्राध्याय (वा० यजु० अ० १६) के विशेष सूक्ष्म रीति के इस अध्ययन से एक विशेष प्रकार की गणशासन की प्रणाली का बोध यहां हमें मिला है। यह वैदिक व्यवस्था है और प्रत्येक प्रजाजनका इससे लाभ हो सकता है। इस विषय में विस्तारपूर्वक बहुत कुछ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, परन्तु वैसा करने के लिये हमारे पास यहां स्थान नहीं है।

एक रुद्रके अनेक रूप हैं

एक ही रुद्र के ये सब मानवी रूप हैं। गण, गणपति ये दोनों रुद्र के रूप हैं। मन्त्री और राजा, सेना और सेनापति, क्षेत्र और क्षेत्रपति, वणिक् और ग्राहक, शिष्य और गुरु ये सब रुद्रके रूप हैं। कोई मनुष्य, कोई प्राणी अथवा कोई वस्तु रुद्रका रूप नहीं, ऐसी वस्तु यहां नहीं है।

यहां राजा भी ईश्वर का रूप है और प्रजा भी। दोनों मिलकर एक ईश्वरके दो रूप हैं। राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, मालिक-मजदूर, धनी-सेवक, ज्ञानी-अज्ञानी ये सब ईश्वरके ही रूप हैं, अतः ये परस्पर की सेवा करने-योग्य हैं। एक सत्ता के ये अंश हैं। अतः सब की मिलकर एक ही सत्ता माननी चाहिये। यहां किसी की भी विभिन्न सत्ता नहीं है। हम सब एक ही जीवन के अंश हैं, यह जानकर परस्पर के सहायक व्यवहार हम सबको करने चाहिये।

जिस तरह एक शरीर में सिर, आंख, नाक, कान, मुख, जिह्वा, दांत, होंठ, गाल, बाहु, अंगुलियां, हाथ, पेट, पांव आदि अनेक अवयव एकही जीवनके अवयव हैं, और पूर्णतया परस्पर सहायता करना इनका कर्तव्य

है। सब का मिलकर एक जीवन है, यह जानना, मानना और उस एक जीवन के हितके लिये अपना समर्पण करना प्रत्येक अवयव का कर्तव्य है, उसी तरह सब मानव एक ही जीवन के अंश हैं, यह जानना, मानना और उस अखण्ड, अटूट, अनन्य एक जीवन का अत्यधिक हित करने के लिये अपने जीवन को लगाना, अर्थात् पूर्ण की सेवा के लिये अंशने अपना अर्पण करना आवश्यक है।

जो लोग शंका करते हैं कि सदैक्यवादसे राष्ट्रीय शासन किस तरह होगा, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र की उन्नति तथा राष्ट्रीय संघटना किस तरह होगी, इस शंका का उत्तर इस लेख में दिया गया है। वेदने जनता की उन्नति के लिये ' सदैक्यवाद ' दिया और इस वाद से सिद्ध होनेवाला राष्ट्रीय संघटनाका आदर्श भी मानवोंके सम्मुख गणव्यवस्थाद्वारा रख दिया। सदैक्यवादसे आत्मभावकी सिद्धता होती है और सब प्राणियों का मिलकर एक अखण्ड और अटूट जीवन है, इसके विषय में निश्चय होता है। इस निश्चय के पश्चात् व्यक्ति व्यक्ति की, संघ संघ की तथा जाति जाति की सेवा में लगकर, परस्पर सेवाशुश्रूषा से जो सब की उन्नति होती है, उस उन्नति की आयोजना की कल्पना इस गणसंस्था से पाठकों के मन में स्थिर हो सकती है। इस तरह सदैक्यवादसे राष्ट्रोन्नति सिद्ध होती है और इस से मानवता का भी पूर्ण विकास हो सकता है।

इस रुद्राध्याय में सब प्राणी रुद्रके रूप हैं, ऐसा कहकर सदैक्यता का वैदिक सन्देश दिया है। अन्य स्थानों में पुरुष, नारायण, आत्मा, ब्रह्म आदि के सब रूप हैं, ऐसा बता कर वही संदेश दिया है। सदैक्यवाद का तत्त्व यह है कि, सबके रूप भिन्न होने पर भी सब की सत्ता तत्त्वतः एक मानना। यहां तत्त्वतः भिन्न अनेक सत्ताएं नहीं हैं। इस सदैक्यवाद के सिद्धान्त के व्यवहार में लाने के लिये छोटे छोटे गणों में यह तत्त्व प्रथम

और अन्तिम सूक्त में ४ मन्त्र हैं। कई मंत्रों में पाठभेद भी हैं, जो आगे दिये हैं।

इस स्कम्भसूक्त में परमात्मा का ही सब वर्णन है। यह वर्णन सर्देश्वरवाद की सिद्धि कर रहा है, जैसा पुरुषसूक्त और रुद्रसूक्तने किया है। वेद के ईश्वरविषयक वर्णन की संगति सर्देश्वरवाद से लगती है, यह बात जैसी इस समय तक के लेखों में सिद्ध हो गयी है, वैसी ही इस स्कम्भसूक्त से भी हो रही है। पाठक इस बात को इस स्कम्भ सूक्त में देखें और सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन करें और उस की सेवा स्वकर्मद्वारा करने के लिये अपनी तैयारी करें। इस की सेवा से ही मनुष्य की कृतकृत्यता होनेवाली है। अब इस के स्वरूप का वर्णन देखिये—

इस स्वरूप का वर्णन करने के निमित्त से कई प्रश्न सूक्त के प्रारम्भ में पूछे गये हैं। ये प्रश्न 'सूचक प्रश्न' हैं। अर्थात् इन प्रश्नों को देखकर इसी तरह अधिक प्रश्न भी पाठक स्वयं पूछ सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर वेदने दिया है, पर पाठक जो अधिक प्रश्न पूछेंगे, उन का उत्तर वेद स्वयं नहीं देगा, परन्तु वेद के इन उत्तरों के अनुसन्धान से पाठकों को ही अपने अन्य प्रश्नों का उत्तर जानना चाहिये। इस तरह वेद के अनुसार प्रश्न और उन के उत्तर पाठक देने लगें, तो वेद का तत्वज्ञान पाठकों के ध्यान में आ गया, ऐसा पाठक मान सकते हैं। इसलिये सब से प्रथम यहां ये प्रश्न पाठक देखें। इन प्रश्नों में ईश्वर के किस अंग में क्या है, ऐसा पूछा है।

आचरणद्वारा तथा परस्पर सेवाद्वारा सिद्ध करना चाहिये। पश्चात् गणों के, संघोंके और राष्ट्रके व्यवहार में लाना चाहिये और अन्त में मानवों के व्यवहार में लाना योग्य है। इसका मार्ग जो वेदने बताया है, वह यह है। इसका विचार पाठक करें और सदैक्यवाद को व्यवहार में लानेके विषय में सोचें। वेद के सिद्धान्त व्यवहार में लाने के लिये ही हैं, केवल चर्चा के लिये वेद नहीं है।

इस गणव्यवस्था में सुविधा यह है कि, इसका प्रारंभ अल्प संख्या में भी किया जा सकता है। एक गणमें संमिलित मानवोंको परस्पर सहायता-द्वारा ईश्वरसेवा करने का संकल्प करना चाहिये। इस तरह सदैक्यवाद का आचरण अल्प प्रमाण में भी शुरू हो सकता है।

(११)

सब का आधार-स्तम्भ

सब विश्व का आधारस्तम्भ एक ही प्रभु है। 'सर्वाधार' अथवा 'आधारस्तम्भ' उसको इसीलिये कहते हैं। इस सब के आधारस्तम्भ का वर्णन अथर्ववेदके स्कम्भसूक्त में किया है। यह स्कम्भसूक्त अथर्ववेद शौनकीय संहिता के काण्ड १०, सूक्त ७ में ४४ मंत्रों का सूक्त है। यही सूक्त अथर्ववेद की पिप्पलादसंहिता में काण्ड १७, सूक्त ७-११ तक सब मिल ५ सूक्तों में विभक्त हुआ है, इन सूक्तों में मिलकर मंत्र ४४ ही हैं, परन्तु अन्तिम दो मंत्र विभिन्न हैं। यहां का प्रत्येक सूक्त १० मंत्रोंका है

और अन्तिम सूक्त में ४ मन्त्र हैं। कई मंत्रों में पाठभेद भी हैं, जो आगे दिये हैं।

इस स्कम्भसूक्त में परमात्मा का ही सब वर्णन है। वह वर्णन सद्देश्वरवाद की सिद्धि कर रहा है, जैसा पुरुषसूक्त और रुद्रसूक्तोंने किया है। वेद के ईश्वरविषयक वर्णन की संगति सद्देश्वरवाद से लगती है, यह बात जैसी इस समय तक के लेखों में सिद्ध हो गयी है, वैसी ही इस स्कम्भसूक्त से भी हो रही है। पाठक इस बात को इस स्कम्भ सूक्त में देखें और सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन करें और उस की सेवा स्वकर्मद्वारा करने के लिये अपनी तैयारी करें। इस की सेवा से ही मनुष्य की कृतकृत्यता होनेवाली है। अब इस के स्वरूप का वर्णन देखिये—

इस स्वरूप का वर्णन करने के निमित्त से कई प्रश्न सूक्त के प्रारम्भ में पूछे गये हैं। ये प्रश्न 'सूचक प्रश्न' हैं। अर्थात् इन प्रश्नों को देखकर इसी तरह अधिक प्रश्न भी पाठक स्वयं पूछ सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर वेदने दिया है, पर पाठक जो अधिक प्रश्न पूछेंगे, उन का उत्तर वेद स्वयं नहीं देगा, परन्तु वेद के इन उत्तरों के अनुसन्धान से पाठकों को ही अपने अन्य प्रश्नों का उत्तर जानना चाहिये। इस तरह वेद के अनुसार प्रश्न और उन के उत्तर पाठक देने लगें, तो वेद का तत्त्वज्ञान पाठकों के ध्यान में आ गया, ऐसा पाठक मान सकते हैं। इसलिये सब से प्रथम यहां ये प्रश्न पाठक देखें। इन प्रश्नों में ईश्वर के किस अंग में क्या है, ऐसा पूछा है। अर्थात् उस वस्तु के दर्शन से, वह वस्तु परमेश्वर का कौनसा अंग है, इस का ज्ञान हो सकता है। प्रश्नों से और उन के उत्तरों से यह हम जान सकते हैं। अतः ये प्रश्न प्रथम देखिये—

इसके किस अङ्ग में क्या रहता है ?

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधितिष्ठति ? कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्या-ध्याहितम् ? । क्व व्रतं ? क्व श्रद्धास्य तिष्ठति ? कस्मिन्न-

ङ्गे सत्यं अस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य ? कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ? कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा ? महः स्कम्भस्य मिमानो अंगम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नंगे तिष्ठति भूमिरस्य ? कस्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् । कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः ? कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३
क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः ? क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ? यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥६

पिप्पलादपाठ-

क्व ब्रह्म ? क्व तिष्ठन्त्यापः ? कस्मिन्नंगे दिशोऽस्य प्रतिष्ठिताः ? ॥ २ ॥ (अ. पि. १७।७।२)

यह सर्वाधार परमात्मा है, इस के किस अंगमें कौनसी देवता तथा कौनसा पदार्थ रहता है, ये प्रश्न इन मंत्रों में हैं। इन प्रश्नों का अर्थ देखिये-

(अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति ?) इस परमेश्वर के किस अंग में तप रहता है ? किस अंग में (ऋतं अध्याहितं ?) ऋत रहा है ? व्रत, श्रद्धा और सत्य किस अंग में रहते हैं ? (अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते ?) इस प्रभु के किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है ? इस के किस अवयव से (मातरिश्वा पवते) वायु का संचार होता है ? इस के किस अंग से (स्कंभस्य महः अंगं मिमानः) सर्वाधार प्रभु के बडे अंग का माप करता हुआ चन्द्रमा (अधि विमिमीते) अपने काल का मापन करता है ? इस के किस अवयव में भूमि रहती है ? किस अवयवमें अन्तरिक्ष रहता है ? किस अवयवमें द्युलोक रहा है ? और किस

अवयव में द्युलोक के ऊपर का अवकाश रहा है? (क्व प्रेप्सन् अग्निः ऊर्ध्वः दीप्यते) कहां पहुंचने की इच्छा करता हुआ यह अग्नि ऊर्ध्व गति से जलता रहता है? कहां पहुंचने की इच्छासे (मातरिश्वा) वायु बहता रहता है? जहां जाने की इच्छा से (आवृतः अभियन्ति) सब प्रदक्षिणायें की जाती हैं (तं स्कंभं) वही सर्वाधार है, कह दो कि, वह कौन है? (आपः) जलप्रवाह (यत्र प्रेप्सन्तीः) जहां पहुंचने की इच्छा से (अभियन्ति) जा रहे हैं, वही सब का आधार प्रभु है, कह दो, कि वह कौन है?

[पिप्पलादपाठ] (क्व ब्रह्म) ज्ञान कहां रहता है? (आपः क्व तिष्ठन्ति) जलप्रवाह कहां रहते हैं? इस के किस अंग में (दिशः प्रतिष्ठिताः) दिशाएं रहती हैं?

इन मंत्रों में इतने प्रश्न पूछे हैं और सर्वाधार प्रभु के ज्ञान के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न की है।

इन प्रश्नों का हेतु यहां देखना चाहिये। इन प्रश्नों का मुख्य हेतु यह है कि, इनके उत्तरोंसे परमेश्वरके अङ्गों और अवयवोंका पता उपासक को लगे, उपासक अपने उपास्य प्रभु को जाने और जानकर उस की उपासना, सेवा या भक्ति करे और कृतार्थ बने।

प्रथम मन्त्र में 'तप, व्रत, श्रद्धा, ऋत, और सत्य' का उल्लेख है। ये व्यक्ति के अन्दर रहनेवाले गुण हैं। व्यक्ति के अन्दर के ये गुण किस के आधार से रहते हैं, अर्थात् किस के कारण ये गुण प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षित हैं, यह प्रश्न यहां पूछा है।

आगे के पांच मंत्रों में विश्वव्यापक देवताएं कहां रहती हैं, अर्थात् किस के आधार से रहती हैं, इस विषय के प्रश्न हैं। ये प्रश्न भी अब देखिये-
(अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते?) इस परमेश्वर के किस अङ्ग से अग्नि प्रदीप्त होता है? इस के किस अङ्ग से वायु (पवते) पवित्रता

करता हुआ बहता है ! इस के किस अङ्ग से चन्द्रमा (स्कम्भस्य महः अंगं मिमानः) आधारस्तम्भ के बड़े अङ्ग को मापता हुआ (अधि विमिमीते) विशेष प्रकार से काल को नापता है ?

(अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति) इस परमेश्वर के किस अंग में भूमि ठहरती है ? इस के किस अंग में अन्तरिक्ष ठहरा है ? इस के किस अंग में (द्यौः आहिता) द्युलोक स्थिर किया है और (उत्तरं दिवः) ऊपर का द्युलोक किस अंग में रहा है ? (क्वः प्रेप्सन्) कहां पहुंचनेकी इच्छा करता हुआ (अग्निः ऊर्ध्वः दीप्यते) अग्नि ऊपर की ओर गति करता हुआ जलता रहता है ? कहां पहुंचने की इच्छा करता हुआ वायु पवित्रता करता हुआ बहता रहता है ? (यत्र प्रेप्सन्तीः) जहां जानेकी इच्छा करती हुईं (आवृतः अभियन्ति) फैलनेवाली जलधाराएं चलती हैं, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस आधारस्तम्भ का वर्णन कर, (सः कतमः स्वित् एव) वह भला कौनसा है ?

इस मन्त्र में 'आवृतः' पद है, इसके अर्थ के विषय में अनेकों के लिये सन्देह है, पर आगे के छठे मन्त्र के उत्तरार्ध को देखने से इस सन्देह की निवृत्ति होती है। (यत्र प्रेप्सन्तीः आपः अभियन्ति) जहां पहुंचने की इच्छा से जलप्रवाह चल रहे हैं, उस आधारस्तंभ का वर्णन कर, वह भला कौनसा है यह भी कह।

पिप्पलाद-संहिता के इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र में (ब्रह्म) ज्ञान कहां रहता है ? (आपः) जल कहां रहता है ? इस आधारस्तंभ के किस अंग में सब दिशाएं रहती हैं ? ये प्रश्न हैं। इनमें पहिला प्रश्न वैयक्तिक है और आगे के दोनों प्रश्न विश्व की देवताओं के संबंध के हैं।

यहां जो प्रश्न पूछे हैं, उन्हें यहां हम लिख देते हैं।

वैयक्तिक प्रश्न

१. तप इसके किस अङ्गमें रहता है ? ऋत, व्रत, श्रद्धा और सत्य इसके किस किस अङ्गमें रहते हैं ? इसके किस अङ्गमें ज्ञान रहता है ?

देवताविषयक प्रश्न

२. इसके किस अंगसे अग्नि जलता है ? किस अङ्गसे वायु बहता है ? इस आधारस्तंभके विशाल अंगको मापता हुआ चन्द्रमा इसके किस अङ्गमें रहकर अपना मार्ग मापता है ?

३. इसके किस अंगमें भूमि रहती है ? अन्तरिक्ष, द्युलोक और ऊपरका स्वर्ग इसके किस अङ्गमें रहते हैं ?

४. किस इच्छासे अग्निका ज्वलन ऊर्ध्वभागमें होता है ? किस इच्छासे वायु बहता है और जलप्रवाह निम्न गतिसे चलते रहते हैं ?

५. इसके किस अङ्गमें जल रहता है और दिशायें भी इसमें कहां रहती हैं ?

जिसमें ये सब देवताएं रहती हैं, उस आधारस्तंभका वर्णन कर, अनेक देवताओंमें वह कौनसा देव है, यह भी कह और निश्चयपूर्वक कह।

यहां जिन लोकों और जिन देवोंके विषयमें प्रश्न पूछा है, उनकी तालिका यह है–

लोक	देव	कर्म	
१. भूमि	अग्नि	ऊर्ध्वज्वलन	प्रकाश
२. अन्तरिक्ष	वायु	पवन (गमन)	पवित्रीकरण
	चन्द्रमाः	अङ्गं मिमानः	कालमापन
	आवृतः आपः	निम्नगमन	(शांतिकरण)
	दिशः		

३. दिवः

उत्तरे दिवः

तीनों लोकोंमें स्थित इन देवताओंके विषयमें इतने प्रश्न पूछे हैं। इसी तरह पाठक अन्यान्य देवताओंके कर्मोंका निर्देश करके अधिक प्रश्न पूछ सकते हैं। जैसा (१) सूर्य इस आधारस्तंभके किस अङ्गमें रहता है? (२) औषधियां इसके किस अङ्गमें रहती हैं? नदियां इसके किस अङ्गमें रहती हैं? समुद्र इस आधारस्तंभके किस अङ्गमें रहता है? इसी तरह कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं। विचक्षण पाठकोंको उचित है कि, वे ऐसे प्रश्न पूछें, क्योंकि कई ऐसे प्रश्नोंके उत्तर आगे दिये हैं। आगे उत्तरोंका विचार करनेके समय पाठक जान सकेंगे कि, जिनके यहां प्रश्न नहीं पूछे हैं, उनके भी आगे उत्तर दिये गये हैं। इसलिये इस पद्धतिसे अनेक प्रश्न पूछे जा सकते हैं। तेंतीस देवताओंके संबंधमें पाठक इस तरहके प्रश्न पूछ सकते हैं।

वैयक्तिक गुणधर्म शक्तियोंके विषयमें भी इसी तरह पाठक प्रश्न पूछ सकते हैं। प्रथम मंत्रमें 'इसके किस किस अङ्गमें तप, ऋत, सत्य, व्रत, और श्रद्धा रहते हैं?' और (पिप्पलाद संहिताके अनुसार) 'ज्ञान भी इस आधारस्तंभके किस अङ्गमें रहता है?' इन प्रश्नोंके अनुसंधानसे पाठक अन्यान्य प्रश्न भी यहां पूछ सकते है। जैसे इसके किस अङ्गमें कर्मशक्ति रहती है? स्मरण कहां रहता है? मनन कहांसे किया जाता है? इत्यादि अनेक प्रश्न वैयक्तिक शक्तियोंके संबंधमें पूछे जा सकते हैं। इस तरहके अनेक प्रश्न अथर्ववेद (काण्ड १०, सूक्त ७, मन्त्र १-२४) में पूछे गये हैं। वहां पाठक वेदकी प्रश्नकी रीति देख सकते हैं और वैयक्तिक शक्तियोंके संबंधमें अनेकानेक प्रश्न पूछ सकते हैं।

इन प्रश्नोंका फल

यहां एक व्यक्तिके विषयमें प्रश्न हैं और विश्वव्यापक देवताओंके विषयमें

भी प्रश्न हैं। पर इन प्रश्नोंमें एक बात स्पष्ट हो रही है, वह यह कि, जैसे व्यक्तिगत ज्ञान, तप, श्रद्धा, सत्य आदि गुण वैसे ही जल, अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदि देव, तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये लोक किसी एक देवके आधारसे ही रहते हैं। किसके किस अङ्गमें ये रहते हैं? इस प्रश्नसे और 'स्कंभ' पदसे इस बातका निश्चय होता है कि, अनेकानेक देवताओंमें एक (स्कम्भ) स्तंभ अथवा आधारस्तंभ करके एक ही देव है, उस सर्वाधारमें अथवा सबके आश्रयदाताके एकएक अङ्गमें ये लोक और ये देव रहते हैं।

व्यक्तिके गुण, तीनों लोक और सब देवताएं इन सबका आधार एक ही है और इसीका नाम इस सूक्तमें 'स्कंभ' कहा है, क्योंकि यह एक प्रभु ही सबका आधार है। प्रश्नोंके मननसे भी 'एक आधारस्तंभ' की कल्पना स्पष्ट हो रही है। सबका 'एक ही आधार' है, यह निश्चित है। इस एक आधारके किस अवयवमें कौनसा देव है, यह प्रश्न है।

इस सूक्तमें 'अस्य, स्कम्भः, कतमः, सः' इत्यादि पदोंके एक वचनके प्रयोगसे भी वह सर्वाधार परमेश्वर एक ही है, यह बात सिद्ध होती है। प्रश्नोंके मननसे इतना ज्ञान मिलनेके पश्चात् इन प्रश्नोंके उत्तरों का हम विचार करते हैं?

ईश्वरका विश्वरूपदर्शन

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः,
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ?॥ १२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ?॥ १३॥
यत्राऽमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते।

समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः,
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥ १५ ॥
यस्य चतस्रः प्रदिशः नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ॥ १६ ॥

पिप्पलाद पाठ

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषश्च समाहिताः ।
(अ० पिप्प० १७।८।७)

जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थिर हुए हैं, जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु सुस्थिरतासे समर्पित होकर रहे हैं । (यस्य अङ्गे) जिसके शरीरमें (सर्वे त्रयः त्रिंशत् देवाः) सब तैंतीस देव (समाहिताः) समा गये हैं, अन्तर्भूत हुए हैं । (यस्य नाड्यः) जिसकी नाडियां अर्थात् नदियां, जो समुद्ररूप होती हैं (पुरुषे अधि समाहिताः) इस पुरुषमें समा गयी हैं, अन्तर्भूत हुई हैं । चारों दिशाएं और उपदिशाएं जिसमें ठहरी हैं । अमृत और मृत्यु अर्थात् जन्म और मृत्यु जिस पुरुषमें समा गये है, वही सबका आधारस्तंभ है । सब अन्य देवोंमें वही एक देव ऐसा है कि, जो सबका आधारस्तंभ है । '

इन मंत्रोंमें कहा है कि, (१) भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक, (२) समुद्र, नदियां अर्थात् जल, अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य, और दिशाएं, (३) तैंतीस देवताएं, (४) अमरत्व और मृत्यु (जन्म और मृत्यु) ये सब जिसमें समाये हैं, जिसमें अन्तर्भूत हुए हैं, वह प्रभु सबका आधार है ।

यहां ' अध्याहिताः, आर्पिताः, समाहिताः, ' ये पद विशेष मनन करनेयोग्य हैं । ' अन्तर्भूत होना, समा जाना, समाना, अङ्ग बनकर रहना ' यह भाव इन पदोंका यहां है । यहां ' अमृत और मृत्यु ' ये इस पुरुषमें रहते हैं, ऐसा कहा है । गीतामें भी ' अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहं

अर्जुन। (गी० ९।१९) 'मैं ही अमृत और मृत्यु, सत् और असत् हूं,' ऐसा ही वेदके ही शब्दोंसे कहा है।

इसी सूक्तके इस आशयके और मंत्र देखिये–

यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षु अंगिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १८॥
यस्य ब्रह्म मुखं आहुः, जिह्वां मधुकशां उत।
विराजं ऊधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव स.॥१९॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः,
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ २७॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥ २३॥

पिप्पलादपाठ–

अंगानि यस्य यातवः। (अ. पि. १७।८।९)
यो वै तद् ब्रह्मणो वेद तं वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अ. पि. १७।२।५)

'जिस सब के आधार का सिर वैश्वानर अग्नि है, आंख अंगिरस बने हैं, (यस्य अंगानि यातवः) जिस के अङ्ग सब प्राणी हैं, जिस का मुख (ब्रह्म) ब्राह्मण है, अथवा ज्ञान जिस का मुख है, जिसकी जिह्वा (मधु-कशां) मीठा चाबूक है, (विराजं ऊधः) विराट् गौ जिस का ऐन अर्थात् दुग्धाशय है। जहां आदित्य, रुद्र और वसु समाये हैं। भूत भविष्य में तथा वर्तमान में विद्यमान सब लोग जिस में समाये हैं, (त्रयः

त्रिंशद् देवा:) तैंतीस देव (यस्य अंगे) जिसके अंग में (गात्रा विभेजिरे) अवयव बनकर रहे हैं। इन तैंतीस देवों को अकेले महाज्ञानी

ही जानते हैं। तेंतीन देव जिस के निधिकी रक्षा करते हैं, उस निधिको आज कौन भला जानता है? वह सर्वाधार है, वही आधारस्तम्भ है, वही सब अन्य देवों में मुख्य आधार है।

(पिप्पलादके पाठ के अनुसार) 'कन् जिस के अंग हैं।' 'ब्रह्मज्ञानी उसको जानते हैं। ब्रह्मज्ञानी ही इस का ज्ञान जानता है।'

यहां भी पूर्ववत् 'समाहिता, प्रतिष्ठिता' ये पद 'समा जाने' के अर्थ में आ गए हैं। १८ वें मन्त्र में 'अभवन्' पद बडे महत्त्व का है, 'बन जाने' का भाव इस में स्पष्ट है। 'वैश्वानर, अंगिरस' और सब (यातव) चलनेफिरनेवाले प्राणी उस प्रभु के अवयव (अभवन्) बने हैं, तेंतीस देव इस के शरीर के गात्रों में (विभेजिरे) विभक्त होकर रहे हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि, इस प्रभु के शरीर के ये देव अवयव बनकर रहे हैं। अब और थोडे से मन्त्र देखिए-

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

'भूमि जिस के पाव हैं, अन्तरिक्ष जिस का पेट है, द्युलोक जिस का मस्तक है, सूर्य जिसकी आख है, चन्द्रमा भी पुनः पुनः नया होता हुआ जिसकी आख है, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिस के प्राण और अपान हैं, अंगिरस (आग्नि) जिस के आख हुए हैं, जिस के ज्ञानसाधन दिशाएं हैं, उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।'

इन मन्त्रों में भी पूर्व के समान ही वर्णन है। भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक

ये तीन लोक क्रमशः इस के शरीर के पांव, पेट और मस्तक हैं। सूर्यचन्द्र ये जिस के आंख हैं और अग्नि जिस का मुख है, वायु प्राण है, प्रकाशक अग्नि आंख है और दिशाएं कान हैं, वह श्रेष्ठ ब्रह्म है।

इन सब मन्त्रों का आशय यदि तालिकारूपमें बताना हो, तो वह तालिका इस तरह बनेगी–

अवयव	लोक
सिर, मस्तक	द्यु
पेट	अन्तरिक्ष
पांव	पृथ्वी
पुरुष के इंद्रिय	देवता
सिर, मस्तक	वैश्वानर,
चक्षु	अंगिरस्, सूर्य, चन्द्रमा,
मुख	अग्नि
प्राणापान	वायु
पेट, नाडियाँ	समुद्र, नदियाँ
कान (ज्ञानसाधन)	दिशाएं
अंग	सब प्राणी (चलनेवाले)
	आदित्याः
प्राणाः	रुद्राः
	वसवः
ब्रह्म का शरीर	तैंतीस देवता
मुख	ब्राह्मण
कशा (चाबूक)	क्षत्रिय
दुग्धाशय (लेवा)	गौ (वैश्य)

इस तरह तीनों लोक भूमि–अन्तरिक्ष–द्यु ये इस परमात्माके देह में समाये हैं। ये तीन लोक मिलकर ही सब विश्व होता है। सब विश्व इस त्रिलोकी में समा जाता है। त्रिलोकी से बाहर और कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह सब विश्व, किंवा यह सब त्रिलोकी मिलकर परमात्मा का अखण्ड शरीर है। यहां 'स्कम्भ, आधारस्तम्भ, पुरुष, ज्येष्ठब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, प्रभु, परमेश्वर' ये सब पद एक ही अर्थके हैं। 'सत्' किंवा 'एक सत्' भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

इस परमेश्वर का देह है और इस देह में द्युलोक सिर है, अन्तरिक्षलोक पेट है और भूमि पाव हैं। अर्थात् अन्यान्य देवताएँ इस के बीच के अङ्ग, अवयव अथवा इंद्रिय हैं।

इन तीनों लोकों में ३३ देवतायें हैं, प्रत्येक लोक में ११।११ देवताएं हैं। जब त्रिलोकी इस का– इस प्रभुका शरीर है– तब ३३ देवताएं उस के शरीर अवयव हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इस सूक्त का यही प्रतिपाद्य विषय हैं। पुरुषसूक्तमें जिसका २।३ मन्त्रोंसे प्रतिपादन किया था, वही ज्ञान इस सूक्त में इतने मन्त्रों से दिया है। पुरुषसूक्त में वर्णन संक्षेप से है और यहां विस्तार से है, पर वर्णन वही है। यहां तो वही बात दो दो बार, तीन तीन बार दुहरायी है। दुहराना समझाने के लिये होता है। जो बात अत्यन्त महत्त्व की होती है, वही अनेक बार दुहरा कर समझायी जाती है। इस दृष्टि से यहां की कौनसी बातें दुहरायी हैं, सो देखिये—

> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥ २७ ॥
> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ॥ २३ ॥

इससे एक ही बात किस तरह दुहरायी है इसका ज्ञान हो सकता है। अब और देखिये, प्रश्न और उत्तर कैसे हैं—
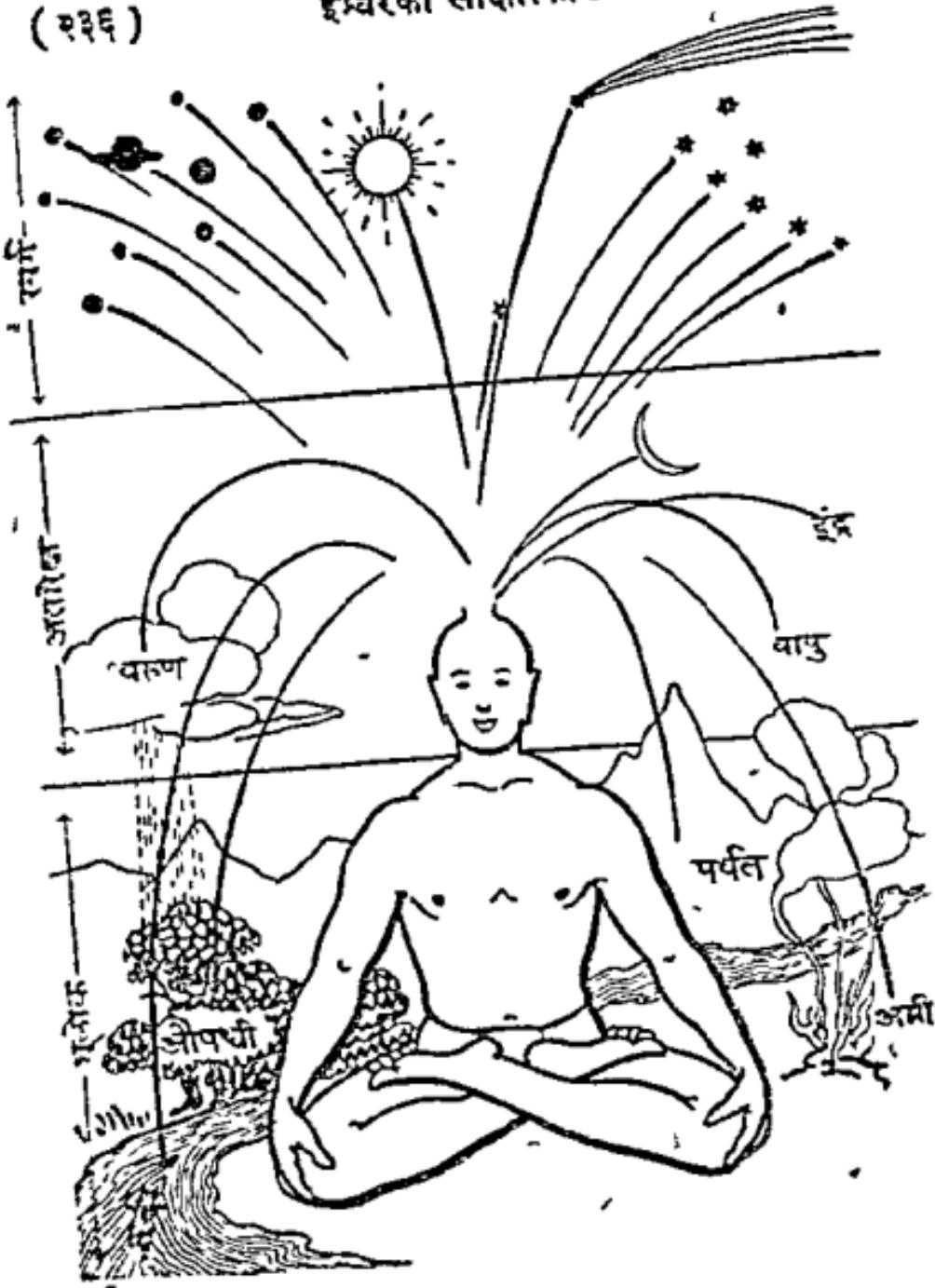
तीन लोक

प्रश्न- अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते ? ॥ ० ॥
अग्निः क्व प्रेप्सन् ऊर्ध्वः दीप्यते ? ॥ ४ ॥
उत्तर- यः अग्निं आस्यं चक्रे ॥ ३३ ॥
प्रश्न- कस्मात् अंगात् पवते मातरिश्वा ? ॥ २ ॥
क्व प्रेप्सन् मातरिश्वा पवते ? ॥ ४ ॥
उत्तर- यत्र वातः अर्पितः तिष्ठति ॥ १२ ॥
यस्य प्राणापानौ वातः ॥ ३४ ॥
प्रश्न- अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति ?
अन्तरिक्षं च तिष्ठति ? कस्मिन् अंगे द्यौः आहिता ? ॥३
उत्तर- भूमिः यस्य प्रमा (पादः), यस्य उदरं अन्तरिक्षं, यः
दिवं मूर्धानं चक्रे, (तदेव ज्येष्ठं ब्रह्म) ॥ ३२ ॥

इस तरह पाठक देखें कि प्रश्न और उत्तर बडे मनोरंजक हैं और कई तो दुहराये गये भी हैं। पाठक इनका अधिक विचार कर सकते हैं। अब यहां एक विशेष बातका विचार करना है। वह क्रियापदका विचार है। सर्वैक्य-वाद का विचार करनेके समय यह विचार प्रधान स्थान रखता है। देखिये-

क्रियापद-विचार

अधितिष्ठति (१), अध्याहितं (२), अध्याहिता (१२), तिष्ठति (१;२), तिष्ठन्ति (१६), प्रतिष्ठितं(१), प्रतिष्ठिताः (२२), अर्पिताः (१२), समाहिताः (१३; १५; २२), चक्रे (३२; ३३; ३४), विमेमिरे (२७), अभवत् (१८;३४), आहुः (१९)

' अधितिष्ठति ' का अर्थ ' अधिष्ठाता होता है। ' अधिष्ठाता होना दूसरेपर ही संभवनीय है। ' अध्याहिता ' का अर्थ ' ऊपर स्थिर रखना ' है। यहां भी एक नीचे की वस्तु और उस पर दूसरी वस्तु का रखा जाना है, यहां भी दो वस्तुओंका व्यवहार दीखता है। ' तिष्ठति ' का अर्थ

'ठहरता है' ऐसा होता है, एक वस्तु दूसरी में ठहरती है। 'प्रतिष्ठित' का अर्थ भी 'आश्रय प्राप्त करना' है, ये सब अर्थ द्वैतसूचक हैं।

'आर्पिताः' अथवा 'अर्पिताः' पद समर्पित होनेके अर्थ में हैं। यहां दो वस्तुओंका मिलान होनेकी बात स्पष्ट है। जल में मिश्री अर्पित हो गयी, तो वह उसमें मिल गयी, ऐसा समझा जाता है। इसी तरह 'समाहिताः' पद 'समाया जाने' का अथवा 'समानेका भाव' बता रहा है। समाना भी एक होना है। यद्यपि 'अर्पित होना और समाना' एक बनाने का भाव बतानेवाले पद हैं, तथापि पहले दो पदार्थ थे, पश्चात् एक बने, यह भाव इन पदों से व्यक्त होता है।

'चक्रे' पदसे 'किया, बना दिया' यह भाव प्रकट होता है। (अग्निं आस्यं चक्रे) 'अग्नि को अपना मुख इसने बनाया।' इसमें एकता की झलक अधिक दीखती है। अग्नि को जैसा वह है, वैसी अवस्था में ही उस आधारस्तंभने अपना मुख बनाया। अग्नि में कोई हेरफेर नहीं किया। अग्नि ही इसका मुख बना, इसी तरह सूर्य आंख बना, वायु प्राण बना आदि वाक्य हैं। अग्न्यादि देव प्रभु के शरीर के अनेक अवयव (चक्रे) बना दिये हैं। यहां देवताओं का प्रभु के शरीर से अभिन्न संबंध प्रकट हो रहा है। इस क्रिया का यह महत्त्व पाठक ध्यान में धारण करें।

इससे भी आगे की क्रिया 'विभेजिरे' है और यह पूर्व क्रिया से अधिक महत्त्व की है। विभक्त होकर रहते हैं। (अस्य अंगे त्रयस्त्रिंशद्देवा गात्रा विभेजिरे) 'इस ईश्वर के शरीर में तैंतीस देव गात्र बन कर रहे हैं।' यहां ३३ देवों का शरीरावयवों में विभक्त होकर रहने का वर्णन है। ३३ देव पृथक् नहीं हैं, परन्तु परमात्मा के देह में नाना अवयवों के रूप में रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि, ३३ देव ही प्रभु के शरीर के नाना अवयव हैं। पाठक यहां देखें कि क्रमशः क्रियापद के प्रयोग ऐसे हो

रहे हैं कि जो द्वैत से पाठकों को अद्वैत वा एकत्व के भाव की ओर ले जा रहे हैं। प्रारंभ में द्वैतक्रिया का प्रयोग है। सब मानव जगत् में सर्वत्र भेद-भाव को ही देखते हैं, इसलिये मानव का उद्धार करने की इच्छा से उस के परिचित द्वैतभाव से ही उपदेश का प्रारंभ वेद करता है और एकएक वाक्य से मानव को ऊंचा उठाता हुआ अन्त में सदैक्यवाद की भूमिका पर आरूढ कर देता है। यह अद्भुत शैली यहां पाठकों को देखनेयोग्य है।

इसके आगे की क्रिया 'अभवन्' है, 'हो गये' यह इसका अर्थ है।

वैश्वानरः तस्य शिरः अभवत्, अंगिरसः चक्षुः अभवन्।

'वैश्वानर उस का सिर हुआ, अंगिरस् चक्षु हो गये।' यहां स्पष्ट है कि, ये देवता उसके शरीरके अवयव हो गये हैं। देवतायें ईश्वरके शरीरके अवयव हैं, यह यहां स्पष्ट हो चुका है। (अभवन्) 'बन गये' यह अर्थ स्वयं जैसे थे, वैसे ही बन गये, यह भाव बता रहा है। सूर्य जैसा था, वैसा ही इस प्रभु का आंख बन गया है। यह अर्थ पाठक सर्वत्र देखें।

इसके पश्चात् क्रिया 'आहुः' है, इसका अर्थ 'कहते हैं' ऐसा है। (ब्रह्म यस्य मुखं आहुः) 'ब्राह्मणको जिसका मुख कहते हैं।' अर्थात् 'सूर्य जो जिसकी आंख कहा जाता है।' यहां सूर्यको आंख कहना है, बनाना, रचनाविशेष करना नहीं है। तैंतीस देवताओंको परमेश्वरके तैंतीस अवयव कहते हैं। यहां उनमें हेरफेर, बनावट रचना आदि कुछ भी नहीं है। जैसे तैंतीस देव हैं, वैसे ही ये परमेश्वरके अवयव हुए हैं। न हमने मानना है, न किसीने बनाना है। तैंतीस देवता परमेश्वरसे भिन्न नहीं हैं, वे परमेश्वरके अंग ही हैं, उनको परमेश्वरके अंग मानना और वैसा कहना है।

'रामसिंग' को 'राजा' कहते हैं, इसमें रामसिंग और राजामें अभेद है। न किसी रचनाविशेषसे वह राजा कहा जाता है। इसी तरह यहां भी समझना चाहिये।

इन सब क्रियाओं में यही एक भाव देखना उचित है। सब क्रियाओं के विभिन्न भाव यहां अपेक्षित नहीं हैं। यहां इन सभी क्रियाओं से एक ही भाव समझना योग्य है। वह (अभवन्) 'हो गये हैं' अथवा (आहुः) 'कहे जाते हैं,' इन क्रियाओंसे स्पष्ट होता है। इसीका अधिक स्पष्टीकरण आगेके मन्त्र करेंगे। अतः वे मन्त्र अब देखिये-

प्रजापति का विश्वरूप

"एक के ही सहस्रशः विभाग हुए हैं।"

यत्परमं अवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ८
कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र ॥ ९ ॥

'जो उच्च स्थानमें स्थित, जो मध्य स्थानमें स्थित और जो निम्न स्थानमें स्थित रूप है, वह (विश्वरूपं) विश्व का रूप प्रजापतिने सृजन किया है। (स्कम्भः) सब का आधारस्तम्भ (तत्र कियता प्रविवेश) वहां कितना प्रविष्ट हुआ है? और जिसमें वह प्रविष्ट नहीं हुआ, वह कितना हुआ है? (क्या वहां कोई ऐसी वस्तु या स्थान है कि जहां सर्वाधार नहीं है?) सब का आधारस्तम्भ भूतकालमें बने पदार्थोंमें कितना प्रविष्ट हुआ था? भविष्यमें बननेवाले पदार्थोंमें इस का कितना भाग प्रविष्ट होगा? (और वर्तमानकालमें बने पदार्थोंमें इस का कितना भाग प्रविष्ट हुआ है?) (एकं यत् अंगं सहस्रधा अकरोत्) इसने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त किया है, इसमें आधारस्तम्भ कितना प्रविष्ट हुआ है?'

इन मंत्रोंमें मुख्य वाक्य (एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्) 'अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त किया है,' यह है। यदि यह मन्त्रभाग ठीक

तरह समझमें आ जायगा, तो सब वेदका सिद्धान्त और सर्वेक्यवादका तत्त्व ठीक तरह समझ में आ जायगा। इस प्रभुने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त करके विश्वरूप बना दिया है। जैसे किसी वृक्ष के या किसी वेल के टुकडे करके लगाये, तो वे उगते हैं और उसका प्रत्येक टुकडा पहिले जैसा वृक्ष होता है, इसी तरह इस एक ही सर्वाधारने अपने एक अंग के सहस्रों टुकडे किये और ये नाना प्रकार के पदार्थ उन से बने हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, विद्युत्, वृक्ष, वनस्पति, पशुपक्षी, मानव आदि सब प्राणी ये सब उस सर्वाधार के एक अंग के विभिन्न छोटे मोटे टुकडे हैं। जिस तरह मिश्री के डेले के अनेक टुकडे बनये, तो उसमें मीठास सबों में एकसी भरी रहती है, इसी तरह परमात्मा के एक अंग के हजारों टुकडे होनेपर परमात्मा का 'सत्-चित्-आनन्द' यह भाव सब में समभाव से ही रहता है। पाठक इस बात को ठीक तरह समझने का यत्न करें।

लकडी के टुकडे करने पर लकडी उसी सब में व्याप्त रहती ही है, सोने के सकडों टुकडे करने पर जैसा सब टुकडों में सोना पूर्णतया व्यापक रहता ही है, इसी तरह प्रजापतिने एक अंग को सहस्रधा विभक्त करके जो यह विश्वरूप-संसार का रूप-बनाया, उस विश्वरूप में वह प्रजापति पूर्णतया व्याप्त है, क्या इस विषय में किसको सन्देह हो सकता है? यह मन्त्र ठीक तरह ध्यान में रखकर पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तर दीजिये—

१ प्रश्न- (परम) द्युलोक, (मध्यम) अन्तरिक्षलोक और (अवम) भूलोक में जो सब रूप है, वे प्रजापतिने मापन किये हैं। उस में प्रजापति कितना प्रविष्ट हुआ है? और ऐसा कितना भाग शेष रहा है, जिसमें वह प्रविष्ट नहीं हुआ?

उत्तर- इस त्रिलोकी में जो पदार्थमात्र हैं, वह सब प्रजापति के एक

इस तरह एकके ही अंशसे सहस्रधा विभक्त होकर नाना प्रकार के रूप बने हैं, संपूर्ण विश्व, संपूर्ण संसार इसी तरह बना है। अतः यह विश्व ही परमेश्वर का स्वरूप है, जो साधक को सेव्य है।

जिस तरह मिश्री के अनेक खिलौने बनाने पर सबमें मिश्री ही रहती है, जिस तरह कपास के अनेकानेक वस्त्र बनने पर सब में कपास ही रहता है, जिस तरह 'अ' कार से सब वर्णमाला, शब्द, वाक्य और सब वाङ्मय बनने पर सब में 'अ' कार ही व्याप्त रहता है, इसी तरह एक ही प्रजा-पति के एक अंग से सहस्रधा विभक्त होकर संपूर्ण विश्व बनता है, उस में पूर्णतया प्रजापतिही व्यापक रहता है। क्योंकि यहां दूसरा कोई आयेगा ऐसा नहीं है, जो अंग सहस्रधा विभक्त हुआ, वह प्रजापतिही था। उस अंग के सहस्रों लाखों, करोडों या परार्धावधि विभाग करके प्रत्येक विभाग के और अनेक प्रविभाग भी बनाये गये, तो वे प्रजापतिके ही भाग, विभाग अथवा प्रविभाग होंगे। वहां किसी दूसरे का आना सम्भव ही नहीं है। अतः प्रजापतिके एक अंगसे बने इस विश्व में संपूर्णतया प्रजापति ही भरपूर भरा है, यह स्पष्ट है।

यहां टुकडों की कल्पना इस विषय के समझाने के लिये की है। वस्तुतः इस विश्वमें एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न पृथक् और अलग नहीं है। सब पदार्थ बीचके अग्नि, वायु, आकाश से जोडे गये हैं, अतः सब एक ही वस्तु है। और यह एक ही वस्तु नाना रूपों में प्रतीत होती है, अतः सब विश्वरूप उसी प्रजापती का रूप है और वह रूप अखण्ड, अटूट, अतन्य, अपृथक् है।

यहां पूर्व स्थान में जो क्रियापद विचार किया इन क्रियापदोंमें 'विमे-जिरे, आभचन्' ये क्रियापद थे। इनका स्पष्टीकरण यहां के 'एक अंग को सहस्रधा विभक्त कर के संसार बना है,' इस विधान से होता है।

' विभेजिरे ' पद से भी विभक्त होने का भाव टपकता है। विध में विभक्तता प्रतीत होती है। पुरुषसूक्त में ' प्रथम पृथ्वी हुई और पश्चात् उस पर के शरीर बने, ' ऐसा ५ वे मंत्र में कहा है। तथा उस का ' एक पाद सब भूत हैं, ' ऐसा तृतीय मंत्रमें कहा है। इस सब विवरण का आशय इस स्कम्भसूक्त में ' एक अंश सहस्रधा विभक्त होकर यह संसार बना, ' इस विधान में पाया जाता है। पाठक इस तरह पूर्व लेखों में आये वर्णनों का समन्वय करते रहें।

परमेश्वर के पांव, पेट, मस्तक क्रमशः भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं, सूर्य आंख है, वायु प्राण है, नदियां नसनाडियां हैं, वृक्ष केश हैं, दिशाएं कान हैं, अग्नि मुख है, इस तरह यह परमात्मा विश्वरूप है। अथवा इस के एक अंश से यह सब विश्व बना है। परमेश्वर अदृश्य है, ऐसा अब कोई न मानें, परमेश्वर ही यह सब विश्व है, अतः वह दीखता है। मनुष्य, गाय, घोडे आदि सब प्राणी परमेश्वर के ही रूप हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये ईश्वर के सिर, बाहु, पेट और पांव हैं। यहीं ईश्वर साधकके द्वारा संसेव्य है। इस प्रभु की सेवा किस तरह करनी चाहिये, इसका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को हो सकता है। इसीके विषयमें अब थोडासा और देखिये-

असत् से उत्पन्न हुए बडे देव

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असद् आहुः परो जनाः ॥ २५ ॥
यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु सं विदुः ॥ २६ ॥

' (ते देवाः बृहन्त नाम) वे देव बडे प्रसिद्ध हैं, (ये) जो (असतः परि जज्ञिरे) असत् से उत्पन्न होते आये हैं। वह जो (असत्) असत् है, (तत् स्कंभस्य एकं अंगं) वह इस आधारस्तंभ

प्रभु का एक अंग है, ऐसा (परः) विशेषतः (जनाः आहुः) ज्ञानी लोग कहते हैं; (यत्र) जहां (स्कंभः) सब का आधारस्तम्भ परमेश्वर सृष्टि का (प्रजनयन्) प्रजनन करता हुआ (पुराणं व्यवर्तयत्) प्राचीन रूप को पलटा देता है, तब (तत् पुराणं) वह प्राचीन रूप भी (स्कंभस्य एकं अगं) सब के आधारस्तंभ परमेश्वर का एक अंग था, ऐसा ज्ञानी लोग (अनु सं विदुः) ठीक तरह अनुसंधान करके जान लेते हैं। '

यहां ' असत् ' नामक एक अङ्ग उस सब के आधारस्तम्भ का अङ्ग है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् असत् और सत् ऐसे दो अङ्ग इस एक ही स्कम्भ के हैं, यह बात यहां स्पष्ट हुई। स्कम्भ एक ही है, पर उसके दो अङ्ग हैं, एक सत् और दूसरा असत्। यहां समीकरण ऐसा हुआ-

स्कंभः = [सत् + असत्]= (वेदोक्त देव)
| |
आत्मा + ३३ देव

पुरुषोत्तम = अक्षर + क्षर= (गीतोक्त देव)

वेद में ' सत् + असत् = स्कंभ ' इस परिभाषा से जो तत्त्वज्ञान कहा है, वही तत्त्वज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता में ' अक्षर + क्षर = पुरुषोत्तम ' इस परिभाषा से कहा है। इस का विवेचन हमने ' मीठास + ढेला = मिश्री ' इस दृष्टान्त से किया है। जिस तरह ' मिश्री ' का एक अङ्ग ' मिठास ' है और दूसरा अङ्ग ' ढेला ' है, और ये दोनों अङ्ग कभी विभक्त नहीं रह सकते, सदा एकत्र ही रहते हैं, जो ' मिश्री ' नाम से दोनों इकट्ठे बोधित होते हैं, इसी तरह ' स्कम्भ ' के दो अङ्ग हैं, एक ' सत् ' जो चैतन्यरूप से अनुभव में आता है और दूसरा ' असत् ' जो बदलनेवाले जगद्रूप से अनुभव में आता है, परन्तु ये दो कभी पृथक् नहीं रहते, सदा एक दूसरे के

साथ मिलेजुले ही रहते हैं, जिन दोनों संमिलितों को मिलकर ' स्कंभ ' नाम यहां दिया है। कभी विभक्त न रहनेवाले और सदा परस्पर संमिलित रहनेवाले ये दो ' भाव ' हैं, ये परस्पर दो पृथक् वस्तुएं नहीं हैं।

कल्पना से पृथक् ' भाव ' मानना और बात है और वस्तुरूप में पृथक् ' वस्तुसत्ता ' होना और बात है। जैसे ' मीठास और रवा ' ये कल्पनागत भेद हैं, उनको पृथक् वस्तुसत्ता नहीं है, वैसे ही ' सत् और असत् ' ये कल्पनागत भेद हैं, इनको द्रव्यरूप वस्तुसत्ता नहीं है, इसीलिये ये (स्कम्भस्य एकं अगं) आधारस्तम्भ परमेश्वर का यह एक अङ्ग ही है, ऐसा इन मन्त्रोंमें कहा है। अङ्ग ' अंगी' से कभी पृथक् नहीं रहता, यह बात सब जान सकते हैं। अतः वेदमंत्रने यहां ' अंग ' शब्द का प्रयोग करके प्रकृतिकी पृथक् सत्ता का सर्वथा निराकरण किया और ' एक ही वस्तु ' है, एक ही ' सत् ' है, यह विशेष रीति से स्पष्ट किया। इस तरह ' सदैक्यवाद ' की पुष्टि इस मन्त्रने की है, पाठक इस का अनुभव लें और इस प्रकार वेद का सदैक्यवाद जानने का यत्न करें।

जिसको दार्शनिक ' प्रकृति ' कहते हैं, उस को वेदने यहां ' असत् ' कहा है। यहां के ' असत् ' का अर्थ (अ-सत् Non-existence) अभाव नहीं है। (अस्यति इति) ' असत् ' वह है, जो अपने अन्दरसे अनेक वस्तुओं को बाहर फेंकता रहता है। बाहर फेंकने के अर्थ के ' अस् ' धातु का बना यह पद है। इस का अर्थ ' प्रकृति ' है, यह प्रकृति सर्वाधार प्रभु का ही एक अङ्ग है, उस प्रभु से सर्वथा पृथक् सत्ता इस में नहीं है। यह परमेश्वर की निज प्रकृति अर्थात् (प्रकर्षयुक्त कृति) विशेष वस्तुओंके निर्माण करने की शक्ति है। जिस तरह किसी चित्रकार में अथवा किसी कारीगर में नाना प्रकार के पदार्थ निर्माण करने की शक्ति होती है, वह शक्ति उसी के जीवन का भाग होती है और उस से पृथक् नहीं होती;

इसी तरह प्रभु की यह शक्ति प्रभु के एक अङ्ग के रूप में उसी में रहने-वाली है, इस से (बृहन्तः देवाः) बडे देव, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि बने हैं। ये किसी भिन्न प्रभुसे, विभिन्न वस्तु से बने नहीं हैं। प्रभु के ही निज अङ्ग से बने हैं और उसी प्रभु के अंगों में रहे हैं। 'तैंतीस देव उस के गात्र बनकर रहे हैं,' ऐसा जो २७ वें मन्त्र में कहा है, उस का अर्थ भी यहीं है।

यह प्रभु (प्रजनयन्) अपने इस अङ्ग से संपूर्ण विश्व निर्माण करता है, यह निर्माण करना वर्तमान काल में होता है, अतः भूतकाल में जो सृष्टि थी, उस (पुराणं व्यवर्तयत्) पुराणी सृष्टि को उल्टाना, मिटाना, फिरा देना या नष्ट करना आवश्यक ही होता है। इसलिये पुराणी सृष्टि चली जाती है और नयी निर्माण होती है। इस तरह यह संसार का व्यव-र्तन-चक्र फिरता रहता है। जैसा वर्तमान संसार उस प्रभु का एक अङ्ग है, उसी तरह भूतकाल का संसार भी प्रभु का एक अङ्ग था, और इसी निय-मानुसार भविष्यकाल में निर्माण होनेवाला संसार भी उसी प्रभुका अङ्ग होकर ही रहेगा। उससे उसकी सत्ता पृथक् नहीं होगी, क्योंकि उसी के एक अङ्ग से यह बना है। ये असत् और सत् उसीमें रहते हैं, इस विषयमें और देखिये–

सदसत् उसीमें हैं

यत्र लोकांश्च कोशांश्च आपो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि
कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्।
ऋतं च यत्र श्रद्धा च आपो ब्रह्म समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥
असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परमं इव जना विदुः।

उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखां उपासते ॥ २१ ॥
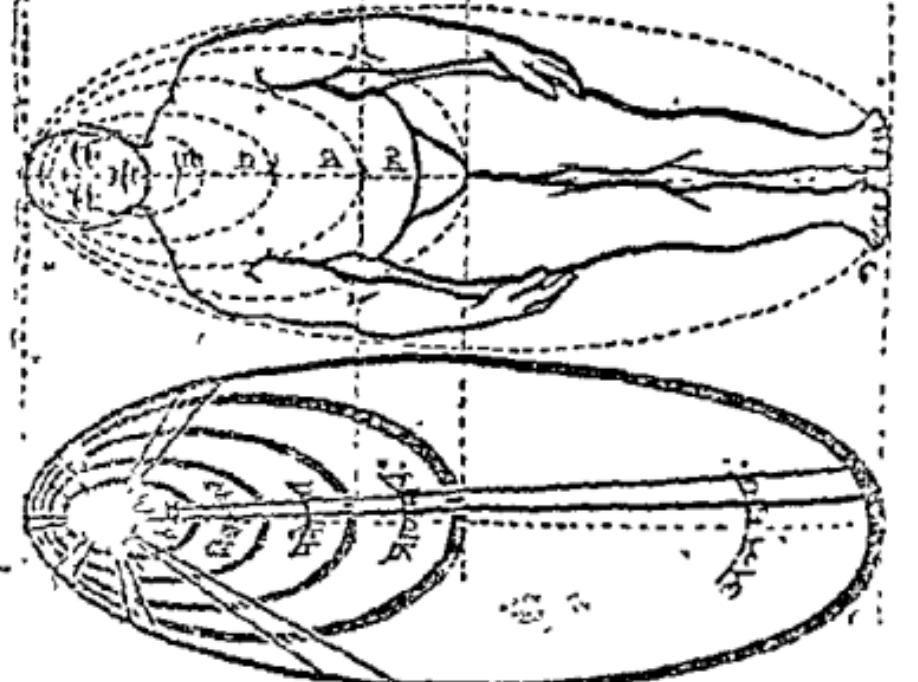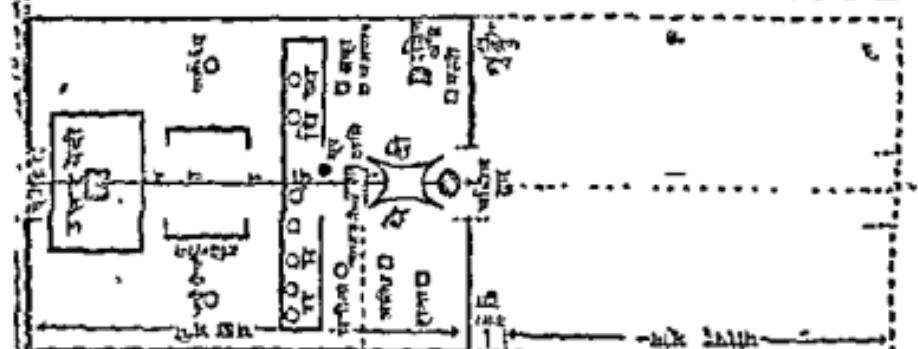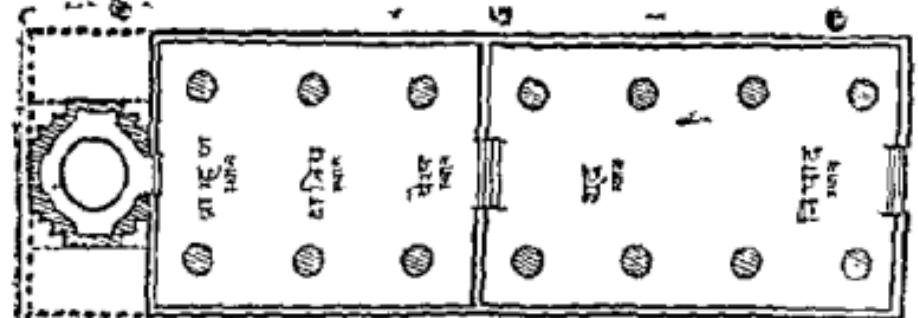
' (यत्र) जिस में (लोकान् च) तीनों लोक (कोशान् च) पंच कोश, (आपः) जलप्रवाह और (ब्रह्म) ब्रह्म रहता है, (असत् च सत् च यत्र अन्तः) असत् और सत् जिसके अन्दर रहते हैं, ऐसा (जनाः विदुः) ज्ञानी लोग जानते हैं, तथा (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सब के आधारस्तम्भ प्रभु का वर्णन कर, वह अनेकों में एक ही सब का आधारस्तंभ है। जिस के अन्दर तप के पश्चात् श्रेष्ठ व्रत का धारण करते हैं, जिस के अन्दर ऋत, श्रद्धा, आप् और अन्न तथा ज्ञान समाये हैं, उस सब के आधारस्तंभ का वर्णन कर, वह एक ही अनेकों का आधारस्तंभ है। (प्रतिष्ठन्तीं शाखां) प्रतिष्ठा पायी संसाररूपी शाखा को असत् से उत्पन्न होने पर भी (परमं इव) श्रेष्ठ जैसी ही (जनाः विदुः) ज्ञानी लोग मानते हैं। परन्तु दूसरे (अ-वरे) कनिष्ठ प्रकार के लोग हैं, जो (उतो सत् मन्यन्ते) उस को सत् मानते हैं, (ये ते) जो वे केवल (शाखां उपासते) उस शाखा की ही उपासना करते हैं।'

यहां दो प्रकार के लोग कहे हैं, (१) एक वे लोग कि जो इस सब संसार को परमेश्वर के असत् नामक अङ्ग से उत्पन्न हुआ मानते हैं, और उस कारण उस को परम श्रेष्ठ जैसा मानते हैं और उस को परम श्रेष्ठ समझ कर उस की उपासना करते हैं। यह संसार सर्वाधार स्तम्भ परमात्म-रूपी वृक्ष की एक शाखा है, ऐसा समझ कर अखण्ड वृक्षरूप से उस शाखा की उपासना वे करते हैं।

(२) दूसरे एक प्रकार के लोग हैं कि जो इस संसार को, केवल इस शाखा को ही, सत् मानते हैं और मूल वृक्ष का विचार न करते हुए, केवल इस शाखा की ही उपासना करते रहते हैं, ये अवर अर्थात् कनिष्ठ लोग हैं।

एक वृक्ष है, उस की संसाररूपी एक शाखा है, ऐसा मानकर सब शाखाओं से युक्त संपूर्ण, अखंड और अटूट वृक्ष की भेदरहित एक अखंड सत्ता को मानना और उस की किसीएक शाखा की उपासना करते समय संपूर्ण, अखंड, अटूट वृक्ष की अनन्य उपासना करनेके हेतु से, उस शाखा की उपासना करना श्रेष्ठ ज्ञानियोंका कार्य है।

यहां दो प्रकार के उपासक हैं। दोनों प्रकार के लोग शाखा की ही उपासना करते हैं। क्योंकि यह वृक्ष इतना प्रचण्ड है कि संपूर्ण वृक्ष की उपासना करना मानव के लिये असम्भव ही है। अतः उपासना करनेवाले किसी शाखा की अथवा शाखा के किसीएक भाग की ही उपासना करते हैं। परन्तु इस उपासना के करनेके समय दोनों के मन में विभिन्न भाव रहते हैं। (१) जो तो श्रेष्ठ ज्ञानी लोग हैं, वे जानते हैं कि यह शाखा एक बडे वृक्ष की शाखा है, इस वृक्ष को इस तरह की अनेक शाखाएं हैं। इस वृक्ष का विस्तार बडा है। शाखाओं को बाहर फैलाना इस वृक्ष की निज शक्ति है। यह तत्त्व ये जानते हैं और जिस शाखा की सेवा करनी हो, उस शाखा की सेवा, संपूर्ण वृक्ष की वह शाखा है, ऐसा मान कर, अखंड वृक्ष की किसी तरह हानि न करते हुए, उस शाखा की सेवा वे करते हैं। ये श्रेष्ठ ज्ञानी हैं। यह इनकी उपासना अनन्यभाव से होती है। (२) दूसरे कनिष्ठ लोग हैं, वे अपने पास की शाखा को ही संपूर्ण और पृथक् वृक्ष समझते हैं, दूसरी शाखा को काटते, तोडते-मरोडते हैं, वृक्ष की जड को भी उखाड देते हैं, और अपनी ही शाखा का पोषण करने का यत्न दूसरी शाखा की हिंसा कर के करते हैं। ये अखंड, संपूर्ण वृक्ष को जानते नहीं। अपनी एक शाखाको ही ये सब कुछ मानते हैं। इन के प्रयत्न से अन्य शाखाओंको तथा वृक्ष को भी क्षति पहुंचती है। इसलिये ये लोग हीन अथवा नीच समझे गये हैं।

इस परमात्मरूपी वृक्ष की मानवसमाजरूपी अनेक शाखाएं हैं। अपने समाज का हित करने के लिये जो दूसरे समाजों को तथा अपने राष्ट्र का हित करने के लिये दूसरे राष्ट्रों का काटनेका यत्न करते हैं, वे कनिष्ठ प्रकार के लोग हैं, क्योंकि सब मानवजातियें एक ही परमात्मरूपी वृक्ष की अनेक शाखाएं हैं, ऐसा वे जानते नहीं। (यातवः यस्य अङ्गानि । १८) प्राणी जिस के अङ्ग हैं, वह परमात्मा है, यह ज्ञान उनको नहीं है। परन्तु सब प्राणी अथवा सब स्थावर-जंगम विश्व परमात्म-वृक्ष की शाखाएं हैं, ऐसा जो ज्ञानी जानते हैं, वे अपनी शाखा की अर्थात् अपनी जाति की अथवा राष्ट्र की सेवा ऐसी करते हैं कि, जिस से अन्य शाखाओं की हानि न हो। ऐसा जो करते हैं, वे श्रेष्ठ लोग हैं।

इस विचार से पाठकों को पता लगा होगा कि सर्वैक्यवादकी दृष्टि से वेद का उपदेश कितना स्पष्ट है। सर्वाधार प्रभु है और उस में पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्युलोक ये तीन लोक हैं, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनंदमय ये पंचकोश हैं, सब जलप्रवाह उसी में बहते हैं, सब अन्न, सब प्रकार के तप और व्रत, ऋत, सत्य और श्रद्धा ये सब उसी में समाये हैं। उसी में 'सत् और असत्' रहे हैं। असत् से सब देवताएं तथा सब संसार हुआ है, सबसे संचालन हो रहा है। यह सब विश्व उसी का रूप है। इसलिये किसी की सेवा करनी हो, तो सब ब्रह्माण्ड मिलकर एक सत् है, ऐसा जानकर अखंड भाव से ही उपासना करनी चाहिये।

स्तम्भ का आधार

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे
स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः
स्कंभ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मि-

म्नुयन्ते य उ के च देवा
वृक्षस्य स्कंधः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

'(स्कम्भः) सब के आधारस्तम्भने ही पृथ्वी, बड़ा अन्तरिक्ष और द्युलोक (दाधार) धारण किया है, इसी आधारस्तम्भने दिशा और उप-दिशाओं का धारण किया है, वही सब विश्व में प्रविष्ट हुआ है। इस भुवन के मध्य में बड़ा यक्ष रहता है, वह जल के पृष्ठपर प्रकट हुए प्रकाश में गति करता है। जो कोई देव है, वे सबके सब (तस्मिन् श्रयन्ते) उसी के आश्रय से रहते हैं, जैसे (वृक्षस्य स्कंधः) वृक्ष का धड़ होता है और उस के (परितः) चारों ओर (शाखाः इव) जैसी उस की शाखाएं होती हैं।'

त्रिलोकी का आधार वही है, जो भी कुछ है, उस को इसी का आधार है। इस के एक अङ्ग से ही सब संसार बना है, इसलिये सोनेके जेवरोंमें सोना घुसा रहनेके समान यह प्रभु इस विश्व में रहता है। संपूर्ण विश्व में यही प्रभु अनन्य और अखंड भाव से यजनीय या पूजनीय है। सब देव इसी में आश्रय पाते हैं, जैसे सब जेवर सोने में आश्रय पाते हैं, जो उस से बने होते हैं। इसके एक अङ्ग से सब देव बने हैं, (मन्त्र २५) इसी-लिये सब देव इसी के आश्रय से रहते हैं, अथवा सब में यही व्याप रहा है, जैसी मिट्टी घड़ों में व्यापक रहती है।

वृक्ष और उस की शाखाओं की उपमा यहां दी है। वृक्ष परमेश्वर है और शाखाएं देवताएं हैं, वृक्ष की अपनी शक्ति से शाखाएं फलती हैं, सब शाखाओं को वृक्ष का आधार है, सब शाखाओं में वृक्ष व्याप रहा है, परन्तु वृक्ष शाखाओं से भिन्न नहीं। इसी तरह परमेश्वर और तेंतीस देवता हैं, वे परमेश्वर के आधार से कार्य करती हैं, और परमेश्वर उन में व्यापता है। परमेश्वर पृथक् और संसार पृथक् नहीं है, परमेश्वर के एक अंश से सब

संसार बना है, इसलिये अकरूप होने से जो व्यापकता होती है, वह भट-थग्भाव से होती है। लोहे में अग्नि व्यापक होता है; यह व्यापकता पृथग्भाव से हुई है, परन्तु वस्त्रमें कपास की व्यापकता अपृथग्भाव से है। जो परमेश्वर की सर्वव्यापकता है, वह अपृथग्भाव से है, यही यहां स्पष्ट किया है। इसलिये परमेश्वर को 'अ-भिन्न-निमित्त-उपादान-कारण' दार्शनिक मानते है।

ऋषियों का निवास

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥

पिप्पलाद पाठ

यत्र ऋषयो भूतकृत ऋचः साम यजुर्मही।

(अ. पि. १७-८-५)

'जहां प्रथम उत्पन्न हुए ऋषि, ऋग्वेद सामवेद और बडा यजुर्वेद तथा मुख्य एक ऋषि समाये जाते है, उस आधारस्तम्भ का वर्णन कर, वह एक ही अनेकों का एकमात्र आधार है।(पिप्पलाद- संहिता का पाठ) जहां भूतों को बनानेवाले ऋषि, ऋक्, साम और बडा यजु ये सब समाये है।'

यहां सब ऋषियों का आधार परमेश्वर बताया है। ऋषियों से चारो वर्णों की उत्पत्ति होने का वर्णन पुराणों में है। परमात्मा से ऋषि हुए और ऋषियों से चारो वर्णों की प्रजा उत्पन्न हुई। अर्थात् सब प्रजा परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है। पुरुषसूक्त में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र परमेश्वरके मुख, बाहु, पेट और पांव है। वही बात यहां कही है। सब ऋषि परमेश्वर के शरीर में समाये है और सब ऋषियों में चारो वर्ण समाये है।

इस तरह सब मानवजातियां परमात्मारूप वृक्ष की शाखाएं है। इसमें

से अपनी जाति की सेवा मानवों को ऐसी अखंड भाव से करनी चाहिये कि, जिस से अखंड मानवजातिकी उन्नतिमें किसी तरह क्षति न हो सके; यह सामाजिक, जातीय, तथा राष्ट्रीय सेवाका मूल सूत्र है। विभक्त भाव से सेवा करनेसे दोष उत्पन्न होंगे और अनन्य (अ-पृथक्) भाव से सेवा करने से सब की उन्नति होगी।

यहां ऋषियों की उत्पत्ति के विषय में वर्णन किया है। अब ऋषियों के पश्चात् वेदोंकी उत्पत्ति के विषय में वर्णन करते हैं-

वेदों की उत्पत्ति

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांऽगिरसो मुखम्
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥

पिप्पलादपाठ-
छंदांसि यस्य लोमानि। (अ. पि. १७-९-१)

' जिस से ऋचाएं बनीं, जिससे यजु के मंत्र प्रकट हुए, सामगान जिस के केश हैं और अथर्वा तथा अंगिरस जिस का मुख है, उस सब के आधार-स्तम्भ का वर्णन कर, वह एक अनेकों का आधार है। (पिप्पलाद०) छन्द जिस के बाल हैं।'

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये सब इसी प्रभु से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रभु का मुख ब्राह्मण अथवा आंगिरस ऋषि है और ऋषि ही मंत्रों का द्रष्टा है। इसलिये प्रभु से ऋषि हुए और उन से मंत्र प्रकट हुए। इस विषय में पुरुषसूक्त के स्पष्टीकरण में जो विवरण किया है, वही यहां देखनेयोग्य है।

परमेश्वर का आधार जैसा सब विश्व के लिये है, वैसा ही वेदों और ब्राह्मवादों के लिये भी है, क्योंकि उस से भिन्न कोई वस्तु यहां नहीं है।

यज्ञ का आधार

यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥ १६ ॥ यज्ञो यस्मिन् पराक्रांतः ।
(पिप्पलाद १७-८-६)

'यज्ञ जहां अपनी शक्ति प्रकट करता है, उस सर्वाधार परमेश्वर का वर्णन कर। वह अनेकों में एक ही सब का आधार है'।'

वेद बननेपर वेदानुकूल यज्ञ बने और वे यज्ञ अपना वैयक्तिक, कौटुंबिक, जातीय, सामाजिक, राजकीय, राष्ट्रीय तथा जागतिक सामर्थ्य प्रकट करने लगे। अर्थात् यज्ञ से इन सब की उन्नति होने लगी। जैसा परमेश्वर मानवों का आधार है, वैसा ही ज्ञान का और कर्म का भी आधार है। ये ज्ञान और कर्म मानवों की उन्नति करनेवाले हैं। यहां मानव, वेद और यज्ञ ये परमात्मरूप ही हैं, यह बात पाठकोंके ध्यान में आ चुकी होगी। 'आहुति, हवि, अग्नि, हवनकर्ता ये सब ब्रह्मरूप हैं।' (गीता ४।२४) तथा 'क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि और हवन यह सब मैं ही हूं। (गी. ९-१६)' ये कथन इन मंत्रों के साथ विचारपूर्वक तुलना कर के देखनेयोग्य हैं, क्योंकि वेद का और गीता का कथन इस विषय में एक ही है।

प्रजापति का आधार

यस्मिंस्तस्तभ्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वॉं अधारयत् ।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

'जिस में ठहरकर प्रजापतिने सब लोकों का धारण किया, वह सब का आधार परमेश्वर है। उस का वर्णन कर। वही अकेला अनेकों का धारण करनेवाला है।'

परमेश्वर के एक अंग से सब लोक और लोकान्तर बने हैं, उन में प्रजा-

पति भी संमिलित है। अर्थात् प्रजापति, सब लोक, सब विश्व, आधारस्तम्भ के एक अंग से बने हैं, अतः वह सब इस के आधार से रहा है, जैसे जेवर सुवर्ण के आधार से रहते हैं। पूर्वस्थान में जो वर्णन किया है, उस के अनुसंधान से यह बात सहज ही से पाठकोंके ध्यान में आ सकती है।

ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥ २४॥

'(ब्रह्मविदः देवाः) ब्रह्म के ज्ञाता देव (यत्र) जहां (ज्येष्ठं ब्रह्म उपासते) श्रेष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं, (तान्) उनको (यः वै प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चय से प्रत्यक्ष जानता है, (स. ब्रह्मा) वह ब्रह्मा कहलाता है और वही (वेदिता स्यात्) ज्ञाता होता है।'

यहां सब देवता ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, यह बात यहां कही है। अपनी आंख से ब्रह्म और सब देवता तथा देवताद्वारा होनेवाली ब्रह्म की उपासना यह प्रत्यक्ष का विषय है। यह सब आंख से देखा जाता है। जो इस सब को देखता है, वह ब्रह्मा अथवा ज्ञाता होता है।

सब विश्वरूप ब्रह्म है, सब देवता उस के अंग-प्रत्यंग ही हैं, सब देवता उसी के लिये कार्य कर रहे हैं, इस का वर्णन इस समय तक हुआ है। यह वर्णन जिस की समझ में आ गया होगा, वह ब्रह्मा और ज्ञाता कहनेयोग्य होगा। सूर्य उस के लिये प्रकाश करता है, वायु उस के लिये बहता है, जलप्रवाह उसी के लिये शक्ति दे रहे हैं; इस तरह सब देव इसी का कार्य कर रहे हैं। यही देखना, जानना और समझना है, यही वर्णन इसी सूक्त के निम्नलिखित मंत्र में देखिये–

देवों का बलिसमर्पण

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥

'(यस्मै) जिस के लिये हाथों, पैरों, वाणी, कान और चक्षु आदि से सदा (विमिते) परिमित स्थान में रहकर (देवाः अमितं बलिं प्रयच्छन्ति) सब देव अपरिमित बलि अर्पण करते हैं, वह सब का आधार परमात्मा है, उसका वर्णन कर, वह अनेकों का एक ही आधार है।'

यहां सब देव उसी के लिये कार्य कर रहे हैं, यह बात स्पष्ट शब्दों से बतायी है। यहाँ का वर्णन विशेष कर मानवों का वर्णन समझना उचित है, क्योंकि 'हाथ, पांव, वाणी, कान और आंख से कार्य करनेवाला' मानव ही है। वाणी का इंद्रिय अन्य योनियों में इतना कार्यक्षम नहीं है, जितना मानव में है। इसलिये यहां हाथों, पांवों, वाणी, कानों, और आंखों से बलिका समर्पण करना यह मुख्यतः मानवों का ही कर्तव्य है। यही परमेश्वर का मानवोंद्वारा होनेवाला यजन है। मनुष्य का हरएक इंद्रिय प्रभु की सेवा में ही लगना चाहिये और सदा यही कार्य उस से होता रहना चाहिये।

अन्यान्य उपासनाएं जो इस समय नाना धर्मपन्थों में प्रचलित हैं, वे उपासनाएं मनुष्य के सब इंद्रियों से होनेवाली नहीं हैं और 'सदा' भी नहीं हो सकतीं। आधारस्तम्भ परमेश्वर का यजनपूजन उन्हीं के द्वारा निरन्तर हो सकता है, जो सब विश्व को परमेश्वर का रूप मानते हैं। विश्व ही परमात्मा होने से और मानव का सब व्यवहार निरन्तर इस विश्व में ही हो रहा है, इसलिये मानव का सभी व्यवहार निरन्तर परमेश्वरके साथ ही हो रहा है। अतः विश्वरूप परमेश्वर का ज्ञान होने पर उस की वृत्ति सदा

ईश्वररूप ही होगी, और सदासर्वदा सभी व्यवहार करनेके समय वह मानव परमेश्वरकी ही सेवा अपने हाथों, पाँवों, आंखों, कानों और अपनी वाणी से सदा ही करता रहेगा। विश्वरूप परमेश्वर का ज्ञान होने पर ही यह सिद्ध होनेवाली बात है, उसके पूर्व अन्य प्रचलित उपासनाओं में यह बात सिद्ध होनेवाली नहीं है।

अन्य सूर्यचन्द्रादि देव, अन्य प्राणी ये सब अपने स्वभाव और सामर्थ्य से सदा परमेश्वर को बलि देते ही हैं, पर मानवों को ही यह बलि समर्पण करके ' यज्ञ ' करनेका उत्तम सामर्थ्य प्राप्त हुआ है, इसलिये सदैक्यवाद का तत्त्वज्ञान जानना और तदनुसार अपना अखण्ड जीवन ही पूर्णतया और सदा प्रत्येक क्षणक्षण में यज्ञरूप बनाना मानव के लिये ही शक्य है। वैसा अन्य जीवोंके लिए शक्य नहीं है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

पिप्पलादपाठ—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते स्कम्भमनुसं विदुः। (अ० पि० १७।८)

' (ये पुरुषे ब्रह्म विदुः) जो मनुष्य में ब्रह्म को जानते हैं, (ते परमेष्ठिनं विदुः) वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानते हैं, जो प्रजापति को जानते हैं और जो श्रेष्ठ ब्राह्मण को जानते हैं, (ते स्कम्भं अनुसंविदुः) वे सब के आधारस्तम्भ को सम्यक् रीतिसे जानते हैं। '

यहां ' पुरुष और परमेष्ठी ' ऐसे दो पद हैं। 'पुरुष' व्यक्ति का दर्शक है और ' परमेष्ठी ' परम समष्टी का द्योतक है। व्यष्टि, समष्टि, परमेष्ठी ये तीन एक से एक विस्तृत हैं। व्यक्ति का नाम व्यष्टि है, अनेक व्यक्तियों

को मिलकर समष्टि होती है। जैसा एक ग्रामका वृक्ष ' व्यक्ति ' है, अनेक ग्रामों की ' समष्टि ' होगी और सब स्थिरचर पदार्थों की परमेष्ठी होगी। इस तरह इन पदों को समझना चाहिये।

विश्व में जो देव हैं, वे ही अंशरूप से आकर व्यक्ति के इंद्रिय बने हैं। व्यक्ति, समष्टि और परमेष्ठीका सम्बन्ध इस तरह है–

(ब्रह्मांड, परमेष्ठी)	समष्टि	(पिण्ड, व्यष्टि)
परमेष्ठी में देव	मानवसमष्टि	व्यक्तिमें इंद्रिय
सूर्य	द्रष्टा, ब्राह्मण	आंख
वायु	क्षत्रिय	प्राण
तैजस	वक्ता	वाक्
अग्नि	,,	मुख
दिशाएं	श्रोता	कान
औषधि	वैद्य	केश
नदियां	—	नाडियां
पृथ्वी	शूद्र	पांव

इस तरह व्यष्टि- समष्टि-परमेष्ठी में देवताएं हैं। सब की सब ३३ देवताएं इस तरह व्यष्टि समष्टि में अथवा पिण्ड-ब्रह्मांड में देखनेसे जो नियम व्यक्ति में वही ब्रह्मांड में है, इस का ज्ञान हो सकता है। इसीलिये इस मंत्र में कहा है कि, जो पुरुषमें ब्रह्मको जानते हैं, वे परमेष्ठी प्रजापति और बाह्य विश्व में ब्रह्मको जानते हैं, यहां परमेष्ठी, प्रजापति, ब्राह्मण और स्कम्भ पद एक ही अर्थ में हैं, उन में किंचित् मात्र कर्मशक्तिके प्रकट होनेका भेद है। पिण्ड-ब्रह्मांड की एकता इसमें कही है। पिंड-ब्रह्मांड में एक ही ब्रह्म है, ब्रह्म का सूक्ष्म रूप पिंड और विस्तृत रूप ब्रह्मांड है।

हिरण्यगर्भ का प्रकटीकरण

हिरण्यगर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भः तदग्रे प्रासिंचत् हिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

'(जनाः विदुः) सब लोग जानते हैं कि, (हिरण्यगर्भं परमं) हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ देवता है, तथा (अनत्युद्यं) अवर्णनीय है । (स्कम्भः) सबके आधारस्तम्भने ही (अग्रे) सब से प्रथम (लोके अन्तरा) इस विश्व के बीच में (तत् हिरण्यं प्रासिंचत्) वह सुवर्ण प्रकर्ष से सिंचित किया ।'

सर्वाधार परमेश्वरने सब से प्रथम अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया । हिरण्यगर्भ सूर्य का जलता गोलक ही है । सब से प्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुआ । परब्रह्म की यह सब से प्रथम की सृष्टि है । हिरण्यगर्भ के पश्चात् नाना लोकलोकान्तर हो गये, और पृथ्वी होने के पश्चात् पृथ्वी पर की वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी और मानवसृष्टि हो गयी है । यहां पहिली हिरण्यगर्भ सृष्टि है, इतना ही कहा है । पुरुषसूक्त में इस के आगे का वर्णन है । (पश्चाद्भूमिं अथो पुरः) पहिले भूमि और पश्चात् उस पर के नाना शरीर हुए हैं ।

यः श्रमात्तपसो जातो, लोकान् सर्वान् समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३६॥

'जो श्रम और तप से प्रकट हुआ जिसने सब लोक व्याप्त किये हैं, जिसने सोम आदि औषधियां बनायीं, उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये मेरा प्रणाम है।

स्कम्भने सब लोग व्याप्त किये हैं । यह व्याप्त करना मिट्टी घडे में व्याप्त होने के समान है, क्योंकि सब विश्वरूप परमेश्वर का ही रूप है और उस की सर्वव्यापकता भी ऐसी ही घडे में मिट्टी के समान है । इसने सोम आदि औषधियां अन्न के लिये बनायी हैं; जिन का भक्षण सब प्राणी करते हैं ।

स्कम्भ और इन्द्र एक है

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षं इन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥
इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

(स्कम्भे) सब के आधारस्तम्भ प्रभु में सब लोक, तप, और ऋत समाये हैं, सर्वाधार प्रभु में यह सब समाया है । यह स्तम्भ प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रभु है, स्कंभ और इन्द्र एक ही सत्तत्त्व को बतानेवाले दो पद हैं। अतः इन्द्र में ' सब लोक, और ऋत समाया है । सब कुछ इस इन्द्र में समाया है। यह इन्द्र प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रभु है । '

यहां बताया है कि, इन्द्र और स्कंभ एक ही के दो नाम हैं। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के नाम भी इसी एक तत्त्व के हैं, यह जानना चाहिये । ' एक ही सत् है, कवि उसी एक का वर्णन अनेक प्रकारोंसे करते हैं, ' (ऋ. १।१६४।४६) इसी बात को यहां इस तरह दुहराया है ।

गुह्य प्रजापति

यो वेतसं हिरण्ययं सलिले तिष्ठन्तं वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

' (यः) जो (सलिले तिष्ठन्तं) जल में रहनेवाला (हिरण्ययं वेतसं वेद) सुवर्ण का बेंत जानता है, निश्चय से यह (गुह्यः प्रजापतिः) गुह्य प्रजापति है । '

सुवर्ण जैसा चमकीला, अग्नि के समान जलता हुआ, और जलस्थान में रहनेवाला तेज ' विद्युत् ' ही है । यह विद्युत् जब चमकती है, तब वह बेंत के समान, जलते हुए सुवर्ण के बेंत के समान टेढीमेढी दीखती है । ' हिरण्यय-वेतस् ' का वर्णन करनेवाला एक मंत्र ऋग्वेद में मिलता है-

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा न अवचक्षे।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये आसाम्।
(ऋ. ४-५८-५)

'(हृद्यात्-समुद्रात्) मनोहर अन्तरिक्षसे (शतव्रजाः) सैकड़ों समूहोंद्वारा, शत्रु को न दिखते हुए (अर्षन्ति) नीचे गिरनेवाली ये (घृतस्य धाराः अभिचाकशीमि) जलधाराएं मैं देख रहा हूँ, (आसां मध्ये) इनके मध्य में (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्ण के समान चमकनेवाला एक बेंत है।' अर्थात् वृष्टि करनेवाले मेघों में चमकनेवाली यह विद्युत् ही है। प्रजापति परमेश्वर का यह गुप्त रूप है। यह कभी प्रकट होता है, कभी नहीं। विद्युत् सर्वत्र है, परन्तु वह कभी चमकती है, कभी नहीं। सदा यह गुप्त ही रहती है।

सर्वत्र चञ्चलता क्यों है ?

'कथं वातो नेलयति ? कथं न रमते मनः ?
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चनः॥ ३७

(वातः कथं न इलयति) वायु क्यों नहीं स्तब्ध रहता ? (मनः कथं न रमते) मन क्यों एक स्थान पर नहीं रमता, नहीं स्थिर रहता ? (सत्यं प्रेप्सन्तीः आपः) सत्य की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले जलप्रवाह (किं न कदाचन इलयन्ति) क्यों कभी ठहरते नहीं ?'

इस संसार के सभी पदार्थ गतिमान क्यों हैं ? ये स्थिर क्यों नहीं ? इस का उत्तर यह है कि, संसार में जड और चेतन, क्षर और अक्षर, प्रकृति और पुरुष ये एक ही सद्वस्तु के दो भाव हैं। यहां केवल जड और केवल चेतन ऐसे अलग अलग और सर्वथा पृथक् ऐसी दो वस्तुएं नहीं हैं। वस्तु एक ही है, 'एकं सत्' सत् एक ही है। उसी एक सत् का एक भाग जड जैसा और दूसरा भाग चेतन जैसा है, ये दो आभास एक ही वस्तुके हैं।

इसलिये चेतन सब को हिलाता रहता है, यह चैतन्य सर्वत्र भरा है। गति और स्थिति एक वस्तु के ही दो भाव हैं। इसलिये सब में गति दीखती है। जिस तरह रवा और मिठास ये मिश्री में दो भाव हैं, इसी तरह जडचेतन ये दो भाव विश्व में हैं। ये एक ही वस्तु में रहने से सब हिलता है और कोई वस्तु स्थिर नहीं है, ऐसा सर्वत्र प्रतीत होता है।

अज्ञाननिवारण और पापदूरीकरण

अप तस्य हतं तमः, व्यावृत्तः स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ २० ॥

(तस्य तमः अपहतं) उस का अन्धकार या अज्ञान, दूर हुआ। (सः पाप्मना व्यावृत्तः) वह पाप से दूर हुआ। (तस्मिन्) उसमें (सर्वाणि ज्योतींषि) सब ज्योतियां रहती हैं, (यानि) जो (त्रीणि प्रजापतौ) तीनों प्रजापति में रहती हैं।'

जब प्रजापति में रहनेवाले तीनों ज्योतियाँ, सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये जैसी परमेश्वरमें हैं, वैसी ही मनुष्यमें हैं, यह ज्ञान प्रत्यक्ष रीतिसे मनुष्यको होता है, तब वह अपने आप को परमेश्वर में, परमेश्वर से अनन्य, अभिन्न, अपृथक् और अखंडित जानता और समझता है, तब उस का अज्ञान और पाप दूर होता है। केवल तीन ज्योतियां ही नहीं, अपितु तेंतीस देवताएं भी जैसी परमेश्वर के विश्वव्यापक देहमें हैं, वैसी ही मनुष्य के देहमें हैं, जैसे तीनों लोक परमेश्वर में हैं, वैसे ही मनुष्य के देह में हैं, इस तरह समता देखता है, तब अपनी और पिता की वह एकता देखता और जानता है। विश्वरूप परमात्मा के देह में वह अपने आप को एकरूप हुआ देखता है, तब यह अनन्य भाव उस का निज भाव है, यह उसको ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही अन्तिम ज्ञान है, जो मनुष्य के लिए अवश्य प्राप्तव्य ज्ञान है। मनुष्यजन्म की सार्थकता करनेवाला यही ज्ञान है।

कालके विषय में प्रश्न

क्वार्धमासाः ? क्व यन्ति मासाः ? संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः, स्कंभं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥ ५ ॥ क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ? ॥ ६ ॥

पिप्पलादपाठ—

कतमदंगं अनुसंचरेते अहोरात्रे संविदाने समानम् ॥ २ ॥
(अ० वि० १०।७।२)

'(अर्धमासाः) पक्ष, (मासाः) महिने, (ऋतवः) ऋतु, (आर्तवाः) ऋतु से बननेवाले अयन, (संवत्सरेण सह संविदानाः) वर्ष के साथ संयुक्त होकर (क्व यन्ति) कहां जा रहे हैं ? (विरूपे युवती अहोरात्रे) परस्परविभिन्न रूपवाली दो युवतियां अर्थात् दिन की प्रभा और रात्री किस की इच्छा करती हुई (क्व द्रवतः) कहां जा रही हैं ? [पिप्पलाद०] (कतमद् समानं अंगं अनुसंचरेते) किस समान अङ्ग का अनुसरण करनेवाले अहोरात्र कहां जा रहे हैं, वही सब का एक आधारस्तंभ है, वही एक सब अन्योंको आधार देता है।'

यहां कालके संबंध में प्रश्न पूछे हैं। सर्वैक्यवाद समझनेके लिये कालका वर्णन सब से अच्छा है। काल एक ही है परन्तु उस के विभाग अनेक हैं। त्रुटि, पल, विपल, क्षण, घटी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्री, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि काल के भेद व्यवहारके विषय हैं, परन्तु एक ही अखण्ड काल है, उस की एकता में कालके इतने अवयव होने से कोई बिगाड नहीं होता। काल अखण्ड है, पर हम व्यवहार में खण्डयुक्त काल से, दिन, मास आदिसे, व्यवहार करते हैं। यह व्यवहार होता ही है, परन्तु इस व्यावहारिक कालखण्डों से मुख्य कालकी

एकता में किसी तरह की बाधा नहीं आती।

इसी तरह विश्वव्यापक विश्वरूपी अखण्ड परमेश्वर सर्वत्र अखण्ड भरा है, उस के अवयवरूपी नाना पदार्थोंमें मानवादि प्राणियों का व्यवहार हो रहा है यह व्यवहार भेदमूलक तो है ही, परन्तु इस व्यवहार से उस की अखण्ड, अटूट और अनन्य एकता में भेद नहीं आता।

पाठक इन दोनों की तुलना करके सब एक ही है यह जानें और सदा इस एकत्व की जागृति रखें और इस जागृति में रहकर अपने सब व्यवहार करें।

सूत्र से कपडा बुनना

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्। प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥ ४२॥ तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात्। पुमानेतद्वयत्युद्‌गृणत्ति पुमानेतद्विजभाराधि नाके॥४३॥ इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे॥ ४४॥

'दो विभिन्न रंगरूपवाली स्त्रियाँ (षड्-मयूखं तंत्रं) छः खूंटियों-वाले करघेपर बार बार घूमकर (वयतः) कपडा बुनती हैं। (अन्या तंतून् प्र तिरते) उन में से एक धागों को अलग अलग करती है, और (अन्या धत्ते) दूसरी धागे को स्थानपर ठीक तरह रखती जाती है। वे दोनों स्त्रियाँ (न अप वृञ्जाते) धागों को तोडती नहीं, और (अन्तं न गमातः) अपने कार्य की समाप्ति भी नहीं करतीं हैं। (तयोः परिनृत्यन्त्योः इव) उन नाचनेवाली जैसी दोनों स्त्रियों में पहिली कौन और पिछली कौन, इस का भी (न विजानामि) पता मुझे नहीं लगता। यहां (पुमान् एतद् वयति) एक पुरुष कपडा बुनता है, (उद्‌गृ–

णात्ति) वह धागों को यथास्थान जमा देता है और (आधिनाके एतत् वितभार) स्वर्ग तक इस वस्त्र को फैलाता है। (इमे मयूखाः) ये खूंटियां हैं, (दिवं उपतस्तभुः) धुलोक तक ये स्थिर हो गयी हैं। इन्होंने सामों को बाने के लिये धडाकियाँ बना दी हैं। '

(दो स्त्रियां कपडा बुन रही हैं।)

वस्त्र की उपमा

यहां सब विश्वको वस्त्र की उपमा दी है। यहां की दो स्त्रियां (१) दिनप्रभा (गोरी स्त्री) और (२) रात्री (काली स्त्री) हैं, गोरी और काली ये दो स्त्रियां पुराणोंमें सुप्रसिद्ध हैं। छः खूंटियोंवाला करघा छः ऋतुओं के साथ संवत्सर है। यहां का पुरुष सूर्य है, इसी को काल कहते हैं। ये वर्ष का कपडा बुनते हैं, इस तरह अखण्ड काल के धागे से यह कपडा बुनने का कार्य चल रहा है। दिनप्रभा रात्री में कौन पहिली और कौन पीछे से आयी; इस का पता लगनेवाला नहीं है। दिन और रात में आगेपीछे कौन है ?

यह एक काल का कपडा है, जीवन का वस्त्र है, विश्वरूप वस्त्र है। यह बनाया या बुना जा रहा है। ताने के और बाने के धागे यथास्थान बुने जा

रहे हैं यह वस्त्र कभी समाप्त नहीं होगा। समाप्त होनेका अर्थ ही प्रलय है।

वस्त्र में जैसा कपास एक ही तत्त्व है, तानेबाने के रूप में भी कपास ही है, एक ही कपास वस्त्र के रूप में बनकर नाना प्रकार के कपडों के रूपों में बनता है, पर वह सब कपास ही कपास है। इसी तरह एक काल पल-विपल-घटी-दिन-सप्ताह-मास आदिरूप धारण करके सब व्यवहार चलाता है, पर सब एक ही काल है। इसी तरह सब विश्व के नाना पदार्थ एक ही ब्रह्म के रूप हैं, ये सब पदार्थ एक ही ब्रह्म के रूप हैं। वस्त्र की उपमासे यहां सदैक्यवाद के स्वरूप को अच्छी तरह समझाया है। पाठक इस का विचार करेंगे, तो उन के ध्यान में यह सदैक्यवाद इस उपमा से आ सकेगा। वेदने इस उपमासे सदैक्यवाद को अति स्पष्ट किया है।

उपासना-नामजप

> नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं सं बभूव, स ह तत्स्वराज्यं इयाय, यस्मान्नान्यत् परम् अस्ति भूतम्॥ ३१॥

पिप्पलादपाठ—

> स ह तत्स्वराज्यं जगाम यस्मान्न परं अस्तु भूतम्।

'उषा के पूर्व और सूर्य उदय होने के भी पहिले नाम से नाम का जप करता है। जो यह अजन्मा सब से प्रथम संगठित हुआ, वही स्वराज्य को प्राप्त कर सका, जिस से दूसरा कोई भी अधिक श्रेष्ठ नहीं है।'

उषःकाल के पूर्व एक ही देवता का नामजप करना, इस देवता के संगठन के स्वरूप को पहचानना, अर्थात् एक ही ब्रह्म सब विश्वरूप में नटकर सुसंघटित हुआ है, यह याथातथ्य से जानना, यह सच्चे और श्रेष्ठ स्वराज्य पानेका तत्त्वज्ञान है। इस का आशय यह है कि, इस समय संपूर्ण विश्व में विशेषतः मानवों के अन्दर सच्चा स्वराज्य नहीं है, जो अद्वैक्यतत्त्वज्ञान से

सिद्ध होनेवाला है, क्योंकि इस तत्वज्ञान का मानवी व्यवहार में अब तक उदय भी नहीं हुआ है।

इस कारण सर्वत्र दुःख, दैन्य, क्लेश, और परस्पर स्पर्धा बढ रही है और विपत्ति ही बढ रही है। जिस समय सदैक्यवाद का तत्वज्ञान मानवी व्यवहार में उतरेगा, उस समय सब संसार, वस्त्र में कपास के समान, एक ही ब्रह्म का स्वरूप है, यह जनता जानेगी और सब लोग विश्वरूपी परमात्मा की स्वकर्म से सेवा करने में लग जायेंगे। तब स्वर्गीय सुख इस भूमण्डल पर सब को प्राप्त होगा। उस समय राजा, प्रजा, मालिक, मजदूर, श्रीमान, दरिद्री, शिक्षित अशिक्षित, की सब समस्याएं दूर होंगी। सब मानव अनन्यभाव से विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करने में दत्तचित्त होंगे। राजा, प्रजा, मालिक मजदूर, गुरुशिष्य, स्त्रीपुरुष ये सब कपडे के तानेबानेके समान हैं, ये परस्पर-सहायक रहने चाहिये। यही जीवन का रहस्य है। सदैक्यवाद से ही यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। सदैक्यवाद से द्वन्द्व का विरोधी भाव हट जाता है और परस्पर सहायता का भाव प्रकट होता है। इस परस्पर-सेवा के भाव से जो परिशुद्ध व्यवहार होगा, वही सच्चा स्वराज्य है, जिस से अधिक श्रेष्ठ कोई शासनव्यवस्था नहीं है। इस में प्रत्येक मानव अपना ही शासक है और विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करनेके लिये वह आत्मार्पण करता है, यही अपने जीवन की सार्थकता करने का साधन है, ऐसा वह मानता है। सदैक्यवाद व्यवहार में आने से यही सिद्धि होती है।

पिप्पलादपाठ—

न प्रजापतिमभ्येति परमेष्ठिनो उतैत तच नो ब्रूत यज्ज्येष्ठं-पदो न्ययत् ॥

अस्ति वै तत्परो भूमेरस्ति वै तत्परो दिवः। लोका वै तास्मिन् संप्रोतास्तास्मिन् ह्योताः प्रजाः इमाः ॥ ४ ॥

'प्रजापति से परे कुछ भी नहीं है। जो श्रेष्ठ पद है, वह यही है। इसी का वर्णन करो। (परमेष्ठिनी) समष्टि और परमेष्ठी ये सब इसी में है। यही भूमि से परे और द्युलोक से भी श्रेष्ठ है। जैसे वस्त्र में ताने और बाने के धागे होते है; उस प्रकार (लोकाः) सब लोक ये सब प्रजाएं (यस्मिन्) उस में (सं प्रोता. ऊता.) तानेबाने के रूप में रही है।' अर्थात् उस से बाहर कुछ भी नहीं है।

अपनेसमेत सब प्रजाजन उस प्रभु में तानेबाने के रूप रहते हैं, यह श्रेष्ट तत्वज्ञान है। यही उपदेश इस सूक्त में किया गया है। कपास प्रभु का रूप समझिये, तानेबाने के धागे सब लोकलोकान्तर, सब सृष्टि और सब प्राणी हैं। मानवप्राणी भी ये ही धागे है। यदि यह वेद का सत्य ज्ञान है, तब तो यह ज्ञान शीघ्र ही मानवों को जानना चाहिये। जिस तरह सब धागे कपासस्वरूप हैं, उसी तरह सब मानव ब्रह्मस्वरूप हैं। अपना यह स्वरूप जानकर सब को उचित है कि, वे तानेबाने के रूप में परस्पर सहायक बनकर सब को सेवाद्वारा सब का आनन्द बढावें।

यहां परस्पर ईर्ष्या द्वेष का कोई कार्य नहीं है। यहां परस्पर की सेवा स्वकर्म से करनी चाहिये। यहां अपने ऊपर अपना ही शासन होना है, यही सच्चा 'स्व-राज्य' है, जिस का वर्णन इस सूक्त के ३१ वें मन्त्र में हुआ है। सर्वैक्यवाद से ही यह स्वराज्य सिद्ध होनेवाला है।

पाठक इस सूक्त का मनन करेंगे, तो उन को पता लग जायगा कि, सब तैंतीस देवताएं इस विश्व में हैं और वे ईश्वर के देह में हैं। इस ईश्वरके देहमें मानवप्राणी भी हैं। ये सब विश्वरूपी कपडे के ताने और बानेके समान हैं। परमेश्वर विश्वरूप है, इसलिये उपासक भी इस विश्वरूप में होने से परमेश्वर का अंश है। यह जानकर अपने प्रयत्न से विश्व रूप ईश्वर की सेवा करने का अनुष्ठान पाठक करें और कृतकृत्य बनें।

संपूर्ण विश्व की सेवा तो किसी से होगी नहीं, सेवा तो विश्व के किसी एक अंश की ही होगी, परन्तु जिस को सेवा करनी हो, वह अखण्ड विश्व का भाग है, इस अनन्य भाव से सेवा करने से ही वह अखण्ड विश्वसेवा होती है। विश्वसेवा की यही रीति है। आशा है कि, सब पाठक इस को समझेंगे और आचरण में लाने का यत्न करेंगे।

---

(१२)

ज्येष्ठ ब्रह्मका सम्यक् दर्शन

शौनकीय अथर्ववेद में (काण्ड १०, सू० ८ में) तथा पिप्पलादीय अथर्ववेद में (काण्ड १६, सूक्त १०१ से १०३ तीन सूक्तों में) ज्येष्ठ ब्रह्म का उत्तम वर्णन है। जिन को ज्येष्ठ ब्रह्मका दर्शन करना हो, उनको इस मन्त्र-भाग का मनन करना उचित है। इस मन्त्रभाग में पाठकों को कई प्रकार के मन्त्रों को देखना होगा। कई मन्त्र तो सरल होनेपर भी भावार्थ की दृष्टि से बड़े ही गम्भीर प्रतीत होंगे, परन्तु कई मंत्रों के शब्द और वाक्य कठिन और क्लिष्ट प्रतीत होने पर भी उन का आशय बिलकुलही सरल होगा। यह तो वैदिक शैली ही समझनी चाहिये। मंत्रोंसे अर्थ और आशय प्राप्त कर के हम सब को ब्रह्म का दर्शन करने का यत्न करना चाहिये। देखिए; इस सूक्त का यह प्रारम्भ है-

(ऋषिः कुत्सः। देवता आत्मा)
(शौ० अथर्व १०।८, पिप्पलाद १६।१०१-१०३)

ज्येष्ठ ब्रह्म

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वः यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

' (यः भूतं भव्यं च सर्वं) जो भूत और भविष्य तथा वर्तमान काल में जो है, उस सब में (अधितिष्ठति) अधिष्ठित होता है, (यस्य च केवलं स्वः) जिस का अपना निज तेज है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये हमारा प्रणाम है । ' इसी ज्येष्ठ ब्रह्म का हमें इस लेख में दर्शन करना है ।

' तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ' यह चरण स्कम्भसूक्त में मन्त्र ३२-३४,३६ इन चारों मंत्रों में है । इस चरण से इस सूक्त का पूर्व के स्कम्भ-सूक्त के साथ घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

भूत काल में जो हो चुका था, वर्तमान काल में जो हो रहा है और भविष्य काल में जो होगा, उन सब में स्वयंप्रकाश ब्रह्म अधिष्ठित हुआ है । अधिष्ठित होने का तात्पर्य अन्दर सर्वत्र पूर्णतया स्थित होना है, सर्वव्यापक होना है । पूर्व लेख में बताया है कि, यहां की व्यापकता घडे में मिट्टी के समान अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारन की सर्वव्यापकता है । एक बार इस विषय का स्पष्टीकरण हो चुका है, अतः इस विषय में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

इस विषय में द्वितीय मन्त्र देखिये-

प्राणत् निमिषत् आमन्वत् सर्वं) जो प्राणधारी, निमेष उन्मेष करनेवाला तथा आत्मावाला है, वह यह सब (स्कम्भे) इस आधारस्तम्भ में ठहरा है।'

जो प्राण धारण करता है, आंखों की पलकें हिलाता है, जिस में आत्मा है, वह सब इस श्रेष्ठ ब्रह्म में हैं। जिस तरह घडा मिट्टी में रहता है, जिस तरह जेवर सोने में रहते हैं, वैसा ही यह सब ब्रह्म में रहा है। यहां प्राणधारी सजीव जगत् उस ब्रह्म में है, ऐसा कहा है। यह कहने का कारण यही है कि, 'जीव' ब्रह्म से सर्वथा पृथक् सत्तावाला है, ऐसा कइयों का ख्याल है, उस के निराकरण करने के लिये सब प्रकार का सजीव जगत् भी उसी में समाविष्ट हुआ है, ऐसा यहां कहा है। शेष द्यावापृथिवी में रहा सब विश्व उसी में है, यह ऊपर कहा ही है। जैसी घडे में मिट्टी और मिट्टी में घडा रहता है, वैसा ही चेतन और जड उस ब्रह्म में है और वह ब्रह्म इस जड चेतन में है, यह यहां के कथन का तात्पर्य है।

तत्र इदं सर्वं आर्पितं एजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

इसी सूक्त का यह छठां मन्त्र-भाग है। (तत्र) उस ब्रह्म में (इदं सर्वं) यह सब (एजत्) हिलने डुलनेवाला, (प्राणत्) प्राण धारण करनेवाला (प्रति-स्थितं) रहा है। प्रत्येक वस्तु उसी की बनी है और प्राण धारण करनेवाला चेतन वस्तुमात्र भी उसी का बना है। यह सब जीव जगत् (तत्र आर्पितं) उसी ब्रह्म में अर्पित है, जैसा घडा मिट्टी में अर्पित हुआ होता है।

इसी वर्णन का अधिक स्पष्टीकरण करनेवाला इसी सूक्त का ११ वाँ मंत्र है, वह अब देखिये-

सब मिलकर एक ही तत्त्व है

यद् एजति, पतति यत् च तिष्ठति, प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं, तत् संभूय भवत्येकं एव ॥ ११ ॥

'(यत् एजति) जो हिलता डुलता है, (पतति) जो उडता है, (यत् च तिष्ठति) जो ठहरता है, जो स्थिर अथवा स्थावर है, जो (प्राणत्) प्राण धारण करता है, (अप्राणत्) जो प्राण का धारण नहीं करता, (यत् निमिषत् च) जो आंखों की पलकें हिलाता है, (यत् भुवत्) जो होता है, (तत् विश्वरूप) वह सम्पूर्ण विश्व का रूप धारण करनेवाला है, वही (पृथिवीं दाधार) भूमि का धारण करता है, (तत् संभूय एक भवति) वह सब मिलकर एक ही ब्रह्म होता है।'

जो यहां स्थिर चर, स्थावर जंगम, जड चेतन है, वह सब मिलकर एक ही ब्रह्म होता है। अर्थात् ब्रह्म ही सब रूपोंको धारण करके विश्वके रूपमें रहा है। पूर्व द्वितीय और षष्ठ मन्त्रका यह पूर्णतया पर्याप्त स्पष्टीकरण है। पाठक यहां यह बात समझें कि जैसी मिट्टी घडेमें और घडा मिट्टीमें है, जैसा सोना जेवरों में और जेवर सोने में है, वैसा ही ब्रह्म विश्व में और विश्व ब्रह्म में है। यहां वस्तु की एकता है, सत् की एकता है। रूपोंकी विभिन्नता होने पर भी जिससे ये रूप बने, उस वस्तु की एकता ही है।

पुरातन तत्त्व

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वं आर्पितं एजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

'('जरत्' नाम महत् पद) 'पुरातन' इस नामवाला एक बडा विस्तृत तत्त्व (गुहा) सर्वत्र गूढ या व्याप्त है, वह (आविः सन्निहितं) प्रकट होकर भी सम्यक् रीति से रहा है। जो प्राण धारण करता है, जो हलचल करता है, तथा जो स्थिर है, (इदं सर्वं) यह सब (तत्र आर्पित) उस एक तत्त्व में समर्पित हुआ है।''

एक पुरातन तत्त्व है, वह सब से बडा है, तथा सर्वत्र गूढ है, अर्थात् सब में व्यापक है। वह गुप्त अर्थात् अदृश्य भी है और प्रकट भी है।

यह सब के (संनिहितं) अत्यन्त पास है। स्थावर और जंगम, जीवित और जड़, प्राणयुक्त और प्राणरहित जो भी कुछ इस विश्व में है, वह सब उस-एक सत्व में सुस्थिर होकर रहा है। यहां दोनों प्रकार का सब विश्व एक-ही तत्त्व में समर्पित है, यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है अर्थात् सत्व-दृष्टि से सब पदार्थ एक ही तत्त्व के नाना रूप हैं और यही एक सत् तत्त्व (जरत्) पुरातन तत्त्व है। यहां इस तरह समझना चाहिये—

जरत् (पुरातन तत्त्व)

आविः (प्रकट) (स्थूल)	(अप्रकट, अव्यक्त) प्राणत्, एजत्

इस तरह सब विश्व उस में सुस्थिर हुआ है।

सनातन देवता

> एषा सनत्नी सनमेव जाता, एषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥ ३० ॥

' (एषा सनत्नी) यह सनातन देवता है, (सनं एव जाता) यह सनातन काल से विद्यमान है। (एषा पुराणी) यही प्राचीन देवता (सर्वं परि बभूव) सब कुछ सब ओर से बनी है। यह (मही देवी) बड़ी देवता (एकेन उपसः विभाती) एक से उषा को प्रकाश देती है और (सा मिषता एकेन विचष्टे) वही पलके मिटानेवाले दूसरे आंख से सब को देखती है।'

एकही सनातन, पुरातन अथवा सबसे प्राचीन देवता है। यह देवता ही स्वयं (सर्वं परि बभूव) सब कुछ बन जाती है। सब ओर से अथवा सब

प्रकारसे सूर्य सब कुछ बनती है। वही एक देवता अपनी शक्ति से इस विश्व में प्रकाश करती है और अपनी दूसरी शक्ति से आंखसे देखती भी है। अर्थात् प्रकाश देनेवाला सूर्य भी वही बनी है और पलकें मूंदनेवाली आंख अर्थात् द्रष्टा नेत्र भी वही बनी है। और एक ही सत् से ये दोनों रूप हुए हैं। यथा, सूर्य अर्थात् प्रकाश भी उसी का रूप है और दृश्य देखनेवाली आंख भी उसीका दूसरा रूप है। दृश्य विश्व (सर्वं बभूव), देखनेवाली आंख (एकेन मिषता विचष्टे) और दर्शनका साधन प्रकाश (उपर्गो विभातीः) यह सब एक ही सनातन देवता से होता है। वही सनातन देवता (१) दृश्य विश्व, (२) दर्शन साधन प्रकाश और (३) द्रष्टाकी आंख यह सब त्रिपुटी बनती है।

सनातनं एनं आहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

'(एनं सनातनं आहुः) इस देवता को ही सनातन कहते हैं। (उत अद्य पुनः नवः स्यात्) परन्तु यह आज ही फिर नया बनता है। अर्थात् यह नया बनने पर भी सनातन ही है। जैसे (अन्यो अन्यस्य रूपयोः) भिन्न भिन्न रूपवाले (अहोरात्रे) दिन और रात्री के विभिन्न रूप [एक सूर्य से ही] (प्रजायेते) होते हैं।'

जैसे एक ही सूर्य से दिन का प्रकाश और रात्रीका अन्धकार ये परस्पर विरुद्ध गुणधर्मवाले दो विभिन्न रूप बनते हैं, उसी तरह इसी एक सनातन देवसे एक पुनः पुनः नया बननेवाला रूप और दूसरा पुराना बनकर नाशको प्राप्त होनेवाला रूप, ऐसे दो रूप बनते हैं। एक ही सनातन देव से यह सब हो रहा है। इस विषय में अगला मंत्र देखिये—

प्रजापति का गर्भवास

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः अदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यद् अस्यार्धं कतमः स केतुः ॥१३॥

'(अदृश्यमानः प्रजापतिः) न दीखनेवाला प्रजापालक ईश्वर (गर्भे अन्तः चरति) गर्भ के अन्दर संचार करता है और (बहुधा विजायते) बहुत प्रकार विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है। इस तरह उसने (अर्धेन) अपने आधे भाग से (विश्वं भुवनं जजान) सब भुवनों को उत्पन्न किया है और (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग है, उस आधे भाग को जानने का (सः केतुः कतमः ?) वह चिह्न कौनसा भला है?' अर्थात् किस पद्धति से उसका संपूर्ण ज्ञान हो सकता है ?

इस मन्त्र में कहा है कि प्रजापति परमेश्वर ही गर्भ में आकर, जन्म लेकर, नाना प्रकारकी योनियोंमें विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है। वह स्वयं अदृश्य है, तथापि विशेष रीतिसे नाना योनियों में उत्पन्न होनेपर वही दृश्यमान होता है और वह दीखने लगता है। इसी ढंगसे उसने अपने एक अंश से संपूर्ण विश्व का सृजन किया है। विश्व के सृजन करने की उसकी रीति मन्त्र के पूर्वार्ध में वर्णन की है। स्वयं ही गर्भमें आकर नाना योनियों में जाकर नाना रूपों का धारण करना ही वह रीति है।

प्रजापति के गर्भ धारण करने के विषय में वेद में अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (वा. य. ३१।१९)

'प्रजापति परमेश्वर गर्भ के अन्दर संचार करता है। वह न जन्मनेवाला होनेपर भी अनेक प्रकार से विविधता के साथ उत्पन्न होता है। उस के मूल स्थान को ज्ञानी लोग देखते हैं। उसी में निश्चय से सब भुवन रहते हैं।'

यहां भी प्रजापति परमेश्वर गर्भ में बालक-रूप से जन्म लेता है, यह बात कही है। इसी तरह सब संसार का सृजन इस से होता है। सब भुवन

इस परमेश्वर से वैसे ही है कि जिस तरह मूर्तियां में घड़े रहते हैं। यही मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में आया है–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः। अजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं। मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः। (तै आ ३।१३)

यस्मस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः।
(तै आ १०।१।१, महानारा उ ११।१)

एष हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् मुखास्तिष्ठति विश्वतो मुखः॥ (तै आ १०।१।१)

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो-मुखः॥ (वा य ३२।४)

ये सब मन्त्र करीब करीब एक ही भाव बतानेवाले हैं। इनका आशय यह है–'प्रजापति परमेश्वर गर्भ के अन्दर सचार करता है। यद्यपि वह (संपूर्ण रूप से) अजन्मा है, तथापि वह (अशरूप से) नाना प्रकार (की योनियों में) जन्म लेता है। वह बड़े से बड़ा होनेपर (अशरूप में) अनेक ज्योतियों-देवताओं को अपने साथ लेकर-शुक्र के द्वारा, वीर्य के द्वारा, गर्भ में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यही ईश्वर सब दिशाओं में व्याप्त है, वही भूतकाल में जन्मा था, वही इस समय गर्भ में प्रविष्ट हुआ है। वही भूत काल में जन्मा था, वही इस वर्तमान काल में जन्म ले रहा है और वही भविष्य काल में जन्म लेगा। इसी के सर्वत्र मुख हैं और इस के इस जन्म को ज्ञानी लोग ही जानते हैं।'

ये सब मन्त्र यही भाव बता रहे हैं कि परमेश्वर ही अंशरूप से नाना योनियों में उत्पन्न होकर नाना प्रकार के प्राणियों के रूपों में प्रकट हो रहा है। सब विश्व ही परमेश्वर का रूप है; यही यहां सिद्ध हुआ।

उत पुनः नवः स्यात् (मं. २३) = यह पुन पुनः नयासा बनता है।
प्रजापतिः गर्भे अन्त. चरति (मं. १३) = प्रजापति परमेश्वर गर्भ में संचार करता है।
प्रजापतिः गर्भे शुक्रेण चरति (तै. आ. १०।१।१) = प्रजापति परमेश्वर गर्भ में शुक्र के साथ संचार करता है।

ये वचन बता रहे हैं कि, किस तरह प्रजापति परमेश्वर अपने एक अंश से जीव बनकर गर्भ में उतरता है। आजकल जो बताया जाता है कि पूर्व कर्म के पाप के भोग भोगने के लिये जीव शरीर धारण करता है, अर्थात् जन्म पापमूलक है, यह वेद का सिद्धान्त नहीं है। यह जैन बौद्धों की कल्पना वैदिक धर्मियों के अन्दर घुस गयी है। जन्म अथवा स्त्री-सहवास ये पापमूलक नहीं हैं। देवतांशोंको देहधारण करके यज्ञ के प्रवर्तन करने का सुअवसर देने का यह पुण्य मार्ग है। वेद का यह सिद्धान्त है। इसलिये देह धारण करने की ओर पाठक पापदृष्टिसे न देखें। अग्निहोत्र धारण करके यज्ञ करना और यज्ञ से सुविचार पूर्ण शुभसंतान उत्पन्न करना वैदिक धर्म का मुख्य उद्देश्य है। वैदिक दृष्टि से परमेश्वर के अंश के साथ संपूर्ण देवताओंके अंश पुत्र-शरीर में अवतरित होते हैं, इसीलिये कहा है-

ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिः गर्भे चरति।
(तै. आ. १।१) = दैवी ज्योतियोंका धारण करके स्वयं प्रजापति परमेश्वर गर्भ में आता है।

अर्थात् परमेश्वर का अंश जीव है और ३३ देवताओं के ३३ अंश इंद्रिय और अवयव बनकर जीवके साथ शरीर में रहते हैं। इस तरह जन्म पाप-

मूलक नहीं है। जैन, बौद्ध, ईसाई, यहुदी, मुसलमान, कई आधुनिक हिंदूधर्मके पंथ ये सब जन्म को पापमूलक मानते हैं। यह सब मत अवैदिक हैं, अतः दूर करने योग्य हैं। शरीर को देवों का मन्दिर, अथवा सप्त ऋषियों का आश्रम वेद ने माना है। देवोंका मंदिर अथवा सप्त ऋषियोंका आश्रम पापमूलक नहीं हो सकता, वह तो पुण्यप्रवर्तक ही हो सकता है। वैदिक सिद्धांत की यही विशिष्टता है और 'सर्वेश्वरवाद' किंवा 'सदैक्यसिद्धान्त' का सारसर्वस्व यही है। इसलिये पाठक इस दिव्य जन्म के तत्त्व को वैदिक दृष्टि से देखें। अपने देह को पीप-विष्ठा-मूत्र का गोला न समझें, वैसा तो अन्य मतमतांतरवाले ही मानेंगे। वैदिक धर्मी तो देह को देवों का मन्दिर अनुभव करेंगे और ऋषियोंका आश्रम बनायेंगे।

ऋषियोंका आश्रम और देवोंका मंदिर

जैन बौद्ध धर्मवाले शरीर को पीप-विष्ठा-मूत्र का गोला मानकर इस शरीर को अति हीन और घृणित मानते हैं। वेद इस शरीर को ऋषियों का पवित्र आश्रम बताता है, इस विषय में इस सूक्त का यह मन्त्र मननपूर्वक देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलः चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ ९॥

इसी तरह का एक मन्त्र शतपथ-ब्राह्मण १४।५।२ में तथा बृ. उ. २।२।३ में आया है, उस का पाठ ऐसा है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
(बृ. आ. उ. २।२।३)

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्र-
सदौ च देवौ ॥ (वा. य. ३४।५५)

'तिरछा मुखवाला एक लोटा उलटा रखा है, उस में संपूर्ण विश्वके रूप का यश रखा है। वहां सात ऋषि बैठते हैं, जो इस बडे सत्व के रक्षक हैं। वहां वाणी आठवी है, जो ब्रह्म का वर्णन करती है। प्रति शरीर में सात ऋषि हैं जो सात इस घर की रक्षा करते हैं वहां सात नदियां हैं, जो सोनेके समय निद्रा लेनेवाले के आत्मलोक को पहुंचती हैं। वहां उस यज्ञ में दो देव जागते हैं।'

इन मन्त्रों में सप्त ऋषियों के आश्रम का वर्णन है। नीचे मुख कर के एक लोटा उलटा रखा है। यह मनुष्य का सिर ही यह 'उलटा लोटा' है। इस का मुख नीचे की ओर टेढा है, उस लोटे का तलभाग ऊपर की ओर है। इस लोटे के तलभाग में अर्थात् मस्तिष्क में 'विश्वरूप यश' भरा है। यही मनुष्य का सर्वस्व है। मस्तिष्क ही, यह मनुष्यका मगज ही, मानवता का सारसर्वस्व है। सब विश्व के रूप का आकलन, संपूर्ण विश्व का ज्ञान इसी में समाया है। इस में सात ऋषि बैठकर तपस्या कर रहे हैं, इन के साथ वाणी भी आठवी ऋषिका है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि यहां हैं। इंद्रिय-शक्तियां ही ये ऋषि हैं, क्योंकि ये ही ज्ञान लेते हैं। वाणी ज्ञान फैलाती है, इसलिये यह ऋषिका है।

ये सात ऋषि इस यज्ञभूमिरूपी शरीर की रक्षा करते हैं। येही सात नदियां हैं। सप्त नदियाँ यहीं हैं। ये नदियाँ जागते समय बाहर की ओर प्रवाहित होती हैं और सोनेके समय पुनः उलटी अन्दरकी ओर बहने लगती हैं।

जागना और सोना इसी से होता है। इंद्रियों की बाहर की ओर प्रवृत्ति होना ही जाग्रति है और अन्तर्मुखी वृत्ति ही निद्रा है। इस निद्रा में भी दो देव जागते हैं। ये दो देव श्वास और उच्छ्वास हैं। ये ही इस यज्ञभूमि-रूपी शरीर की सुरक्षा के लिये जागते हैं।

इस शरीर को यज्ञभूमि और पवित्र क्षेत्र, इंद्रियों को ऋषिगण, श्वासोच्छ्वास को देव यहां कहा है। वेद इस तरह शरीर को ऋषियों का आश्रम और देवताओं का मंदिर कहता है। यह कल्पना कितनी ऊंची है और इस शरीर को मैल का गोला बनाना कितना हीन है! इस का विचार पाठक करें और वैदिक तत्वज्ञान का महत्व जानें।

अब ताने और बाने की उपमा का विचार करते हैं-

ताना और बाना

यो विद्यात् सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्, स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥
वेदाऽहं सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यत् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

'जो जानता है कि, यहां सूत्र का ताना फैलाया है और इस सूत्रके ताने में सब प्रजाजन बानेके समान हैं, तथा इस ताने के सूत्र का मूल धागा जो जानता है, वही बडे ब्रह्म को जान सकता है। मैं इस सूत्र को जानता हूं, उस के ताने को जानता हूं, उस ताने में सब प्रजाएं बाने के रूप में हैं, यह भी मुझे मालूम है, इस ताने का सूत्र भी मैं जानता हूं, अतः बडे ब्रह्म को भी मैं जानता हूं।'

यहां बताया है कि, मूल में एक बडा ब्रह्म है, वह कपास के समान समझिये। इस कपास से सूत्र बनाया, इस सूत्र से ताना फैलाया और उस में बाना भी भर दिया है। इस से जो वस्त्र बना, वही यह विश्व है। इस विश्व में सब देवता, सब भूत, सब प्राणी तथा अन्यान्य पदार्थ ये ताने और बाने के समान हैं। जिस प्रकार कपास वस्त्र में होता है, वैसा ही ब्रह्म इस विश्व में है। जो यह जानता है, वह विश्व को ब्रह्म का ही रूप जानता है। वही सत्य ज्ञान है। इस उपमा का वर्णन पूर्व लेख में आया है।

चक्र में आरे

यत्र देवाश्च मनुष्याश्च, आरा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि, यत्र तन् मायया हितम् ॥ ३४ ॥

'(यत्र) जिस में, (नाभौ आराः इव) नाभी में आरे रहने के समान, देव और मनुष्य (श्रिताः) आश्रित हुए हैं, वह (अपां पुष्पं त्वा पृच्छामि) जलों का फूल मैं तुझे पूछता हूं कि (यत्र तत् मायया हितं) कहां वह कुशलता के साथ रखा है ?'

सूर्य चन्द्र आदि सब देव जिस नाभी में, जिस केन्द्र में, सुस्थिर हुए हैं, वह केन्द्र जानना चाहिये। वही केन्द्र ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह कपास के आश्रय से सूत्र, ताना, बाना और वस्त्र रहे हैं, उसी तरह सब देव और सब मनुष्य एवं सब प्राणी उसी ब्रह्मरूपी फूल के पत्ते हैं, अथवा विश्वचक्र की ब्रह्मरूपी नाभी में सब देव आरों के समान हैं। यहां इस मन्त्र में एक पुष्प की और दूसरी चक्र की उपमा कही है। पुष्प के पत्ते और चक्र-नाभी के आरे सब देव हैं। पुष्प का पराग-केन्द्र ब्रह्म है और पत्ते सब देव हैं। चक्र का नाभी केन्द्र ब्रह्म है और आरे सब देवताएं हैं। ये दोनों उपमाएं विचार करने योग्य हैं। नाभी और आरे मिलकर चक्र है और पराग-केन्द्र और पत्ते मिलकर पुष्प है। इसी तरह ब्रह्म और देव मिलकर उपास्य ब्रह्म है।

उसके रूपसे विश्व का रूप

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३६ ॥

'(अविः) ' संरक्षण करनेवाली ' (वै नाम देवता) इस नाम की एक देवता (ऋतेन परीवृता आस्ते) सत्य से चारों ओर से घेरी हुई है। (तस्या रूपेण) उस देवता के रूप से ही (इमे वृक्षाः) ये सब वृक्ष

(हरिता हरितस्रज) हरेभरे और हरी मालाओं का धारण करनेवाले हुए है।'

एक देवता है। वह सब की सुरक्षा करती रहती है। उस देवता के व्रत नाम के नियम अटल है, जो सदासर्वदा अप्रतिहत गति से अपना कार्य करते रहते है। सभी विश्व उस देवता की सुरक्षा से सुरक्षित हुआ है और उस देवता के सनातन नियमों के अनुसार ही चल रहा है। कठोर भूमि पर भी जो ये सब वृक्ष हरेभरे और पत्तों फूलों से लदे दीख रहे हैं, यह सब उस देवता का ही रूप है। यह एक रूपकात्मक कथन है। इस से स्पष्ट होता है कि जैसे वृक्षों के रूप उस देवता के रूप है, उसी तरह पशुपक्षी, कृमिकीट मानव तथा अन्यान्य सब विधान्तर्गत रूप भी उसी देवता के रूप से ही रूपवान हुए है।

अनन्तं विततं पुरुत्राऽनन्तं अन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतं उत भव्यं अस्य ॥ १२ ॥

'(अनन्त पुरुत्रा विततं) अनन्त ब्रह्म चारों ओर फैला है, (अनन्तं अन्तवत् च स अन्ते) अनन्त ब्रह्म और अन्तवाले पदार्थ ये परस्पर मिले जुले है। (अस्य भूतं उत भव्यं विद्वान्) इस विश्व के भूत और भविष्य को यथावत् जाननेवाला ज्ञानी (नाकपालः) स्वर्ग का रक्षणकर्ता ईश्वर (ते विचिन्वन्) उन अनन्त और सान्त को विशेष रीति से जानकर (चरति) सर्वत्र गति करता है।

इस मन्त्र में कहा है कि सर्वत्र एक ही अनन्त ब्रह्म फैला है, यहां दूसरा कोई पदार्थ उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसी अनन्त में सान्त पदार्थ दीखते है, वे सब उसी के रूप से रूपवान् हुए हैं। अनन्त और सान्त का यह तत्त्व जानना ज्ञान से ही होता है। चूंकि एक ही अनन्त तत्त्व सर्वत्र फैला है, अतः जो सान्त पदार्थों की सत्ता है, वह भी उसी अनन्त की सत्ता में

अन्तर्भूत है। अनन्त और सात ये सापेक्ष ज्ञान देनेवाले पद हैं, एक ही ब्रह्म में ये दोनों सापेक्ष भाव लीन होते हैं। अथवा ज्येष्ठ ब्रह्म में अनन्त और सात लीन होकर रहते हैं।

कमल में यक्ष

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत्, तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

'तीन गुणों से (सत्त्व रज तम इन गुणों से) घेरा हुआ एक कमल है, उसको नौ द्वार (पत्ते) हैं। इस कमल में आत्मवान् यक्ष रहता है, इस को ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।' यह कमल मनुष्य का शरीर है। इस शरीर में नौ द्वार हैं। एक मुख है, यह पूर्व द्वार है। दूसरा गुदद्वार है यह पश्चिम द्वार है। तीसरा मूत्रद्वार है, यह प्रजापति का द्वार है। ये तीन द्वार हैं। दो नाक, दो नेत्र और दो कान मिलकर छः द्वार हैं। ये छः और पहिले कहे तीन मिलकर नौ द्वार हुए। इन नौ द्वारों से युक्त यह कमल जैसा तेजस्वी शरीर है, इस में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियां हैं। समय समय पर ये वृत्तियां प्रबल होती हैं। इस कमल जैसे सुन्दर शरीर में एक पूजनीय देव रहता है, वही आत्मा कहलाता है। यही ज्ञातव्य है। आत्मज्ञानी अथवा ब्रह्मज्ञानी इस यक्ष को जानते हैं। 'यक्ष' का अर्थ 'पूजनीय देव' है। इसी अर्थ के दो मन्त्र अथर्व १०।२।३१-३२ में हैं, उन्हें भी यहां देखिये-

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत्, तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
(अ० १०।२।३१-३२)

'आठचक्रोंवाली और नौ द्वारोंवाली यह देवताओं की अयोध्या नगरी है। इस नगरीमें सुवर्णमय स्वर्ग नामक कोश तेजसे प्रकाशित है। यह कोश तीन आरों से (सत्व, रजस्, तमस् नामक तीन गुणों से) युक्त है, तथा यह तीन स्थानों पर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों पर) आश्रित है। इसमें आत्मवान् पूजनीय यक्ष रहता है। इसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।' यक्ष पद का अर्थ आत्मा अथवा परमेश्वर ऐसा है। इस विषय में निम्न लिखित मन्त्र देखिये—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः। (अ० १०।७।३८)

'भुवन के मध्य में एक बडा यक्ष (पूजनीय देव) है, वह तेजस्वियोंमें विशेष है, जो प्राकृतिक जल के पृष्ठ पर विराजता है। इस में जो कोई देव हैं वे रहते हैं, जैसी वृक्षकी शाखायें वृक्ष के स्तम्भ के आधार से रहती हैं।'

इस तरह 'यक्ष' पद से आत्मा परमात्मा का बोध होता है। पूर्वोक्त स्थान में वर्णित नौ द्वारोंवाली सुंदर नगरी में रहनेवाला यक्ष शरीरधारी आत्मा है, क्योंकि इंद्रियों से काम लेनेवाला यह है। यह विश्वात्मा का अंश है। 'अनन्त' और 'सान्त' का भाव बताने के लिये तथा जीव और शिव का विचार जानने के लिये ये मन्त्र बडे उपयोगी हैं। इससे जीवात्मा की योग्यता का पता लग सकता है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरं अजरं युवानम्॥४४

'यह आत्मा (अ-कामः) निष्काम, (धी-रः, धीरं,) बुद्धि को प्रकाशित करनेवाला, (अ-मृतः) अमर, (स्वयं-भूः) स्वयं ही नाना रूपों में प्रकट होनेवाला, स्वयं होनेवाला, (रसेन तृप्तः) रससे तृप्त, (न कुतश्चन

ऊनः) कहीं भी न्यून नहीं अर्थात् सर्वत्र पूर्णतया भरपूर, (अजरं) जरा-रहित, कभी क्षीण न होनेवाला, (युवानं) युवा, सदा तरुण है। (तं आत्मानं एव विद्वान्) उस आत्मा को जाननेवाला (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से डरता नहीं।' मृत्यु का भय उससे दूर हो जाता है, क्योंकि मैं 'अजर अमर हूं' यह सत्य ज्ञान उसको अपने अनुभव से मालूम होता है।

यहां नवद्वार शरीर में रहनेवाले जीवात्माके वर्णन के साथ साथ ही परमात्मा का वर्णन किया गया है। इसका कारण यह है कि परमात्मा का अंश ही जीवात्मा है, वह सर्वथा पृथक् अथवा सर्वथा विभिन्न नहीं है। अतः तत्त्वतः ये दोनों एक ही है। इसलिये साथ साथ और एक ही रीतिसे दोनों का वर्णन हुआ करता है। पाठक वेदके मंत्रों में सर्वत्र यही बात देख सकते हैं।

शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४

'सौ, हजार, लक्ष, करोडों अथवा असंख्येय इसके (स्वं) अपने निज बल (अस्मिन् निविष्टं) इसमें अर्थात् इस विश्व में प्रविष्ट हुए हैं। (अभि-पश्यतः) सब ओर देखनेवाले सब प्राणी (अस्य तत्) इस का वह बल (घ्नन्ति) प्राप्त करते, या भोगते हैं। (तस्मात् एष देवः) इसलिये यह देव (एतत् रोचते) इस को प्रकाशित करता है।'

इस परमात्मा में अनन्त प्रकार के बल हैं। ये बल इस विश्व के नाना पदार्थों में फैले हैं, जैसा सूर्य में प्रकाश, अग्नि में दाहकता, वायु में प्राण-शक्ति, जल में शान्ति, अन्न में तृप्ति, दूध में पुष्टि, औषधियों में रोग दूर करने की शक्ति, आदि अनन्त शक्तियां इस विश्वके समस्त पदार्थोंमें संग्रहित हुई हैं। ये सब बल परमेश्वर के (स्वं) निज बल हैं और परमेश्वर से ही यह विश्व बनाहै कारण इसमें ये बल (निविष्ट) भरपूर भर गये हैं। ये

बल इस विश्व में हैं यह बात परमेश्वर देवता और जानता है। उस के देखते देखते सब प्राणी इन बलों को प्राप्त करते, इन बलोंपर हमला करते, उनको भोगते और (घ्नन्ति) उनको खाकर समाप्त करते हैं, जिस तरह मद्य खा कर समाप्त करते हैं। परन्तु इस से उस का असंख्येय बल कम नहीं होता, प्रत्युत इस से उस प्रभु का (रोचते) तेज बढता है और वह प्रभु इस विश्व को अधिकाधिक ही तेजस्वी बनाता है अर्थात् उस का बल अपरिमित और अक्षय है।

बालादेकं अणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रियाँ ॥ २५ ॥

'(एकं बालात् अणीयस्कं) एक विभाग बाल से भी सूक्ष्म है और (एकं न एव दृश्यते) दूसरा विभाग दीखता नहीं है। (ततः परिष्वजीयसी देवता) इन दोनोंको आलिंगन देनेवाली वह देवता (सा मम प्रिया) मुझे प्रिय है।'

एक देवता है, वह दोनों को आलिंगन देकर रहती है। यहां आलिंगन देने का तात्पर्य दोनों को अपने अन्दर समा लेना है। जिस तरह 'ढेला' और 'मिठास' इन दोनों को 'मिश्री' आलिंगन देकर रहती है, अपने अन्दर समा लेती है, इस तरह यहां समझना उचित है। इस देवताके अन्दर जो जो विभाग समाये हैं, उनमें से एक बाल से भी सूक्ष्म है, परन्तु 'दृश्य' है और दूसरा 'अदृश्य' है। दृश्य और अदृश्य विश्व को अपने अन्दर समा लेनेवाला जो है, वही आनन्दरूप प्रिय प्रभु है। यह समस्या इस तरह समझना उचित है—

ढेला + मिठास = मिश्री, खडी शक्कर
क्षर + अक्षर = पुरुषोत्तम (गीता अ. १५।१५-१८)
दृश्य + अदृश्य = परिष्वजीयसी प्रिय देवता (अथर्व. १०।८।२५)
जड + चेतन = परमेश्वर

इस तालिका से मन्त्र का वर्णन स्पष्ट हो जायगा। पाठक इस ढंग से इस समस्याको समझ लेनेका यत्न करें।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता, शये स, यश्चकार, जजार सः ॥ २६ ॥

(इयं) यह प्रिय देवता (कल्याणी) कल्याण करनेवाली, (अ-जरा) जरारहित अर्थात् कभी क्षीण न होनेवाली (मर्त्यस्य गृहे अ-मृता) मर्त्य के घर में अमर है। (यस्मै कृता) जिस के लिये यह देवता है, (सः शये) वह सो रहा है, (यः चकार) जो बनाता है, (सः जजार) वह जीर्ण अथवा क्षीण होता जाता है।

पूर्वोक्त २५ वें मंत्र में (१) प्रिय परिष्वजीयसी देवता, (२) शचीयस्क देव,रूप, (३) अदेव सत्व, ऐसे तीन सत्वभाव कहे हैं। ये परस्पर सर्वथा पृथक् हैं, या पृथक् नहीं हैं, यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है। पूर्व मंत्रमें ही कहा है कि जो एक प्रिय देवता है, वही अन्य दोनों भावों को अपने अन्दर समा लेती है देखिये—

१ तत् विश्वरूपं संभूय एकमेव भवति (११) = यह सब विश्वरूप मिलकर एक ही तत्व होता है, अर्थात् विविधता इस में नहीं रहती।

२ आविः, संनिहितं गुहा, तत्र सर्वं प्रतिष्ठितं (६) = प्रकट और गुप्त ऐसा जो है, वह सब उसमें रहता है।

३ सनत्नी सर्वं परि बभूव (३०) = सनातन देवता ही सब कुछ बन गयी है।

४ मही देवी एकेन विभाति, एकेन विचष्टे (३०) = बड़ी देवी एक शक्ति से प्रकाश देती है और दूसरी शक्ति से देखती है। [अर्थात् दृश्य, दर्शन, द्रष्टा एक ही है।

५ अहोरात्रे प्रजायेते (१३) = जैसे एक ही सूर्य से दिन और रात्रि यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है, [वैसे ही अन्य द्वन्द्व एकसे ही बनते हैं।]

६ प्रजापतिः गर्भे अन्तश्चरति, बहुधा विजायते, विश्वं जजान (१३) = प्रजापति गर्भ में प्रविष्ट होकर नाना रूपों में उत्पन्न होता है, इस तरह उन्होंने सब विश्व उत्पन्न किया है।

७ स एव जातः, स जनिष्यमाण. (वा य ३२ ४) = बना विश्व भी वही है और बननेवाला विश्व भी वही है।

८ अनन्तं, अन्तवद् च, समन्ते (११) = अनन्त और सांत इकट्ठे मिले हैं।

इन सब मंत्रों का भाव ठीक तरह ध्यान में लाने से सब विश्व के 'सपूर्ण पदार्थ मिलकर एक ही सत्-तत्त्व होता है,' यह सदैक्यवाद का अथवा सर्वेश्वरवाद का सिद्धांत अच्छी तरह समझ में आ सकता है। वेद के सूक्तों में यह सर्वेश्वरवाद अनेक वचनोंद्वारा बताया है, वैसा ही इस ज्येष्ठ ब्रह्म के सूक्त में भी कहा है।

कुमार कुमारी एक ही देव।

त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि त्वं कुमार, उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥२७॥
उतैषां पितोत वा पुत्र एषां, उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठ ।,
एको ह देवो मनसि प्रविष्ट, प्रथमो जातः, स उ गर्भे अन्त.१८

कुमार-कुमारी, स्त्री-पुरुष, पिता—पुत्र, वृद्ध-तरुण, ज्येष्ठ कनिष्ठ, भूत-काल में बना और आज बननेवाला, सर्वतोमुख तथा एकमुख आदि सब प्रकार के जो द्वन्द्व हैं, वे सब एक ही देव के रूप हैं, यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धांत इन मन्त्रों में कहा है। अत इनका अर्थ देखिये—

'तू स्त्री है, तू पुरुष भी है, तू कुमार है और कुमारी भी तू ही है, तू वृद्ध

होकर दण्ड लेकर चलता है; तू जब जन्मता है, तब तू सब ओर मुखवाला, सब प्राणियों के मुख धारण करनेवाला होता है; तू इनका पिता है और तू ही इनका पुत्र है, इनमें तू श्रेष्ठ है और कनिष्ठ भी तूही है; एक ही देव (मनसि प्रविष्टः) मनमें प्रविष्ट होकर (प्रथमः जातः) पहिले जन्मा था, (सः उ गर्भे अन्तः) वही गर्भ में अब पुनः जन्मा है।'

जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में यह मन्त्र इस तरह आता है—

उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठ उतैषां पुत्र उत वा पितैषाम् ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः पूर्वो ह जज्ञे स उ गर्भेऽन्तः ॥
[जै. उप. ब्रा. ८५ (३।१०।१२)]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह ' त्वं स्त्री० ' मंत्र अथर्ववेद के मंत्र के समान ही है। पिप्पलाद संहितामें इस तरह है–

उतेष ज्येष्ठोत वा कनिष्ठोतैष भ्रातोत वा पितैषः ।

'यहां भ्राता तथा पिता भी यही देव है, ' ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् परमेश्वर ही पिता, माता, पुत्र, भाई, बहिन के रूप में आया है, यह विशेष स्पष्ट भाव पिप्पलाद शाखा के मंत्रने बताया है। यदि सभी विश्व के पदार्थ परमात्मा के रूप हैं, तब तो अपने घर के लोग भी उसी के रूप हैं, यह क्या संदिग्ध होगा ? सब विश्व में घर के सब लोग आने से वे सब ईश्वररूप ही हैं, अतः माता, पिता, चचा, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री, प्रपौत्र, प्रपौत्री, इष्टमित्र, नौकर-चाकर, गणगोत, पडौसी तथा सब अन्य ईश्वर के ही रूप हैं, अतः उन को वैसा पूज्य मानकर सब की यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। जब मानवोंका व्यवहार इस दृष्टिसे परिशुद्ध और पवित्रतायुक्त होगा, तभी मानव—समाज वैदिक धर्मके सिद्धान्त पर आरूढ समझा जायगा। अब और देखिये—

सबका एक जीवन-स्रोत

पूर्णात् पूर्णं उदचति, पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदस्य विद्याम, यतस्तत् परिषिच्यते ॥ २९ ॥

' पूर्ण से पूर्ण का उदय होता है, पूर्ण के द्वारा पूर्ण को सिंचित किया जाता है, अब (अस्य तत् विद्याम) इस का वह मूल हम जानें कि (यतः तत् परिषिच्यते) जिस से उस को जीवन मिलता है । ' इसी तरह का एक मन्त्र श. ब्रा. १४।८।१ तथा बृ. उ. ५।१ में है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ॥ (बृ. उ. ५।१)

' यह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण से ही इस पूर्ण का उदय हुआ है । पूर्ण से पूर्ण लेनेपर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है । '

दोनों मन्त्रोंका तत्वज्ञान एकसा ही है । पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण विश्वका उदय होता है, इस पूर्ण विश्व को उस पूर्ण ब्रह्म से जीवन मिलता है, अतः इस पूर्ण विश्व के मूल कारणरूप उस ब्रह्मको जानें कि जिस से इसको जीवन मिल रहा है । जीव और जगत् का आदि स्रोत एक है और सब का जीवनसत्व वही है । क्योंकि ' सब मिलकर एक ही सत्-तत्त्व होता है । '

अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं, न ममार, न जीर्यति ॥ ३२ ॥
अपूर्वेणेषिता वाचः, ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति, तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

' (अन्ति संतं न जहाति) पास रहनेवाले को वह त्यागता नहीं, पर (अंति संतं न पश्यति) पास रहनेवाले को वह देखता नहीं । (देवस्य काव्यं पश्य) इस देवताका यह ज्ञान देखो, वह (न ममार) मरता नहीं और (न जीर्यति) क्षीण भी नहीं होता ॥ (अ-पूर्वेण इषिताः वाचः)

जिस के पूर्व कोई नहीं है, ऐसे आत्मदेवने प्रेरित की हुई वे वाणियाँ (ताः यथायथं वदन्ति) यथायोग्य बोलतीं हैं। (यत्र गच्छन्ति, वदन्ति) जहां वे वाणियाँ जाती हैं और बोलती हैं, वे एक ही बात (आहुः) कहती हैं कि (तत् महत् ब्राह्मणं) यही एक श्रेष्ठ ब्रह्म है। '

वह ब्रह्म सबके पास है, तथापि दीखता नहीं, परन्तु त्यागा भी नहीं जा सकता। विश्वकी इस तरह रचना करनेमें जो उसकी दिव्य चतुराई दीखती है, वह अवर्णनीय है। यह उसका ज्ञान सदा एकसा रहनेवाला है। इस आदिदेव आत्माके द्वारा सब की वाणियाँ प्रेरित होती हैं और उन वाणियोंसे सत्य ज्ञान प्रकट होता है। वे सब वाणियाँ एक ही बात कहती हैं कि, ' यहां एक ही बड़ा ब्रह्म है ' और कुछ नहीं है। एक ही सत् है और उसी के सब रूप हैं।

ब्रह्म सब पदार्थों के रूप धारण कर यहां है अर्थात् घडेमें मिट्टीके समान सब पदार्थों में वह है। सब ही विश्व के पदार्थ उसी के रूप हैं, तथापि वह इतना प्रत्येक पदार्थ में होने पर भी दीखता नहीं, पर कोई उसका नकार भी नहीं कर सकता, क्योंकि सब में वही एक सत्य है। यह उसकी चतुराई है, यह उसीका अपूर्व ज्ञान है, यह शाश्वत टिकनेवाला ज्ञान है, इसमें घट-बध नहीं होगा। जो मनुष्य योगसाधनादि द्वारा इस ब्रह्म की प्रेरणा को अपने अन्दर अनुभव कर सकता है, वही इस यथातथ्य ज्ञानको जान सकता है। आत्माकी शुद्ध प्रेरणासे ही मनुष्यमें सत्य ज्ञान स्फुरित होता है। किसी बाह्य प्रमाणोंके विना प्राप्त होनेवाला सत्य ज्ञान यही है। इस ज्ञान से एक ही घोषणा होती रहती है, वह है- ' एक ही ब्रह्म सर्वत्र ओतप्रोत भरा है, दूसरा कुछ भी यहां नहीं है। ' यह एकत्वदर्शन ही मुख्य और सत्य-दर्शन है। (सर्वं खलु इदं ब्रह्म) ' सब ही सचमुच ब्रह्म है। ' यहां ब्रह्मके विना दूसरा कुछ भी नहीं है।

देखना और जानना

ऊर्ध्वं भरन्तं उदकं कुम्भेनेव उदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा, न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

' (कुम्भेन इव उदहार्य) घडे से भरकर लाने योग्य (उदकं ऊर्ध्वं भरन्तं) जल घडे से भरकर ऊपर उठाकर लाने के समान (सर्वे चक्षुषा पश्यन्ति) सब लोग अपने आंख से उस को देखते तो हैं, पर (सर्वे मनसा न विदुः) सब मनसे उसे ठीक तरह जानते नहीं।'

जल घडे में भरकर उस घडे को सिरपर रखते हैं और लाते हैं । देखने-वाले लोग घडे को तो देखते हैं, पर जल को नहीं देखते । इसी तरह सब लोग ब्रह्म को ही देखते और ब्रह्म के साथ ही व्यवहार करते हैं, परन्तु सब लोग यथायोग्य रीतिसे सब विश्व को ब्रह्मस्वरूप अपने मनसे अनुभव नहीं करते।

वस्तुतः सब का सब व्यवहार ब्रह्म से ही हो रहा है, क्योंकि सब विश्व ही ब्रह्म है, अतः सब का सब व्यवहार ब्रह्म के साथ निश्चय से हो रहा है। परन्तु इस सत्य बात को सब लोग नहीं जानते। सब समझते हैं कि 'हम व्यवहार तो ब्रह्म से भिन्न जगत् से कर रहे हैं। परन्तु वस्तुतः सब लोग चक्षु से जो देख रहे हैं, वह ब्रह्म ही है, अतः व्यवहार भी उसी से किया जा रहा है। परन्तु कोई भी इस सत्य को जानते नहीं। जब इस सत्य को जानेंगे, तभी उन का व्यवहार परिशुद्ध होगा।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये, तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

' (पूर्णेन दूरे वसति) पूर्ण के साथ दूर तक रहता है, वह (ऊनेन दूरे हीयते) न्यूनतासे दूर तक विरहित है अर्थात् उस में न्यूनता नहीं है, परन्तु सर्वत्र पूर्णता ही है। ऐसा बडा (यक्षं) पूजनीय देव भुवन के मध्य में है, इसीके लिये राष्ट्र का भरणपोषण करनेवाले सब देव उसी को बलि अर्पण करते हैं।'

इस विश्व में सर्वत्र पूर्णता है, किसी स्थानपर न्यूनता नहीं है, क्योंकि

सब विश्व ब्रह्म का ही रूप है। यही पूजनीय देव इस विश्व में है। इस को छोडकर यहां दूसरा कुछ भी नहीं है। सब अन्य देवताएं जो भी यहां हैं, वे सब इसी के रूप हैं और वे इस के तेज को धारण करती हैं और अपने कर्मों से इसी की पूजा करती हैं।

शरीर में जिस तरह इंद्रियां, कर्मों और ज्ञान द्वारा आत्मा की ही उपासना करती हैं, इसी तरह विश्व में सूर्यादि सभी देव परमात्मा की शक्ति से प्रकाशित होते हैं और परमात्मा के लिये ही आत्मार्पण करते हैं अर्थात् जो करते हैं, वह उसी के लिये करते हैं।

> यतः सूर्य उदेति, अस्तं यत्र च गच्छति।
> तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं, तदु नात्येति किञ्चन॥ १६॥

'जहांसे सूर्य का उदय होता है और जहां सूर्य अस्त को चला जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, ऐसा मैं मानता हूं। (तत् उ किंचन न अत्येति) उस का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।'

सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य की उत्पत्ति और सृष्टि के प्रलय में सूर्य का अस्त होगा, इसी तरह अन्यान्य देवताओंकी निर्मिति और उनका प्रलय, यह सब इस महत् ब्रह्म के अपूर्व रचनाचातुर्य से होता है, इसलिये वह ब्रह्म सब से श्रेष्ठ है और उस के नियमों का उल्लंघन कोई भी कर नहीं सकता। यह उस ब्रह्म का सामर्थ्य है।

चार प्रकारकी प्रजाएं

(कुत्सः। आत्मा। त्रिष्टुप्)

> तिस्रो ह प्रजा अत्यायं आयन्, न्यन्या अर्कं अभितोऽविशन्त।
> बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥३॥
> (अथर्व. १०.८.३)

इस मंत्र के सदृश एक मंत्र ऋग्वेद में है, वह यह है-

(जमदग्निर्भार्गवः । पवमानः । त्रिष्टुप्)

प्रजा ह तिस्रो अत्यायं ईयुः न्यन्या अर्कं अभितो विविश्रे ।
बृहत् ह तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश ॥
(ऋ. ८.१०१.१४)

इस मंत्र का विवरण शतपथब्राह्मण में निम्नलिखित प्रकार आता है-
प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास ।...स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः परावभूवुः, तानीमानि वयांसि... ॥ १ ॥ ...स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परावभूवुः, तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजे...ता अस्य परैव बभूवुः, त इमे सर्पाः... ॥२॥... स प्रजा असृजत, ता अस्य प्रजाः सृष्टाः स्तनमेवाभिपद्य तास्ततः संबभूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥ ३ ॥ तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तं । ' प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुरिति । ' (श. ब्रा. २.५.१.१-७)

' प्रजापति प्रारम्भ में अकेला ही था... उसने प्रजायें उत्पन्न कीं, उत्पन्न होते ही वे मर चुकीं, ऐसा तीन बार हुआ । वे पक्षी, जन्तु और सर्प आदि प्राणी थे । प्रजापतिने विचार किया कि वे प्रजाएं क्यों मरतीं हैं ? तब उस को मालूम हुआ कि इनको अन्न मिलता नहीं, इसलिये मरती हैं । तब उन्होंने चौथी बार स्तनवाली प्रजा उत्पन्न की । स्तन में दूध होने से यह प्रजा जीवित रहने लगी । इस वृत्तान्त को दर्शाने के उद्देश्य से ऋषिने ' प्रजा ह तिस्रो अत्यायं ईयुः० ' इत्यादि मन्त्र कहा है । ' इस स्पष्टीकरण को सामने रखते हुए ऊपर के मन्त्र का अर्थ हम करते हैं- '

' (तिस्रः प्रजाः अत्यायं आयन् = ईयुः) तीन प्रकार की प्रजाएं पूर्व समय में नाश को प्राप्त हुईं, पश्चात् (अन्या. अर्कं अभितः न्यविशन्त) चौथी वार उत्पन्न हुई प्रजा सूर्यप्रकाश में अथवा अग्नि के सन्निध रहने लगी।

(रजसः विमानः बृहत् तस्थौ) अन्तरिक्ष का मापन करनेवाला बड़ा देव वहां रहता है, (हरितः हरिणीः आ विवेश) हराभरापन हरेभरे वनस्पतियों में उसी से हुआ है।'

(ऋग्वेद-पाठका अर्थ)- '(भुवनेषु अन्तः बृहत् तस्थौ) भुवनों के मध्य में एक बड़ा देव है, वह (पवमानः हरितः आ विवेश) वायु हरेभरे वृक्षों में प्रविष्ट हुआ है।'

तीन प्रकार की प्रजाएं प्रथम उत्पन्न हुईं, पश्चात् चौथी मानवी प्रजा उत्पन्न हुई। यह मानवी प्रजा सूर्य की तथा अग्नि की उपासना करती हुई समाज संगठन करके रहने लगी। सूर्य और अग्नि इन का उपास्य है, वायु भी इन का उपास्य है। ये देव औषधिवनस्पतियों में प्रविष्ट होकर प्राणियों की सहायता करते हैं। इस मंत्र का यह आशय है।

ये सब प्रजाएं प्रजापति ने अपनेमेंसे उत्पन्न कीं, क्योंकि केवल प्रजापति अकेला ही था, अतः उसने जो प्रजाएं सर्जन कीं, वह अपने से ही कीं। सूर्य, अग्नि तथा वायु भी उसी से उत्पन्न हुए और वे प्रजाओं के सहायक हुए। इसी तरह वनस्पतियाँ भी प्रजाओंकी सहायक हुई हैं।

यहां प्रजापतिसे प्रजाओं के सृजन के विषय में कहा है। सूर्य की उत्पत्ति के पश्चात् उस से विद्युत् अग्नि वनस्पति के सृजन की बात कही है। ये सब विभिन्न पदार्थ नहीं हैं, परन्तु ये प्रजापति के ही रूप हैं, यह यहां कहने का तात्पर्य है।

अपाद् अग्रे समभवत्, सो अग्रे स्वराभरत्।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः, सर्वं आदत्त भोजनम्॥ २१॥
भोग्योऽभवद् अथो अन्नं अदद् बहु।
यो देवं उत्तरावन्तं उपासातै सनातनम्॥ २२॥

'(अग्रे अपात् सं अभवत्) सृष्टि उत्पत्ति के प्रारंभ में पादहीन सृष्टि

उत्पन्न हुई। (अग्रे सः स्वः आभरत्) प्रारंभ में उसने उस में चैतन्य भर दिया। (चतुष्पाद् भोग्यः भूत्वा) चतुष्पाद् भोगने योग्य होकर (सर्वं भोजनं आदत्त) सब पदार्थ भोजन के लिये उसने प्राप्त किये ॥ २१ ॥ (भोग्यः अभवत्) भोग भोगने योग्य वह बना; (अथो बहु अन्नं अदत्) और उसने बहुत अन्न खाया। वह सनातन (उत्तरावन्तं देवं) श्रेष्ठ देव की उपासना करेगा। '

प्रारंभ में पादहीन सृष्टि, मच्छी सांप आदि होती है। उस सृष्टिमें चैतन्य कार्य करने लगता है। पश्चात् गाय आदि चतुष्पाद सृष्टि होती है, वह सब घास आदि खाती है। परमेश्वर सब प्राणियोंके रूपों में अवतीर्ण होकर सब पदार्थों का भोग करता है, स्वयं भोगों को भोगता है और दूसरोंका भोग्य भी बनता है। जैसी मछली छोटी मछली को खाती है और स्वयं बडी मछली का भोजन बनती है। आगे मानवप्राणी में यही ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करके स्वयं ब्रह्म होने का दावा करता है। मछली से मानव तक यह विविध सृष्टि उसी की है।

यहां सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन अंशमात्र है। इस सूर्य के वर्णन के मंत्र इस के आगे आते हैं-

सूर्यचक्र = कालचक्र

द्वादश प्रधयः, चक्रमेकं, त्रीणि नभ्यानि, क उ तच्चिकेत।
तत्राहताः त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

' (द्वादश प्रधयः) चक्र की बारह हालें हैं, (एकं चक्रं) एक चक्र है, (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभियां हैं, (तत् कः उ चिकेत) इस को कौन ठीक तरह जानता है ? (तत्र त्रीणि शतानि शंकवः आहताः) उस चक्रमें तीन सौ शंकु लगाये हैं, (षष्टिः च खीलाः ये अविचाचलाः) और साठ

खील जो स्थिर रूप से लगाये हैं। '

सूर्यचक्र का यह वर्णन है। कालचक्र भी इसे कहते हैं। चक्र पर लोहे की हाल होती है, वैसी १२ हालें इस कालचक्र पर हैं। ये ही बारह महीने हैं। तीन नाभियां हैं, ये तीन काल हैं। ग्रीष्म, वृष्टि और सर्दी के मौसम ही ये तीन नाभियां हैं। ३६० शंकु और खील इस चक्र में हैं, ये चान्द्र वर्ष के ३६० दिन ही हैं। यहां ३०० दिनोंको शंकु कहा है और ६० दिनों को खील कहा है, इस से वर्ष के १० महीने और २ महीने ऐसे दो विभाग थे, ऐसा पता चलता है। अंग्रेजी ' दिसेंबर ' महीना दसवाँ ही है। सेप्टेंबर अक्टूबर, नवंबर, दिसेंबर ये क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम मास ही हैं। दश मास की गणना किसी समय थी और दो मास पीछे से लगाकर वर्ष के १२ महिने किये गये। यह भेद ३०० और ६० की पृथक् गिनतीसे प्रतीत हो रहा है। और देखिये—

> इदं सवितर्वि जानीहि, षड् यमा एक एकजः।
> तस्मिन् हापित्वं इच्छन्ते य एषां एक एकजः ॥ ५ ॥

' हे सविता ! (इदं वि जानीहि) यह तुम समझ लो कि (षट् यमाः) छः जुडवे हैं और (एकः एकजः) एक अकेला ही उत्पन्न हुआ है। (एषां यः एकजः एकः) इन में जो अकेला उत्पन्न हुआ है, (तस्मिन्) उस के साथ अन्य छः (आपित्वं इच्छन्ते) अपना सम्बन्ध जोडना चाहते हैं। '

छः जुडवे भाई हैं। वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु हैं, क्योंकि एक ऋतु में दो महीने होते हैं, अतः इनको छ जुडवे भाई कहा है। ये १२ महीने हुए। एक अकेला है, यह अकेला ही जन्मा है। यह तेरहवाँ महीना है। अधिक मास अथवा मलमास उसको कहते हैं, त्रयोदश या पुरुषोत्तम मास भी इसको कहते हैं।'

इस तेरहवें महीने के साथ अन्य बारह महीने अथवा छः ऋतु अपना

सम्बन्ध जोडना चाहते हैं। इस का अर्थ इतना ही है कि चान्द्र वर्ष के ३५४ दिन हैं और सौर वर्ष के ३६५ दिन हैं। इन दोनों वर्षों में ११ दिनों का फेर है। अतः चान्द्र वर्ष का सौर वर्ष के साथ मेल रखने के लिये तीन चान्द्र वर्षों के अन्त में एक अधिक मास मानते हैं, यह तेरहवां महीना है। इस तरह इस का ६ ऋतुओं और १२ महीनों से सम्बन्ध है। इस मेल का यह वर्णन है।

(कुत्सः। आत्मा। त्रिष्टुप्)

एकाचक्रं वर्तत, एकनेमि, सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ? ॥१७॥
(अथर्व. १०।८।७)

ऐसा ही एक मंत्र प्राणसूक्तमें है, उसे यहां देखिये—

(भार्गवो वैदर्भिः। प्राणः। त्रिष्टुप्)

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं कतमः स केतुः ? ॥ १ ॥
(अथर्व. ११।४।२२)

'(एकचक्रं = अष्टाचक्रं वर्तते) एकचक्र अथवा अष्टचक्र है, (एकनेमि) उस की एक नाभि है, (सहस्र-अक्ष-रं) सहस्र आरों से यह प्रकाश देता है और यह (पुरः प्र, पश्चा नि) आगे और पीछे घूमता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे से सब भुवनों को इसने बनाया है, (अस्य यत् अर्धं) इस का जो आधा भाग है, (तत् क्व बभूव) यह कहां है ? तथा (सः कतमः केतुः) उस का चिह्न कहां है ?'

यह सूर्य का वर्णन है। एकचक्र सूर्य है, सहस्राक्षर अर्थात् यह हजारों किरणों से प्रकाश देता है। यह दिन में प्रकाश देकर सब भुवनों को प्रकाशित करता है, रात्रि के समय अन्धेरे से सब विश्व ढक जाता है, उस समय यह सूर्य कहां जाता है ? अष्ट-चक्र सूर्य ही है, क्योंकि अहोरात्र के

आठ प्रहर हैं। चार प्रहरों का दिन और चार प्रहरों की रात्रि है। यह सूर्य ही कालचक्र है, जो पूर्व पश्चिम घूमता रहता है तथा सब को प्रकाश देता हुआ आयुका मापन करता है।

रथके सात घोडे

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्ट्यो युक्ता अनुसंवहन्ति ।
अयातं अस्य ददृशे न रूपं, परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥

'(पञ्चवाही एषां अग्रं वहति) पांच घोडोंवाला रथ इस को आगे खींचता है, (युक्ताः प्रष्ट्यः अनुसंवहन्ति) जोडे हुए घोडे इस को साथ साथ खींचते हैं। (अस्य अयातं रूपं न ददृशे) इस का आक्रमित न हुआ रूप कोई देखता नहीं। (परं नेदीयः) दूर का पास और (अवरं दवीयः) पासवाला दूर है। '

सूर्य के रथ के सात घोडे हैं। यहां कहा है कि पांच घोडे रथ को जोडे हैं और दो घोडे बाजू से जोडे हुए चलाते है। इस तरह कुल सात घोडे हुए हैं। ये सूर्य के सात किरण ही हैं। मुख्य पांच और बाजू के अस्पष्ट दो मिलकर सात किरण हैं। ये ही सूर्य के घोडे हैं। इस की गति कोई देख नहीं सकता और इस को रोकनेवाला भी कोई नहीं है।

एकके तीन देव

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसं अभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं, त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

'(ये) जो (अर्वाङ् मध्ये उत वा पुराणं) अब के, मध्य काल के अथवा प्राचीन काल के (वेदं विद्वांसं) वेद के ज्ञाता की (अभितः वदन्ति) प्रशंसा करते हैं, (ते सर्वे) वे सब (आदित्यं एव परि वदन्ति) सूर्य की ही प्रशंसा करते हैं, तथा (द्वितीयं अग्निं) दूसरे अग्नि की और (त्रिवृतं

हंसं) तीसरे हंस की ही प्रशंसा करते हैं । '

सूर्य, अग्नि और हंस की प्रशंसा सर्वत्र की जाती है । हंस भी प्रातःकाल का सूर्य है और अग्नि रात्रि के समय सूर्य का प्रतिनिधि है । इस तरह सूर्य, विद्युत्, अग्नि, एक ही है । यज्ञ में इनकी प्रशंसा होती है । इस तरह यज्ञ, सूर्य और वेद की प्रशंसा का तत्त्व सूर्य के वर्णन के साथ संबंधित हुआ है।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान् सर्वानुरस्युपपद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा
॥ १८ ॥ (अथर्व. १०।८।१८; १३।२।३८;१३।३।१४)

'(स्वर्गं पततः अस्य हरेः हंसस्य) स्वर्ग को उडनेवाले चमकीले इस हंस के (सहस्र-अह्नां पक्षौ वियतौ) सहस्र दिन के उड्डान के लिये पंख फैले हैं । वह हंस सब देवों को (उरसि उपपद्य) अपनी छातीपर धारण करके (विश्वा भुवनानि संपश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (याति) जाता है । '

(यही मन्त्र अथर्ववेद में ३ वार आया है, दशम काण्ड में एक वार और तेरहवें काण्डमें दो वार ।)

यहां का हंस सूर्य ही है । वह ब्रह्माण्ड के मध्य में है । सूर्य से जो किरण ऊपर की ओर जाता है, उस को ब्रह्मांड के अन्त तक पहुंचने के लिये एक सहस्र दिन लगते हैं, ऐसा इस मन्त्र का अर्थ कई मानते हैं ।

कइयों का ऐसा मत है कि अधिक मास की अवधि १००० दिनों के अनंतर होती है । इस विषय की विशेष खोज होनेकी आवश्यकता है, तवतक यह मन्त्र अज्ञात ही रहेगा ।

सत्येनोर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणार्वाङ् विपश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणिति, यस्मिन् ज्येष्ठं अधिश्रितम् ॥ १९ ॥

'(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्य से अग्नि ऊर्ध्व गति से जलता रहता है,

(ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति) ब्रह्म से ज्ञान से नीचे की ओर सूर्य देखता रहता है, (प्राणेन तिर्यङ् प्राणिति) प्राण के साथ वायु तिरछा श्वसन करता है, (यस्मिन् ज्येष्ठ अधिश्रित) जिस में ज्येष्ठ ब्रह्म व्यापक है। '

अग्नि का ज्वलन ऊर्ध्वभाग में होता है। जो सत्यनिष्ठ होते हैं, वे ऐसे ही सीधे सरल रहते हैं। सूर्य अपने प्रकाश से नीचे की ओर देखता रहता है। वायु तिरछा भ्रमण करता हुआ बहता रहता है। सूर्य, अग्नि और वायु से सब विश्व भरा है, जो ज्येष्ठ ब्रह्मसे परिपूर्ण है अर्थात् ज्येष्ठ ब्रह्म के ही सूर्य, वायु और अग्नि ये रूप हैं।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ? ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ?
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवाः ? अपां नेतारः कतमे त आसन् ? ॥ ३५ ॥

' (येभि इषित वात प्रवाति ?) किन से प्रेरित हुआ वायु बहता है ? (ये सध्रीची पञ्च दिश ददन्ते ?) कौन पाचों दिशाओंको इकट्ठा स्थान देते हैं ? (ये देवा आहुतिं अत्यमन्यन्त ?) कौन देव हैं जो आहुतियों की पर्वाह नहीं करते ? (कतमे ते अपा नेतार आसन्) कौनसे वे देव हैं कि जो जलों को प्रवाहित करते हैं ? '

इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है। वह यह कि 'यह सब एक ही ब्रह्मके द्वारा हो रहा है।' एक ही ब्रह्म के बने ये देव हैं, जो नाना कर्म करते हैं।

इमां एषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
दिवं एषां ददते यो विधर्ता, विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥३६॥

' (एषां एकः इमां पृथिवीं वस्ते) इन में से एक अग्नि पृथिवी में बसता है, (एक अन्तरिक्षं परि बभूव) दूसरा वायु अन्तरिक्ष में व्यापता है। (एषां य विधर्ता दिवं ददते) इन में जो सब का धारणकर्ता है, वह द्युलोक सूर्य का धारण करता है और (एके विश्वा आशा प्रति रक्षन्ति)

दूसरे देव सब दिशाओं की रक्षा करते हैं।'

अग्नि पृथ्वी में, विद्युत् अन्तरिक्ष में, सूर्य द्युलोक में और अन्य देव सब दिशाओं रहते हैं और सब की रक्षा करते हैं। ये सब देव एक ही ज्येष्ठ ब्रह्म की महिमा है, यह पहिले कहा ही है।

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा
तदानीम्? ॥ ३९ ॥
अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन्।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः, पवमानो हरित आ विवेश
॥ ४० ॥

'(यत् विश्वदाव्यः अग्निः द्यावापृथिवी अन्तरा) जब सबको जलानेवाला अग्नि द्युलोक और पृथिवी के बीच में जो है, उसको (प्रदहन् ऐत्) जलाता हुआ जाता है, तब (यत्र एकपत्नीः परस्तात् अतिष्ठन्) एक देव की देव-पत्नियां आगे कहां रहीं थीं? और (तदानीं मातरिश्वा क्व इव आसीत्) तब वायु कहां था?'

'(मातरिश्वा अप्सु प्रविष्टः आसीत्) वायु जलों में प्रविष्ट होकर रहा था, (देवाः सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) सब देव अन्तरिक्षस्थ जलमें प्रविष्ट हुए थे, (रजसः विमानः बृहन् ह तस्थौ) अन्तरिक्ष का मापन करता हुआ बडा देव वहीं ठहरा था, (पवमानः हरितः आविवेश) शुद्धता करनेवाला देव हरेभरे वृक्षों में आविष्ट हुआ था।'

जब अग्नि सब विश्व को जलाने लगे और सब दिशाएं स्तब्धसी हो जावें, तब वायु क्या करता है? जब अग्नि जलाने लगता है, तब वायु उस का सहायक होता है।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥

'(यः ते अरणी विद्यात्) जो उन दोनों अरणियों को जानता है, (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिन से अग्नि नामक वसुदेव मन्थनद्वारा निर्माण किया जाता है, (स मन्येत) वह माने कि (ज्येष्ठं विद्वान्) मैं ज्येष्ठ ब्रह्म जानता हूं, (सः महद् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्म को निःसंदेह जानता है।'

जिस तरह अरणियों में अग्नि रहता है और घर्षण से वह प्रकट होता है, अरणि की लकडियां सदा अग्निमय रहती हैं, उसी प्रकार सब विश्व ब्रह्ममय है, यह जो जानता है, वह ब्रह्म को यथावत् जानता है।

मंत्र, छंद और यज्ञ

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद्, या विश्वतो युज्यते, या च सर्वतः। यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥

'जो ऋचा यज्ञ के प्रारम्भ में बोली जाती है और जो अन्त में कही जाती है, जो सर्वत्र बोली जाती है और जो प्रत्येक कर्ममें कही जाती है, जिससे यज्ञ का फैलाव किया जाता है, वह कौनसी ऋचा है? यह मैं तुझसे पूछता हूं।'

वेदमंत्रों से यज्ञ सिद्ध होता है और यज्ञ फैलाया जाता है। यज्ञ दिन के समय होता है। इसलिये सूर्य जैसा यज्ञ फैलानेवाला है, वैसा ही वेदप्रवर्तक भी है।

उत्तरेणेव गायत्रीं अमृतेऽधि वि चक्रमे।
साम्ना ये साम सं विदुः, अजस्तद् ददृशे क्व ? ॥ ४१ ॥

'(गायत्रीं उत्तरेण इव) गायत्री के ऊपर, (अमृते अधि) अमर लोक के अन्दर (वि चक्रमे) यह देव विक्रम करता है। (साम्ना ये साम सं विदुः) साम के अभ्यास से जो साम गान सम्यक् जानते हैं, तब (अजः ददृशे) अजन्मा देव कहां दीखता है?'

वेद-मंत्रोंसे यज्ञ सिद्ध होता है। गायत्री आदि छंदोंद्वारा अमर देवों के विक्रम वर्णित हुए हैं। जिस तरह सामगान के अभ्यास से साम के गानों की आलापादि प्रक्रिया में प्रवीणता संपादित होती है, उसी तरह वेदमंत्रों के पाठ से तथा यज्ञक्रिया के करने से उस में प्रवीणता प्राप्त होती है। इस से अजन्मा एक देव का जो सर्वत्र गुप्त रूप है, वह जाना जा सकता है।

फलश्रुति

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ४२ ॥

'(वसूनां संगमनः) धनों का दाता, (निवेशनः) सब का निवेश करनेवाला, (सविता देवः इव सत्यधर्मा) सविता देव के समान सत्यधर्म का प्रवर्तक ज्येष्ठ देव (धनानां समरे) धनों के जीतने के युद्ध में (इन्द्रः न तस्थौ) इन्द्र के समान स्थिर रहता है।'

अर्थात् इस ज्येष्ठ ब्रह्म के ज्ञान से सर्वत्र विजय होता है, जैसा इन्द्र सदा विजयी रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण

इस लेखके अन्तिम विभाग में रखे १८ मंत्रोंका स्पष्टीकरण यहां थोडासा अधिक करना आवश्यक है। ' चार प्रकार की प्रजाएं ' इस शीर्षक के आगे के मंत्र ऐसे हैं कि जिन में मंत्रस्थ पद तो आसान हैं, पर इन का आशय और इन मन्त्रों का प्रयोजन प्रकृत विषय के साथ क्या है, यह समझना मुश्किल है। इसलिये ' ज्येष्ठ ब्रह्म ' के साथ इन मंत्रों का क्या संबंध है, इतना ही इस स्पष्टीकरण में बताना है। मंत्रस्थ उपदेश का अन्य विषय यहां बताना नहीं है। इन मंत्रों से ' ज्येष्ठ ब्रह्म ' का वर्णन किस अंशतक हुआ है, इतना ही अब हम यहां बताते हैं-

' चार प्रकार की प्रजाएं ' इस शीर्षक के नीचे इस सूक्त के (मंत्र २; २१; २२) ये तीन मंत्र हैं। इन मंत्रों में यह बताया है कि, ' प्रारम्भ में

एक ही परमात्मा था, उसने अपने में प्रजाओं का सर्जन किया। सब विश्व जो तेजस्वी और हराभरा दीखता है, वह उस की सामर्थ्य से ही है। प्रथम सृष्टि पादरहित थी, जिन को सर्प—मछली आदि कहते हैं। पश्चात् पांववाली सृष्टि हुई। सब सृष्टि में उसी का चैतन्य संचरित हुआ। वही प्रभु अन्न हुआ और वही भोक्ता अर्थात् खानेवाला हुआ। इस तरह भोग्य और भोक्ता यहां एक ही है। ' सर्वेश्वरवाद का यह तत्त्व यहां बताया है।

' अहं अन्नं, अहं अन्नादः ' ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् (३-१०-५) में कहा है। पाठक इस वेदवचन को उपनिषद् के साथ तुलना करके देखें।

' सूर्यचक्र, कालचक्र ' का वर्णन इस के आगे है। इस वर्णन के मंत्र तीन हैं। ' कालचक्र ' के विषय में विचार इस लेखमाला में इससे पहले विस्तारपूर्वक किया है, वही भाव पाठक यहां देखें। काल एक और अखंड है, उस के ऋतु, मास, अयन आदि विभाग कल्पित हैं। यद्यपि ये व्यवहार के साधक हैं, तथापि उन के कारण काल की अखंडितता नष्ट नहीं होती। यह मुख्य बात यहा बताती है।

' रथके सात घोडे ' सूर्यकिरण के सात रंग हैं, उन में पांच रंग स्पष्ट हैं और आजूबाजू के दो अस्पष्ट हैं। इस तरह सात रंग सूर्य के श्वेत किरण में हैं। सात रंग परस्पर विभिन्न होते हुए भी वे अकेले श्वेत रंग में समन्व पाये हैं। एक श्वेत रंग के पृथक्करण से सात रंग होते हैं और सात रंगों के मेल से एक श्वेत रंग बनता है, यह बात सूर्य के रथ के सात घोडों के वर्णन से बतायी है। एक आत्मा से पञ्च भूत, अहंकार और बुद्धि ये सात तत्त्वों का होना और सात तत्त्वों का आत्मा में लीन होना, यह इस वर्णन से स्पष्ट दीखता है। यह बात ८ वें मंत्र में पाठक देख सकते हैं। ' ' यह सब मिलकर एक ही होता है ' यह ११ वें मंत्र का कथन इस बारवें मंत्र में उदाहरणसहित दर्शाया है।

' पक्ष के तीन देव ' का वर्णन करनेवाले आगे सात मंत्र हैं। सूर्य, विद्युत्, अग्नि ये आग्नेय तत्त्व के तीन देव हैं, परन्तु ये एक ही अग्नितत्त्व के

रूप हैं। सूर्य से ही अन्तरिक्ष के मेघमण्डल में विद्युत् संचार करती है और वह भूमिपर गिरने से अग्नि उत्पन्न होती है। सूर्य-किरण मणि में से गुजर कर शुष्क घास पर डालने से भी सूर्यकिरण का रूपान्तर अग्नि में होता है। इस तरह द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष की विद्युत् और भूलोक का अग्नि ये वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये मंत्र में कहा है कि यह सब वर्णन अकेले आदित्य का ही वर्णन है (मंत्र १७)।

अन्तरिक्ष में वायु, विद्युत्, चन्द्र, रुद्र आदि देवगण हैं। ये सभी सूर्य के ही रूप हैं और सब देवों का एकीकरण सूर्य में ही होता है। ज्येष्ठ ब्रह्म से सूर्य, सूर्य से विद्युत् और अग्नि होते हैं। इस तरह ज्येष्ठ ब्रह्म से सब देव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् ज्येष्ठ ब्रह्म ही सब देवों के रूप धारण किये सदा है।

सब मंत्रों के वर्णन में यह भाव प्रमुख है। अरणीद्वारा मन्थन से उत्पन्न होनेवाले अग्नि का वर्णन २० वें मन्त्र में है। लकड़ी में व्याप्त अग्नि का प्रकटीकरण इस तरह होता है। लकड़ी में भी सूर्य की ही उष्णता समाहित होती है, जो अग्निरूप से प्रकट होती है। अर्थात् ये सभी देव सूर्य के ही रूप हैं, यह अद्वैतवाद की घोषणा ये सब मन्त्र कर रहे हैं। इन मंत्रों में जो अन्य वर्णन है, उस का हमारे प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नहीं है, अतः सूत्ररूप मुख्य वर्णन का ही आशय हमने यहां दिया है।

'मन्त्र, छन्द और यज्ञ' विषय का वर्णन करनेवाले आगे दो मन्त्र हैं। जिस मन्त्र से यज्ञ का प्रारंभ किया जाता है, जो यज्ञमें बोला जाता है और जिस से यज्ञ की समाप्ति होती है, वह मन्त्र ओंकार है। इसका तत्त्व यह है-

इस तरह 'अ' कार से 'ओंकार' और ओंकारसे सब देव होते हैं। सब वाणी में अकार ही नाना अक्षरों के रूप लिये रहा है, जैसा ज्येष्ठ ब्रह्म त्रिरूप बना है। यह दोनों की समानता पाठक देखें।

'फलश्रुति' का वर्णन अन्तिम मन्त्र में है। सविता सब विश्व का उत्पादन अपने में से करता है, इस के ये सत्य नियम इसी में स्थायी रहते हैं। ज्येष्ठ ब्रह्म से सविता और सविता से सब विश्व की उत्पत्ति होती है। इसी तरह सब वस्तुओं का संगमन एक देव में होता है, यही ज्येष्ठ ब्रह्म है। जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, वह इन्द्र के समान युद्धों में विजेता होता है। वह निर्भय होता है और विजयी होता है।

सर्वेश्वरवाद अथवा सदैक्यवाद का तत्त्वज्ञान ऐसा गंभीर तत्त्वज्ञान है और वेद का यही ज्ञानसर्वस्व है। पाठक इस का ग्रहण करें।

---

(१३)

ब्रह्मके प्रकाशका दर्शन

ब्रह्म नामक एक ही सत् तत्व है, यह ज्ञान इस समय तक के अनेक लेखों में दिया गया है। यहां दो, तीन या अधिक पदार्थ नहीं हैं, यहाँ केवल एक ही 'सत्' है, जो ब्रह्म अथवा आत्मा पद से वर्णन किया जाता है। इस 'ब्रह्मका प्रकाश' अथर्ववेद के काण्ड १० के द्वितीय सूक्तमें किया है, वह प्रकाश इस लेख में बताना है। इस सूक्त में प्रारम्भ में अनेक प्रश्न पूछे गये हैं और अन्त में सब प्रश्नों का उत्तर भी दिया है। अतः प्रथमतः ये प्रश्न देखिये—

स्थूल शरीरके अवयवोंके संबंधमें प्रश्न

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। केनांगुली पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥ कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्वि ज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥ चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्या मूर्ध्वं शिथिरं कबंधम्। श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥ कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य। कति स्तनौ व्यदधुः कः कपोडौ कति स्कंधान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥ को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति। अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिंधे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

(१)

(१ पूरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते ?) मनुष्य की एडिया किस देवने बनाई ? (२ केन मांसं संभृतं ?) किसने उन में मास भर दिया ? (३ केन गुल्फौ ?) किसने टखने बनाये ? (४ केन पेशनीः अंगुलीः?) किसने सुन्दर अंगुलिया बनाई ? (५ केन खानि ?) किसने इंद्रियों के सुराख बनाये ? (६ केन उच्छ्लंखौ ?) किसने पाव के तलवे ओढ दिये ? (७ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ?) इन अवयवों को बीच मे कौन आधार देता है ?

(२)

(८ नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?) भला किस देवने नीचे के टखने बनाये हैं ? और- (९ पूरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ ?) मनुष्य के ऊपर के घुटने ? तथा- (१० जंघे निर्ऋत्य क्व स्वित् न्यदधुः ?) जांघे अलग अलग बनाकर कहां भला जमा दी हैं ? (११ जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत ?) जानुओंके संधिका किस देवने भला ढाचा बनाया ?

(३)

(११ चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबन्धं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ?) चार प्रकारसे अन्तमें जोडा हुआ शिथिल (ढीला) धड (पेट) घुटनोंके ऊपर किसने भला जोड दिया है ? (१३ श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ?) कुल्हे और जांघें, किसने भला बनायीं हैं ? जिन से धड बडा दृढ हुआ है ?

(४)

(१४ ते कति कतमे देवाः आसन् ये पुरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होंने मनुष्य की छाती और गले को एकत्र किया ? (१५ कति स्तनौ व्यदधुः ?) कितने देवोंने स्तनों को बनाया ? (१६ कः कफोडौ ?) किसने कोहनियां बनाईं? (१७ कति स्कन्धान् ?) कितनों ने कंधोंको बनाया ? (१८ कति पृष्टीः अचिन्वन् ?) कितनों ने पसलियोंको जोड दिया ?

(५)

(१९ वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह मनुष्य पराक्रम करे, इसलिये इसके बाहु किसने पुष्ट किये हैं ? (२० कः देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?) किस देवने इस के उन कंधोंको धड में धर दिया है ?

चतुर्थ मन्त्र में ' कति देवाः ' देव कितने हैं, जो मनुष्य के अवयव बनानेवाले हैं ? ऐसा प्रश्न आता है । इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी ' देव ' शब्द का अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये । ' मनुष्य की एडियां किस देवने बनायीं हैं ? ' इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना, उचित है । मनुष्य का शरीर बनानेवाला देव एक है या देव अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह इन प्रश्नोंका तात्पर्य है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

ज्ञानेन्द्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न

कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । येषां

पुरुत्रा विजयस्य महानि चतुष्पादो द्विपदो यंति यामम् ॥ ६ ॥ हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् । स आ वरीवर्ति भुवने-ष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥ मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं कका-टिकां प्रथमो यः कपालम् । चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥ प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाध-तन्द्रयः । आनंदानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९ ॥ आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः । राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

(६)

(२१ इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षाणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किस देवने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य महानि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यंति ।) जिनके विजयकी महिमा में चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण कर सकते हैं ।

(७)

(२२ हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात् ?) इस बहुत गतिशील जीभको दोनों जबडो के बीचमें किसने रख दिया है ? (अध महीं वाचं अधि शिश्राय ?) और प्रभावशाली वाणी को उस में किसने रख दिया है ? (२३ अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति क उ तत् चिकेत !) कर्मोंका धारण करनेवाला वह जो देव सब भुवनों में अन्दर रहता है, उस को कौन भला जानता है ?

(८)

(२४ अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा दिवं रुरोह, स देवः कतमः ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जबडो का संचय, आदिको जिस अनेकों में से एक देवने बनाया और जो द्युलोक में चढ गया, वह भला कौनसा देव है ?

(९)

(२५ बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं, सम्बाधतन्द्र्यः, आनन्दान् नन्दान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?) बहुतसी प्रिय और अप्रिय बातों, निद्राओं, बाधाओं और थकावटों, आनंदों और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण पाता है ?

(१०)

(२६ आर्तिः, अवर्तिः, निर्ऋतिः, अमतिः पुरुषे कुतः नु ?) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्य में कहांसे होती हैं ? (२७ राद्धिः, समृद्धिः अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः, कुतः ?) पूर्णता, समृद्धि अ-हीनता, बुद्धि और उदय की प्रवृत्ति कहांसे मनुष्यमें होती हैं ?

छठे मन्त्र में सात इंद्रियों के नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख ये सात ज्ञान के इंद्रिय हैं। वेद में अन्यत्र इनको ही, (१) सप्त ऋषि, (२) सप्त अश्व, (३) सप्त किरण, (४) सप्त अग्नि, (५) सप्त जिह्वा, (६) सप्त प्राण आदि नामों से वर्णन किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मन्त्रका अर्थ करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वार के और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरी के नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा, पश्चिमद्वार है, अन्य द्वार इन से छोटे हैं। (आगे इसी सूक्त का मन्त्र ३१ देखिये)

यद्यपि 'पुरुष' शब्द (पुर-वस) उक्त नगरीमें वसनेवाले का बोध कराता है, अतः सर्वसाधारणतः यह पद प्राणिमात्र का वाचक है, तथापि यहां का वर्णन विशेषतः मनुष्य के शरीरका ही समझना उचित है। 'चतुष्पाद और द्विपाद' शब्दों से संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मन्त्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस तरह अन्य मंत्रों में बोध लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मन्त्र ७ में जो वाणी का वर्णन है, वह मनुष्य की वाणी का ही है, क्योंकि सब प्राणियों में यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणी में

पूर्ण विकसित हो गई है। मन्त्र ९, १० में 'मतिः अमतिः' आदि शब्द मनुष्य का ही वर्णन कर रहे हैं। अतः यद्यपि मुख्यतः यह सब वर्णन मनुष्य का ही है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मन्त्र सामान्य अर्थ के बोधक हैं, वे सामान्य तथा प्राणिजाति के वर्णनपरक समझने में कोई हानि नहीं है।

मन्त्र आठ में (कतमः दिवं रुरोह) 'स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है?' यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह मन्त्र स्वर्ग में चढनेवाले का मार्ग बता रहा है। इस प्रश्न का दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, 'नरक में कौन गिर जाता है?' तात्पर्य आत्मा स्वर्ग में क्यों जाता है और नरक में क्यों गिरता है?

मन्त्र ९ और १० में जीवन के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं। (१) अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तन्द्री, आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं। और (२) प्रिय, आनन्द, नन्द, राद्धि, समृद्धि, अव्यृद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानों में आठ आठ शब्द हैं और उन का परस्पर सम्बन्ध भी है। पाठक विचार करेंगे तो वे उस सम्बन्ध को जान सकते हैं। तथा—

रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदि के विषयमें प्रश्न।

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिंधु सृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाची पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥ को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च। गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥ को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु। समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥ को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे। को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥ को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत्। बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

(११)

(२८ अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृतः, सिंधु-सृ-त्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ?) इस मनुष्य में विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदी के समान बहने के लिये बने हुए, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबे के धूवें के समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे वेग से चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये है ?

(१२)

(२९ अस्मिन् रूपं कः अदधात् ?) इस में रूप किसने रखा है ? (३० महानं च नाम च कः अदधात् ?) महिमा और नाम (यश) किसने रखा है ? (३१ अस्मिन् गातुं कः ?) इस में गति किसने रखी है ? (३२ कः केतुं ?) किसने ज्ञान रखा है ? और (३३ पुरुषे चरित्राणि कः अदधात् ?) मनुष्य में पांव अथवा चारित्र्य किसने रखे हैं ?

(१३)

(३४ अस्मिन् कः प्राणं अवयत् ?) इस में किसने प्राण चलाया है ? (३५ कः अपानं व्यानं उ ?) किसने अपान और व्यान को लगाया है ? (३६ अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ?) इस पुरुष में किस देवने समान को ठहराया है ?

(१४)

(३७ कः एकः देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अधि अदधात् ?) किस एक देवने इस पुरुष में यज्ञ रख दिया है ? (३८ कः अस्मिन् सत्यं ?) कौन इस में सत्य रखता है ? (३९ कः अनृ-ऋतम् ?) कौन इस में असत्य रखता है ? (४० कुतः मृत्युः ?) कहां से इस को मृत्यु होती है ? और- (४१ कुतः अमृतम् ?) कहां से अमरपन मिलता है ?

(१५)

(४२ अस्मै वासः कः परि-अदधात् ?) इसके लिये कपडे किसने पहनाये है ? (कपडे = शरीर) । (४३ अस्य आयुः कः अकल्पयत् ?)

इस की आयु किसने संकल्पित की ? (४४ अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?) इस को बल किसने दिया ? और– (४५ अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इस का वेग किसने निश्चित किया ?

मन्त्र ११ में शरीरमें रक्त का प्रवाह किसने संचारित किया है? यह प्रश्न है। प्रायः लोग समझते हैं कि शरीर में रुधिराभिसरण का तत्त्व युरोप के डाक्तरोंने खोज करके जान लिया है। परन्तु इस अथर्ववेद के मन्त्रों में यह वर्णन स्पष्ट ही है। रुधिर का नाम इस मंत्र में " लोहिनीः आपः " है। इस का अर्थ " (लोह-नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल " ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है। लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है। लोह जिसमें है वही " लोहित " (लोह+इत) होता है। दो प्रकार का रक्त होता है, एक " अरुणाः आपः " अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा " ताम्र-धूम्राः आपः " तांबे के रंग के समान मलिन रंगवाला। पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदय से बाहर जाता है और सब शरीर में ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है। दूसरा मलिन रंग का रक्त है, जो शरीर में भ्रमण कर के और वहां की शुद्धता करने के पश्चात् हृदय की ओर वापस आता है। इस प्रकार की यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है ? यह प्रश्न यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है ? पाठको ! सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है कि, " मनुष्य में सौंदर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवता के प्रभाव से दिखाई देता है ? " इस मंत्र के " चरित्र " शब्द का अर्थ कई लोग " पांव " ऐसा समझते हैं। परन्तु स्थूल पाव का वर्णन पहिले मंत्र में हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुण-धर्मों का वर्णन चला है। तथा महिमा, यश, ज्ञान आदि के साथ चारित्र्य ही अर्थ यहां ठीक दिखाई देता है।

मंत्र १५ में " वासः " शब्द " कपडों " का वाचक है। यहाँ जीवात्मा के ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका सम्बन्ध है, धोती आदि का नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि- " जिस प्रकार देही पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है।" (गीता २।२२) इस में शरीर को तुलना कपड़ों के साथ की है। इस गीता के श्लोक में "वासांसि" अर्थात् "वासः" यही शब्द है, इसलिये गीता की यह कल्पना इस अथर्ववेद के मन्त्र से ली है, ऐसा प्रतीत होता है। कई विद्वान् यहां इस मन्त्र में "वासः" का अर्थ "निवास" करते हैं, परन्तु " परि-अदधात् (पहनाया) " यह क्रिया बता रही है कि यहां कपड़ों का पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मा पर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये ? यह इस प्रश्न का सीधा तात्पर्य है।

मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषय में प्रश्न।

(समष्टि व्यष्टि का सम्बन्ध)

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे। उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥ को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायतामिति। मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥ केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम्। केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥ केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्। केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥ १९ ॥

(१६)

(४६ केन आपः अन्वतनुत ?) किस देवने जल फैलाया ? (४७ केन अहः रुचे अकरोद् ?) किसने दिन प्रकाश के लिये बनाया ? (४८ केन उषसं अनुऐन्द्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (४९ केन सायंभवं ददे ?) किसने सायंकाल दिया है ?

(२७)

(५० तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातन्तु चलता रहे, इसलिये इस में वीर्य किसने रख दिया है ? (५१ अस्मिन् मेधां कः अधि औहत् ?) इस में बुद्धि किसने रखी है ? (५२ कः वाणीं !) किसने वाणी रखी है ? (५३ कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्य का भाव रखा है ?

(२८)

(५४ केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमि को आच्छादित किया है ? (५५ केन दिवं पर्यभवत् ?) किसने द्युलोक को घेरा है ? (५६ केन मह्ना पर्वतान् अभि ?) किसने अपने महत्त्व से पहाड़ों को ढका है ? (५७ पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किस से कर्मों को करता है ?

(२९)

(५८ पर्जन्यं केन अन्वेति ?) पर्जन्य को किस के द्वारा प्राप्त करता है ? (५९ विचक्षणं सोमं केन ?) विलक्षण सोम को किस के द्वारा पाता है ? (६० केन यज्ञं च श्रद्धां च ?) किस से यज्ञ और श्रद्धा को प्राप्त करता है ? (६१ अस्मिन् मनः केन निहितं ?) इस में मन किसने रखा है ?

मन्त्र १५ तक व्यक्ति के शरीर के सम्बन्ध में विविध प्रश्न हो रहे थे, परन्तु अब मन्त्र १६ से विश्व के विषय में प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इस के आगे मन्त्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्र के विषय में भी प्रश्न आ जायँगे। तात्पर्य इस से वेद की शैली का पता लगता है, (१) अध्यात्म में व्यक्ति का सम्बन्ध, (२) अधिभूत में प्राणिसमष्टि का अर्थात् समाज का सम्बन्ध, और (३) अधिदैवत में संपूर्ण विश्व का सम्बन्ध है। वेद व्यक्ति से प्रारम्भ करता है और चलते चलते संपूर्ण जगत् का ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेद की शैली है। जो इस को नहीं समझते, उन के ध्यान में उक्त प्रश्नों की संगति नहीं आती। इसलिये इस शैली को समझना चाहिये।
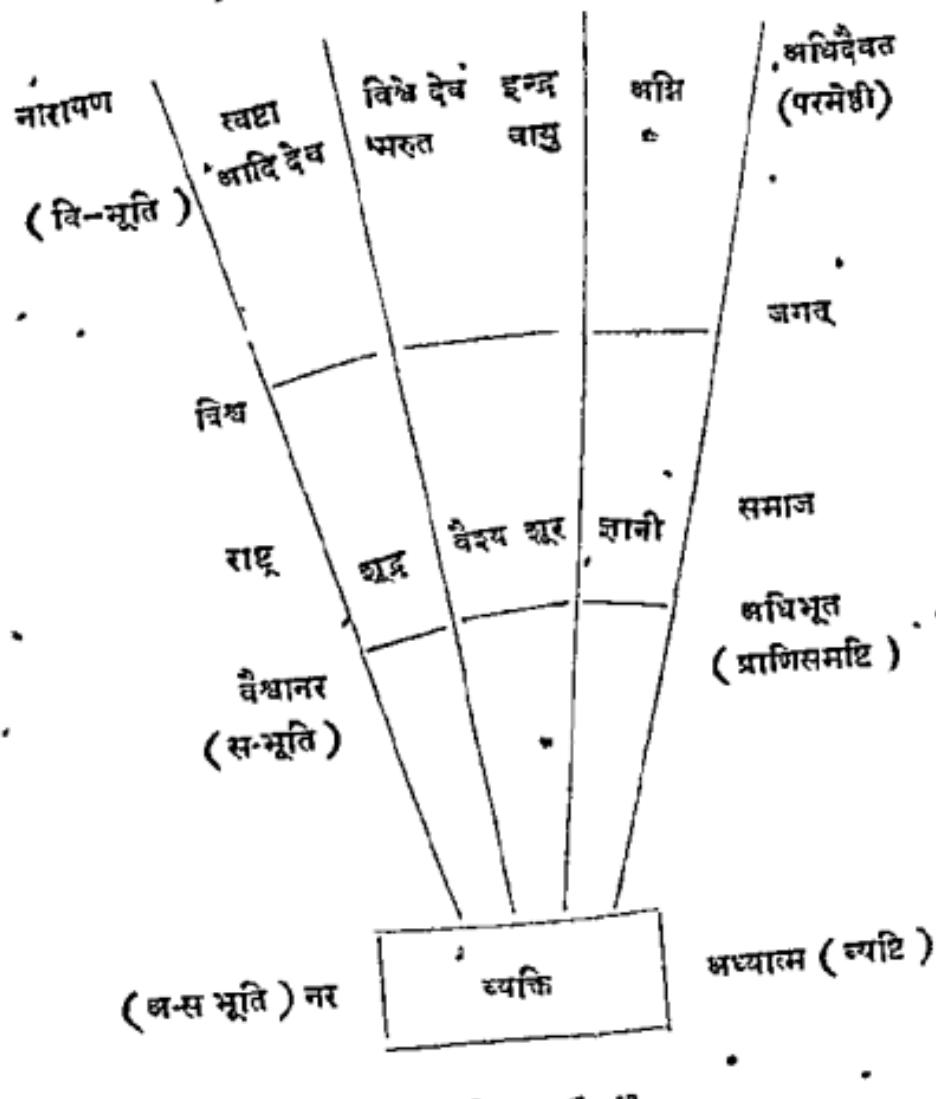
व्यक्ति-समाज-विश्व का चित्र
व्यष्टि-समष्टि-परमेष्ठी का चित्र

जैसा शरीर का एक अवयव हाथ पांव आदि शरीर के साथ युक्त रहता है उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण विश्व के साथ मिला है।

'व्यक्ति समाज और विश्व' सर्वथा विभिन्न नहीं हो सकते। हाथपांव आदि अवयव जैसे शरीर में हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाज के साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण विश्व में संलग्न हो गई है। इसलिये तीनों स्थानों में एक जैसे ही नियम हैं।

मन्त्र १० में प्रजातन्तु अर्थात् संततिका तन्तु (धागा) टूट न जाय, इस लिये शरीर में वीर्य है, यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।' (तै. १।११।१) 'संततिका तांता न तोड।' यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य यौंही खोनेके लिये नहीं है, परन्तु उत्तम संतति उत्पन्न करने के लिये ही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेक में वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित रखकर उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्तमें आगे जाकर मन्त्र २९ में कहेंगे कि 'जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं।' उस मन्त्र के अनुसंधानमें इस मन्त्रके भावको देखना चाहिये। धन अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये, इतना ही नहीं, परन्तु 'उत्तरोत्तर संतति में शुभ गुणों की वृद्धि होनी चाहिये' इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोग वीर्य का नाश दुर्व्यसनों में कर देते हैं और उस से अपना और कुल का घात करते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग वीर्य का संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुल का संवर्धन करते हैं। यही धार्मिकों और अधार्मिकों में भेद है।

इसी मन्त्र में 'प्राण' शब्द 'वाणी' का वाचक और 'नृत '

शब्द ' नाट्य ' का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है, उस समय हाथ पावसे अगोंके विक्षेप तथा विशेष प्रकार के आविर्भाव करता है। यही ' नृत ' है। भाषण के साथ मनके भाव व्यक्त करने के लिये अगोंके विशेष आविर्भाव होते हैं, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

मन्त्र १८ में विभुके विषय में प्रश्न हैं। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं ? अर्थात् एक ही व्यापक परमात्मा सब में व्याप्त हो रहा है, यह इस का उत्तर आगे मिलनेवाला है। व्यक्ति में आत्मा है, वैसा ही संपूर्ण विश्व में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्द से दोनोंका बोध होता है। व्यक्ति में जीवात्मा पुरुष है और जगत् में परमात्मा पुरुष है। एक ही के ये दो भाव हैं, क्योंकि परमात्मा का अंश ही जीव है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है ? यह प्रश्न इस मन्त्र में हुआ है।

मन्त्र,१९ में यज्ञ करने का भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्यमें कैसा आता है, यह प्रश्न है। पाठक भी इस का बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्य का श्रेष्ठत्व है। ये भाव मन में रहते हैं और मन के प्रभाव के कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। तथा --

ज्ञान और ज्ञानी

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्। केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥ ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ॥ ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

(२०)

(६० केन श्रोत्रियं आप्नोति ?) किसके द्वारा ज्ञानी को प्राप्त करता है ? (६१ केन इमं परमेष्ठिनम् ?) किस से इस परमात्माको प्राप्त करता है ? (६२ पूरुषः केन इमं अग्निं ?) मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है ? (६५ केन संवत्सरं ममे ?) किससे संवत्सर--काल--को मापता है ?

उत्तर

(२१)

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति।) ब्रह्म ज्ञानी को प्राप्त करता है। (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्।) ब्रह्म इस परमात्माको प्राप्त करता है। (पुरुषः ब्रह्म इम अग्निम्।) मनुष्यरूप ब्रह्म ही इस अग्नि को पास करता है। (ब्रह्म सवत्सरं ममे।) ब्रह्म ही काल को मापता है।

मन्त्र २० में चार प्रश्न हैं और इनका उत्तर मन्त्र २१ मे दिया है। श्रोत्रिय को कैसा प्राप्त किया जाता है? गुरुको किस रीतिसे प्राप्त करना है? इसका उत्तर 'ब्रह्म से ही श्रोत्रिय की प्राप्ति होती है।'

परमेष्ठी

परमेष्ठी परमात्मा को कैसे प्राप्त किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर भी 'ब्रह्म से' ही है। 'परमेष्ठी' शब्द का अर्थ 'परम स्थान में रहनेवाला' है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता हैं वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकारण, इनमें रहनेवाले को 'परमेष्ठी' किंवा 'पर-तमे-ष्ठी' परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञान से ही लगता है। सब से पहिले अपने ज्ञान से सद्गुरु को प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरु से दिव्य ज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माको जानना है। अर्थात् ब्रह्म से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है।

तीसरा प्रश्न 'अग्नि कैसा प्राप्त होता है?' यह है। अग्नि भी ब्रह्मसे ही प्राप्त होता है। अर्थात् ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे विद्युत् और विद्युत् से अग्नि होता है अर्थात् ब्रह्म से अग्नि होता है।

चौथा प्रश्न सवत्सर की गिनती के विषय में है। सवत्सर 'वर्ष' का नाम है। इस से 'काल' का बोध होता है।

ज्ञानगुण आत्मा का है, तथा ब्रह्म शब्द से आत्मा परमात्मा का बोध होता है, और आत्मा के ज्ञान से यह सब होता है, ऐसा भाव इस वर्णन से व्यक्त

होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। ब्रह्म शब्द के ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ होते हैं।

देव और देवजन

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः। केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २२ ॥ ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः। ब्रह्मेदमन्य-न्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥ २३ ॥

(२२)

(६६ केन देवान् अनु क्षियति ?) किस से वह देवों के साथ अनु-कूल होकर बसता है ? (६७ केन दैव-जनीः विशः ?) किस से वह दिव्य जनरूप प्रजा के साथ अनुकूल होकर बसता है ? (६८ केन सत् क्षत्रं उच्यते ?) किस से इस सत् को क्षत्र कहा जाता है ? (६९ केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ?) किस से यह दूसरा न क्षत्र है, ऐसा कहते हैं ?

उत्तर

(२३)

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति।) ब्रह्म ही देवों के अनुकूल होकर बसता है। (ब्रह्म दैव-जनीः विशः।) ब्रह्म ही दिव्यजनरूप प्रजाके अनुकूल होकर बसता है। (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते।) ब्रह्म से ही यह सत् क्षत्र कहा जाता है। (ब्रह्म इदं अन्यत् न क्षत्रम्।) ब्रह्म ही यह दूसरा न-क्षत्र है।

मन्त्र १ से १९ तक के सब मन्त्रों में तथा मन्त्र २० और २२ इन दो मन्त्रों तथा २४ वें मन्त्र में अर्थात् सब मिल कर कुल २२ मन्त्रों में अनेक प्रश्न पूछे गये हैं। इनमें कई प्रश्न व्यक्ति के शरीर के संबंध के हैं, कई प्रश्न मानव-समाज के विषय के हैं और कई प्रश्न विश्व के संबन्ध के हैं। इन सबका विचार करने के पूर्व २४ और २५ मन्त्र का आशय पहिले देखिये—

आधिदैवत

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

(२४)

(७० केन इयं भूमिः विहिता ?) किसने यह भूमि विशेष रीति से बना रखी है ? (७१ केन द्यौः उत्तरा हिता ?) किसने द्युलोक ऊपर स्थिर रखा है ? (७२ केन इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम् ?) किस ने यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ?

उत्तर

(२५)

(ब्रह्मणा भूमिः विहिता।) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार बनायी है। (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम्।) ब्रह्मने ही यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है।

इस प्रश्नोत्तर में त्रिलोकी का विषय आ गया है, इस का विचार थोडासा सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिये। भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्ति में भी है और विश्व में भी है। देखिये–

(यहाँ पृ० ३२४ परका कोष्टक देखें)

मंत्र २४ में पूछा है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकों को किसने बना कर अपने अपने स्थान में रखा है ? उत्तर में निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकों को ब्रह्मने बनाया और अपने अपने स्थान में रखा है। उक्त तालिका से तीनों लोक व्यक्ति में, राष्ट्र में और विश्व में कहां रहते हैं, इस का पता लग सकता है। व्यक्ति में सिर, हृदय और नाभि के नीचला भाग ये तीन

लोक हैं। इन का धारण आत्मा कर रहा है। तथा व्यापक ब्रह्म विश्व की त्रिलोकी की धारणा कर रहा है।

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप	जगत्में रूप
भूः	नाभिसे गुदा-तकका प्रदेश, पांव	(विशः) जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
भुवः	छाती और हृदय	(क्षत्रं) शूर लोग लोक-सभा समिति	अन्तरिक्ष (वायु) इंद्र
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	(ब्रह्म) ज्ञानी लोग मंत्री-मंडल	द्युलोक नभोमंडल (सूर्य)

इस २४ वें मन्त्र के प्रश्न में पूर्व मंत्रों में किये सभी प्रश्न संगृहीत हो गये हैं। पहिले दो मंत्रों में नाभि के निचले भागों के विषय में प्रश्न हैं, मन्त्र ३ से ५ तक मध्यभाग और छाती के सम्बन्ध के प्रश्न हैं, मन्त्र ६ से तक सिर के विषय में प्रश्न हैं। इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्ति की त्रिलोकी विषय में स्थूल शरीर के सम्बन्ध में हैं। मन्त्र ९, १० में मन की शक्ति

प्रश्न हैं, मन्त्र ११ में सर्व शरीर में व्यापक रक्त के विषय का प्रश्न है, मन्त्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान और चारित्र्य के प्रश्न हैं, मन्त्र १३ में प्राण के सम्बन्ध के प्रश्न हैं, मन्त्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदि विषय में प्रश्न हैं, मन्त्र १७ में संतति, वीर्य आदि के प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्ति के शरीर में जो त्रिलोकी है, उस के सम्बन्ध में हैं। इन मन्त्रों के प्रश्नों का क्रम देखने से पता लग जायगा कि वेदने स्थूल से स्थूल भाग से प्रारम्भ कर के क्रमशः सूक्ष्म आत्मशक्ति के विचार पाठकों के मन में उत्तम रीति से जमा दिये हैं। जड शरीर के मोटे भाग से प्रारम्भ कर के चेतन आत्मा-तक अनायास से पाठक आ गये हैं !!

चौवीसवें मंत्र में प्रश्न किये हैं कि यह त्रिलोकी किसने धारण की है ? इस का उत्तर २५ वें मन्त्र में है कि " ब्रह्म ही इस त्रिलोकी का धारण करता है। " अर्थात् शरीर की त्रिलोकी शरीर के अधिष्ठाता आत्माने धारण की है, यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है। ब्रह्म ही यह सब करता है, अतः सब प्रश्नों का उत्तर ' ब्रह्म ' इतना ही है।

अन्य मन्त्रोंमें (मन्त्र १६, १८ से २४ तक) जितने प्रश्न पूछे हैं, उनके ' आधिभौतिक ' और ' आधिदैविक ' ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैयक्तिक भाग पूर्व विभाग में आ गया है। इनका उत्तर भी २५ वा मन्त्र ही दे रहा है। अर्थात् सब का धारण ' ब्रह्म ' ही कर रहा है। तात्पर्य संपूर्ण ७२ प्रश्नों का उत्तर एक ही ' ब्रह्म ' शब्द में समाया है। ब्रह्म ही सब कराता है।

व्यक्ति में और विश्व में जो ' प्रेरक ' है, उस का ' ब्रह्म ' शब्द से इस प्रकार बोध हो गया। इस का प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमें शरीरको ज्ञान होता है और बाह्य विश्व को भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु उसके प्रेरक को नहीं जानते !! उसको जानने का उपाय निम्नलिखित मन्त्र में कहा है—

ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

(२६)

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर और जो हृदय है, उस को आपस में सीकर (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् ।) प्राण सिर के बीच में, परन्तु मस्तिष्क के ऊपर, प्रेरित करता है।

इस मन्त्रमें अनुष्ठान की विधि कही है। यही अनुष्ठान है जो कि आत्म-रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। सब से पहिली बात है ' अथर्वा ' बनने की ।" अ-थर्वा ' का अर्थ है निश्चल । थर्व का अर्थ है गति अथवा चंच-लता। यह सब प्राणियों में स्वभाव से होती है। शरीर चंचल है, उस से इंद्रियां चंचल है, वे किसी एक स्थान पर नहीं ठहरतीं। उनसे भी मन चंचल है, इस मन की चंचलताकी तो कोई हद ही नहीं है। इस प्रकार जो चंच-लता है, उस के कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं दीखता। जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है।

आसनों के अभ्यास से शरीर की स्थिरता होती है और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है। ध्यान से इंद्रियों की स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है। इस प्रकार योगी अपनी चंचलता को दूर करता है। इसलिये इस योगी को ' अ-थर्वा ' अर्थात् ' निश्चल ' कहते हैं। यह निश्चलता प्राप्त करना बडे ही अभ्यास का कार्य है।

' अ-थर्वा ' बनने के पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये। सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एक ही कार्य में लगाना है। सिर विचार का कार्य करता है और हृदय भक्ति में तल्लीन होता है। सिर के तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदय की भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्ति से परिपूर्ण हो

जाता है, तब वहां तर्क बन्द हो जाता है। केवल तर्क बढने पर नास्तिकता और केवल भक्ति बढनेपर अन्धविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदने इस मन्त्र में कहा है कि ' सिर और हृदय को सी दो। ' ऐसा करनेसे सिर अपने तर्क भक्ति के साथ रहते हुए करेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अन्धा बनने लगेगा, तो सिर उस को ज्ञान के नेत्र देगा। इस प्रकार दोनों का लाभ है। सिर में ज्ञान-नेत्र हैं और हृदय की भक्तिमें बडा बल है। इसलिये दोनों के एकत्रित होने से बडा ही लाभ है।

राष्ट्रीय शिक्षा का विचार करनेवालोंको इस मन्त्र से बडा ही बोध मिल सकता है। **शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार-शक्ति बढे और साथ साथ हृदय की भक्ति भी बढे।** जिस शिक्षा-प्रणाली से केवल तर्कना-शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है, वह बडी घातक शिक्षा है।

सिर और हृदय को एक मार्ग में लाकर उनको साथ साथ चलाने का जो स्पष्ट उपदेश इस मन्त्र में है, वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है।

पहिली अवस्था ' अ-थर्वा ' बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदय को सीकर एक करना चाहिये। जब दोनों एक ही मार्ग से चलने लगेंगे, तब बडी प्रगति होगी। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यास की आवश्यकता है। इसके पश्चात् प्राण को सिर के अन्दर प्रेरित करना है। सिर में मस्तिष्क के उच्चतम भाग में ब्रह्मलोक है। यह योग से साध्य अंतिम उच्चतम अवस्था है। तर्कशक्ति के परे ब्रह्म का स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं, तब तक ब्रह्म का अनुभव नहीं होता। परन्तु जिस समय तर्क से परे जाना होता है, उस समय उस एक तत्व का अनुभव आता है। इस अनुष्ठान का फल अगले चार मन्त्रों में कहा है—

अथर्वाका सिर

तद्वा अथर्वणः सिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

(१७)

(तद् वा अथर्वणः सिरः समुब्जितः देव-कोशः।) वह निश्चय से योगीका सिर देवों का सुरक्षित खजाना है। (तत् शिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति।) उस सिर का रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं।

इस मन्त्र में अथर्वा के सिर की योग्यता कही है। स्थिरचित्त योगी का नाम 'अ-थर्वा' है, इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवोंका जो देवपन है, वह इस के सिर में सुरक्षित होता है। शरीर में ये सब इंद्रिय-(ज्ञान और कर्म इंद्रिय)-देव हैं; तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत, सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीर में अन्य स्थानोंमें हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवों का सम्बन्ध सिर में होता है, मानो सब देवताओंकी मुख्य सभा सिर में ही है। सब देव अपना सत्त्व सिरमें रख देते हैं। सब देवोंके सत्वांशसे यह सिर बना है और सिर का यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता 'प्राण, अन्न और मन' के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्विक अन्न के सेवनसे और मनकी शांति से देवोंका उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायाम से सब दोष जल जाते हैं, सात्विक अन्न से शुद्ध परमाणुओं का संचय होता है और मन की शांतिसे समता रहती है।

इस मन्त्र में योगी के सिर की योग्यता बताई है और आरोग्य की कुंजी प्रकट की है- (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्विक अन्न का सेवन और (३) मन की परिशुद्ध शांति, ये आरोग्य के मूल सूत्र हैं। योगसाधन की सिद्धता के लिये तथा बहुत अंश में पूर्ण स्वास्थ्य के लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवों का कोश बनानेके लिये हरएक को प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा यह राक्षसों का निवासस्थान बनेगा और फिर कष्टोंकी कोई सीमाही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करने के लिये तत्पर रहते हैं, इसलिये सदा

तत्परता के साथ दैवी भावना का विकास करना चाहिये। ऐसी दैवी भावना की स्थिति होने के पश्चात् जो अनुभव होता है, वह निम्न मंत्र में लिखा है-

सर्वत्र पुरुष

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ॥ पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

(२८)

(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टः।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है। (तिर्यक् नु सृष्टः।) निश्चय से तिरछा फैला है। तात्पर्य- (पुरुषः सर्वाः दिशः आ बभूव।) पुरुष सब दिशाओं में है। (यः ब्रह्मणः पुरं वेद।) जो ब्रह्म की नगरी जानता है। (यस्याः पुरुषः उच्यते।) जिस नगरी में निवास होने के कारण ही उस को पुरुष कहा जाता है।

जब मन्त्र २६ के अनुसार अनुष्ठान और मंत्र २७ के अनुसार "दैवी सम्पत्ति" की सुरक्षा की गयी, तो ही मन्त्र २८ का फल अनुभवमें आना सम्भव है। "ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थान में यह पुरुष व्यापक है" ऐसा अनुभव आता है। इस के बिना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्मा की सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरी में बसने के कारण (पुरी +वस् = पुर्+उस् = पुरुषः) आत्मा को पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहिर है, वैसा इस शरीर में भी है।

आगे मन्त्र ३१ में इस पुरीका वर्णन आ जायगा। पाठक वहाँपर पुरी का वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरी, अमरावती, देवनगरी, अयोध्या-नगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मन्त्र २८ ने बताया है। ब्रह्मनगरीको जो उत्तम प्रकारसे जानता है, उस को सर्वात्मभाव, सर्वेश्वर-भाव अथवा सर्वव्यभाव का अनुभव आता है। जो पुरुष अपने हृदयाकाश में है, वही सर्वत्र ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओं में पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थान पर नहीं, ऐसा एक भी स्थान नहीं है,

यह अनुभव उपासक को यहां होता है । " आत्मा में सब भूत और आत्मा को सब भूतों में वह देखने लगता है " और वह अनुभव से जानता है कि सब भूत आत्मा ही है (ईश. उ. ६-७) । जो यह देखता है, उन को शोक मोह नहीं होते और उस से कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होते ।

ब्रह्मज्ञानका फल

यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

(२९)

(य वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो निश्चय से अमृत से परिपूर्ण उस ब्रह्म की नगरी को जानता है, (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः, प्राणं, प्रजां, च ददुः ।) उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ।

ब्रह्मनगरीका वर्णन इस मन्त्रमें है। (अमृतेन आवृतां ब्रह्मणः पुरम्) अर्थात् ' अमृतसे आवृत ब्रह्म की नगरी है । ' आत्मा अ-मृत रूप होने से जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है । इसलिये हरएक को यथाशक्ति इस मार्ग में प्रयत्न करना चाहिये । यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थान का पता मन्त्र ३१ में पाठक देखेंगे ।

ब्रह्मनगरी को यथावत् जानने से ब्रह्म और सब (ब्राह्म देव) प्रसन्न होते हैं और उपासक को चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं । ' ब्रह्म ' शब्द से ' आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म ' का बोध होता है और ' ब्राह्माः ' शब्दसे ' ब्रह्मसे बने हुए अन्य देव अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव ' बोधित होते हैं । ब्रह्मनगरी को जाननेसे ब्रह्म की प्रसन्नता होती है और संपूर्ण अन्य देवोंकी भी प्रसन्नता होती है । प्रसन्न होने से वे सब देव और सब देवों का मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासक को तीन पदार्थों का

अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ " चक्षु, प्राण और प्रजा ' नाम से इस मन्त्र में कहे हैं।

' चक्षु ' शब्दसे इंद्रियों का बोध होता है। सब इद्रियों में चक्षु मुख्य होने से, मुख्य का ग्रहण करने से गौणों का स्वय बोध होता है। ' प्राण ' शब्द से आयु का बोध होता है। क्योंकि प्राण ही आयु है। ' प्रजा ' शब्द से ' अपनी औरस संतति ' ली जाती है। तात्पर्य ' चक्षु, प्राण और प्रजा ' शब्दों से क्रमशः (१) संपूर्ण इंद्रियों का स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संतति का बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और सब अन्य देव उक्त तीन वर देते हैं। ब्रह्मज्ञान का यह फल है।

(१) शरीर का उत्तम बल और आरोग्य, (२) अति दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त होती है। इन में मनकी शांति, बुद्धि की समता और आत्मिक बल की संपन्नता अन्तर्भूत है। मानसिक शांतिके अभावमें, बौद्धिक समता न होने पर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्था में, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होने की सभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके अतिरिक्त अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म की कृपा और देवों की प्रसन्नता होने से जो उत्तम फल मिल सकता है, वह यही है। आर्य राष्ट्र में प्राचीन काल के लोग अति दीर्घ आयुष्य से संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतान की उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि जिस चाहे उस प्रवृत्ति की संतति उत्पन्न करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में अथवा बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम विभाग मे प्रयोग स्पष्ट शब्दों में लिखे हैं। इतिहास पुराण ग्रंथों में इस विषय की बहुतसी साक्षियां हैं। पाठक वहां इस विषयको देख सकते हैं।

सन्तान उत्पत्ति की सभावना होने की आयु में ही ब्रह्मज्ञान होने योग्य शिक्षा प्रणाली राष्ट्र में होनी चाहिये। आठ वर्ष की आयु में उपनयन करके

उत्तम गुरु के पास योगादि अभ्यास का प्रारंभ करने से २०-२५ वर्ष की अवधि में ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है।

आज कल ब्रह्मज्ञान का विषय वृद्धों का ही है, ऐसा समझा जाता है। उन के मत का निराकरण इस मन्त्र के कथन से हो गया है। ब्रह्मज्ञान का विषय वास्तविक रीति से ' ब्रह्म-चारी ' योंका ही है। वन में गुरुकुलों में रहते हुए ये ' ब्रह्म-चारी ' ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय कर सकते हैं और ब्रह्म-चर्य आश्रम की समाप्ति तक ' ब्रह्म-पुरी ' का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयु में (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजा निर्माण की शक्ति, आदि की नींव डाल सकते हैं। इस रीति से सचे ब्रह्मचारी ब्रह्मपुरी में जाकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर, ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमों में शांति के साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्र के समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इस विषयके आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकों की प्रवृत्ति इस दिशा में हो गई, तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बनने द्वारा सब जगत् में सच्ची शांति स्थापन करने के महत्कार्य में अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

(३०)

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद।) जिस के कारण (आत्मा को) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्म की नगरी को जो जानता है, (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः।) उस को वृद्धावस्था के पूर्व चक्षु छोडता नहीं और प्राण भी नहीं छोडता।

मंत्र २९ में जो कथन है, उसी का स्पष्टीकरण इस मन्त्र में है। ब्रह्मपुरी का ज्ञान प्राप्त होने पर जो अपूर्व लाभ होता है, उस का वर्णन इस मंत्र में है- (१) अति वृद्ध अवस्था के पूर्व उस के चक्षु आदि इंद्रिय उस को छोडते नहीं, (२) और प्राण भी उस को उस वृद्ध अवस्था के पूर्व नहीं छोडता। प्राण जल्दी चला गया, तो अकाल में मृत्यु होती है और अल्प आयु में इंद्रिय नष्ट होने से अन्धापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। महाज्ञानी को ये कष्ट नहीं होते।

आठ	वर्षकी	आयुतक	कुमार	अवस्था,
सोलह	,,	,,	बाल्य	,,
सत्तर	,,	,,	तारुण्यकी	,,
सौ	,,	,,	वृद्ध	,,
एक सौ बीस ,,		,,	जीर्ण	,, पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानी का प्राण जरा अवस्था से पूर्व नहीं जाता। इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांति का उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छा से शरीर का त्याग करता है।

यह ब्रह्मविद्या ऐसी लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इस के अतिरिक्त जो आत्मिक शक्तियों के विकास का अनुभव होता है, वह अलग ही है। पाठक इस का विचार करें। अगले मंत्र में देवों की नगरी का स्वरूप बताया है, देखिये-

ब्रह्मकी नगरी (अयोध्या नगरी)

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते॥
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥

(३१)

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः।) जिस में आठ

तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इस के कारण इस में तीन गतियाँ उत्पन्न होती हैं। इस को देखने से इस की अद्भुत रचना का पता लग सकता है। इन तीनों गतियों को शांत कर के त्रिगुणों के परे जाने से उस "आत्मवान् यक्ष" का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्म की नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः) देवोंकी नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्मसे परिपूर्ण है, वैसी ही यह देवोंसे परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवताएं इस में रहती हैं और उन को आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इस में अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष "आत्मा" शब्दके पुल्लिंग होने पर न पुरुष है, "देवी" शब्द के स्त्रीलिंग होने पर न स्त्री है और "यक्ष" शब्द नपुंसकलिंग होने से नाही वह नपुंसक है। तीनों लिंगों से भिन्न वह शुद्ध तेजस्वी "केवल आत्मा" है। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरी में जाकर इस का दर्शन कैसे किया जाता है, यह भाव निम्न मन्त्र में कही है—

अपनी राजधानीमें ब्रह्म का प्रवेश

प्र भ्राजमानां हरिणीं यशसा सं परीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यश से परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरी में, ब्रह्म आविष्ट होता है।

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करने से तथा पूर्णतासे वशीभूत करने से सब दुःख दूर हो जाते हैं। इसको "पुरि" कहते हैं, क्योंकि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है, वही "पुरि" कहलाती है। पूर्ण होनाही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है, वही यशस्वी होता है। अपूर्णताके साथ यश का सम्बन्ध

नहीं होता, परन्तु सदा पूर्णता के साथ ही यश का संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है, वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। ' (१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय ' ये पांच गुण एक दूसरे के साथ मिले जुले रहते हैं। (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित, ये मन्त्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणों के सूचक हैं। पाठक इन शब्दोंको स्मरण रखें और उक्त पांच गुणों को अपनेमें स्थिर करने और बढाने का यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा, इस में कोई सन्देह ही नहीं है। धन्यता जिस से मिलती है, वही धन होता है और उक्त पांच गुणों के साथ धन्यता अवश्य ही रहेगी।

इस सूक्तका महत्त्व

' केन ' शब्द ही इस सूक्तमें महत्त्वपूर्ण है। ' किसने यह सब बनाया ? ' यही प्रश्न संपूर्ण तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।

व्यक्तिके प्रश्न

१. शरीर के अवयव, इंद्रिय तथा अंग किसने बनाये और किसने उन में विशेष शक्ति रखी है ?

२. शरीर में वाणी किसने रखी है ?

३. मस्तिष्क में सब प्रकार का ज्ञान कौनसा देव संगृहित करके रखता है ?

४. प्रिय अप्रिय, आलस्य उद्योग, आनन्द दुःख आदि इस मनुष्य को क्यों प्राप्त होते हैं ? समृद्धि और दरिद्रता, बुद्धि और दुर्बुद्धि, उन्नति और अवनति किस कारण मनुष्य को प्राप्त होती है।

५. इस शरीर में रुधिराभिसरण कौन करता है ? प्राण का संचालन कौन करता है ? ज्ञान और चारित्र्य यहां कैसे होते हैं ?

६. इसमें यश करने की प्रवृत्ति किस तरह उत्पन्न होती है ? सत्य असत्य, अमरपन और मृत्यु कैसे होते हैं ? श्रद्धा और बुद्धि किसने इसमें रखी है ?

७. संतति होने के लिये वीर्य किस ने इस शरीर में उत्पन्न किया है ?

विश्वके विषय में प्रश्न

१ मेघों में जल किसने रखा है ?

२ भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक यथास्थान किसने रखे हैं ? पर्वत किसने बनाये हैं ?

३ मेघों से वृष्टि कौन कराता है ? सोम आदि औषधिया किस देवने उत्पन्न की हैं ?

४ दिन रात्र, प्रकाश अन्धेरा, सवेरा और सायकाल किसने बनाया है ?

५ सवत्सर का मापन कौन करता है ?

मानव-समाज-विषयक प्रश्न

१ सद्गुरु की प्राप्ति कैसी होती है ? ज्ञान कौन देता है ?

२ दिव्य जनो की सस्थिति कैसी होती है ?

३ ब्राह्मण और क्षत्रिय कौन उत्पन्न करता है ?

ऐसे अनेकविध प्रश्न इस सूक्त के प्रारम्भ में पूछे हैं। ये प्रश्न ही तत्त्व-जिज्ञासा को जाग्रत करनेवाले हैं। येही प्रश्न तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करनेवाले हैं। सब प्रकार के सत्यज्ञान की उत्पत्ति इन प्रश्नों से होती है।

सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया है और वह है ' ब्रह्म ' अर्थात् अकेला ब्रह्म ही यह सब करता है। ब्रह्मसे भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक बने, ब्रह्मसे ही सब प्राणी बने, ब्रह्म से मानव बने, मानव में कर्तृत्वशक्ति, बुद्धि शक्ति, यज्ञ की इच्छा, अमरपन प्राप्ति की इच्छा यह सब ब्रह्म से ही होता है। ब्रह्म से वेद, ब्रह्म से ज्ञान, ज्ञान से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से उन्नति होती है। ब्रह्म से वेद, वेद से वेदज्ञ श्रोत्रिय, श्रोत्रिय से यज्ञ और यज्ञ से उन्नति होती है। अर्थात् यह सब ब्रह्म से ही हो रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान में जो हो रहा है, वह सब ब्रह्म से ही हो रहा है।

सहस्रों प्रश्नों का एक ही उत्तर है और वह ' ब्रह्म ' ही है। ' सर्वं खल्

इदं ब्रह्म ' यह सब ब्रह्म ही है। यहां ब्रह्म के बिना दूसरा कोई पदार्थ नहीं है।

कई समझते हैं, वैसा ' जीव ' भी पृथक् अथवा स्वतन्त्र नहीं है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म से ही सब देव बने हैं, इसीलिये देवों को ' ब्राह्म ' कहा है। देवों को ब्राह्म कहकर देवों की ब्रह्मरूपता को मंत्र २९ में स्पष्ट कर दिया है। 'ब्रह्म' है और उस से बने सब देव ' ब्राह्माः ' हैं, ब्रह्म के ही ये रूप हैं।

अतः संपूर्ण विश्व ही ' ब्राह्म ' है क्योंकि संपूर्ण विश्व ब्रह्म का ही आविर्भाव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, विद्युत्, औषधियां, मेघ, सूर्य, द्युलोक आदि सब देवताओं का समूह ही विश्व है। यह विश्व ही ब्राह्म है। अतः ब्रह्म को छोडकर यहां कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म है और सब विश्व उसी का आविर्भाव है। इस लिये संपूर्ण प्रश्नों का उत्तर एक ' ब्रह्म ' शब्द से दिया जाता है। इसी उत्तर से ' एक तत्त्व ' का दर्शन होता है।

जो आप देखते हैं, जो आप चखते हैं, जो खाते हैं, जो सुनते हैं, जिस का आप को अनुभव आता है, जो भूतकाल में हो चुका था, जो इस समय है, जो भविष्य में होगा, जिस के साथ आप का व्यवहार हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है। ऊपर नीचे, दायीं ओर और बाईं ओर, अन्दर और बाहर, आगे पीछे, तिरछा सब कुछ ब्रह्म ही है, पुरुष ही है, आत्मा ही है, ईश्वर ही है। सब एक ही सत् है। (मं. २८)

यह सब ईश्वर है, यह सब सत् है, यही सब ब्रह्म है। यहां दो वस्तु नहीं हैं। सब एक ही एक तत्त्व है। ' जो सब भूत आत्मा ही है ऐसा जानता है, उस एकत्व का दर्शन करनेवाले को शोक मोह नहीं होते। ' (ईश. ७) शोक मोह दूर करनेवाला यह ज्ञान वेदने दिया है। जो इस का ग्रहण करेंगे, उन्हीं के शोक-मोह दूर होंगे।

(१४)

अव्यक्त ब्रह्मका व्यक्त होना

वैदिक तत्त्वज्ञान का मुख्य सिद्धान्त ' सदैक्य सिद्धान्त ' है। यदि सचमुच एक ही ' सत् ' है और मूलमें अनेक ' सत् ' नहीं है, तब तो यही मानना पडेगा कि, उस एक ही ' सत् ' के नाना रूप बने और उनसे यह संसार हुआ है। जो एक ' सत् ' है, उसीका ' ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा ' आदि नामों से वर्णन होता है। इसलिये मूल में जो एक तत्व था, जिसको ' सत् या ब्रह्म ' कहा जाता है, वही प्रकट होकर यह सब संसार, सृष्टि, अथवा यह विश्व बना है। इसी को हमने 'अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त होना ' ऐसा इस लेख के शीर्ष भाग में लिखा है।

आदिमें जो एक वस्तु थी, उसको ' सत् ' इसलिये कहते हैं कि, ' यह है ' इतना ही बोला जाता है, उसका अधिक वर्णन करना असंभव है। वह ' सत् ' था अर्थात् वह केवल अस्तित्व से अथवा ' है-पन ' से ही वर्णित होता है, उसका अधिक वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता। उसका नाम 'ब्रह्म' इसलिये रखा गया कि, इस पदसे उसका ' बडा-पन ' व्यक्त हो। वह ' है ' और वह ' बडा भी है '। अर्थात् जो एक ही वस्तु थी, वह ' बडी थी, ' इसलिये ' ब्रह्म ' कहलायी गयी।

वह ब्रह्म प्रारंभ में प्रकट नहीं था, अर्थात् वह अप्रकट था। पश्चात् वह नाना वस्तुओं के रूपों में प्रकट हुआ। जैसे सुवर्णसे नाना अलंकार बनते हैं जैसे अकारसे सब अक्षर, पद और वाक्य बनते हैं, वैसा ही वह एक अमूर्त ब्रह्म मूर्त रूपमें प्रकट हुआ। इसीको ब्रह्मका प्रकटीकरण कहते हैं। यही एक विषय सदैक्य सिद्धान्तमें मुख्य विषय है। इसके समझनेसे सदैक्यका सिद्धांत समझना सरल हो सकता है। इसलिये आज इस लेखमें हम अथर्ववेदके एक सूक्तका विचार करते हैं। इस सूक्त में ब्रह्म किस तरह प्रकट हुआ, वह सब स्पष्टरूप से लिखा है। पाठक भी इस सूक्तका स्वाध्यायसे मननपूर्वक विचा

करें, इस सूक्तका प्रथम मन्त्र यह है–

अव्यक्तका व्यक्त होना

(अथर्ववेद ४।१। सूक्त मन्त्र १—७)

(ऋषिः-वेनः। देवता-बृहस्पतिः, आदित्यः। छन्दः = त्रिष्टुप्;
२,५ पुरोऽनुष्टुप्)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्
वि सीम-तः सु-रुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उप-मा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिं असतश्च विवः ॥ १ ॥

(साम. ३२१; वा. सं. १३।३; काण्व १४।३; तै. सं. ४।२।८।४; तै. ब्रा. २।८।८।८; तै. आ. १०।१।४२; मै. सं. २।७।१९७; काठ. १६।१५; कपि. २५।५; शां. श्रौ. ५।९।५; आ. श्रौ. ४।६।३)

सूक्तमें (ब्रह्म) परब्रह्म एकही था, वही (पुरस्तात् प्रथमं) आदिकालमें सब से प्रथम (जज्ञानं) प्रकट हुआ, प्रादुर्भूत हुआ। मूर्त रूप में व्यक्त हुआ। यही पहिला प्रकटीकरण अथवा पहिला आविर्भाव (वेन.) बडाही चित्ताकर्षक था, बडाही आल्हाददायक था, इसकी (सीम-तः सु-रुचः वि आवः) किनारियोंसे उत्तम तेजके किरण बाहरकी ओर फैल रहे थे ॥ (स.) वही प्रकट हुआ देव (अस्य) अपने ही (बुध्न्याः उप-माः) आन्तरिक और परस्पर सदृश से दीखनेवाले किरणों को (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रखता रहा, जहां जिस तरह रखना चाहिये वैसे ही रखता रहा ॥ उसीने (सतः असतः च योनिं) सत् और असत् के पूर्वस्थानमें उस मूल कारणको पूर्वोक्त रीतिसे (विवः) प्रकट किया। सबसे प्रथम व्यक्त किया॥

यह मंत्र अनेक संहिताओंमें है, अतः विशेष महत्व रखता है। इस मंत्र में ब्रह्मके प्रकटीकरण के विषय में जो कहा है, उसे अब देखिये।

१ प्रथमं पुरस्तात् ब्रह्म = पहिले प्रारंभ में एक ही ब्रह्म था। ब्रह्मके

सिवाय और कुछ भी नहीं था। केवल अकेला एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। ' प्रथमं ' पदसे इस सृष्टि के पहिले, सब से प्रथम, प्रारंभ में ऐसा अर्थ व्यक्त होता है और ' पुरस्तात् ' पदका अर्थ आदि कालमें, सृष्टिके आरंभमें ऐसा है। दोनों पदोंका भाव यही है कि, यह सृष्टि बनने के पूर्व केवल एक मात्र ब्रह्म था और उस ब्रह्मको छोडकर और कोई वस्तु, तत्सम अथवा तद्-विरुद्ध गुणवाली नहीं थी। एक मात्र ब्रह्म था।

२ ब्रह्म जज्ञान = यह ब्रह्म प्रकट हुआ। अर्थात् जो अप्रकट, अव्यक्त, अमूर्त, अदृश्य, अनिर्देश्य था, वही अब प्रकट, व्यक्त, मूर्त, दृश्य, निर्देश्य हुआ। यह भूतकालका वाक्य है, अर्थात् अतिप्राचीन समयमें अमूर्त ब्रह्मका मूर्तरूप प्रकट हुआ।

प्रथम प्रकटित वेन = महासूर्य

३ वेनः = वेन का अर्थ ' प्रिय' प्यारा, आकर्षक, जाननेयोग्य, सेवा करनेयोग्य, प्रेरक ' है। इस तरहका वह पहिला ब्रह्म का आविर्भाव प्रकट हुआ था, सबकी आंखें उसकी ओर लगनेयोग्य वह चित्ताकर्षक था। देखते ही जिस पर सबका मन लग जाय ऐसा वह था।

४ सीमतः सुरुचः वि आवः = उसकी किनारियोंसे उत्तम प्रकाशके किरण बाहरकी ओर फैल रहे थे। उस वेनका जो गोल आकार था, उसकी चारों ओर की किनारियोंसे अत्यंत तेजस्वी किरण आकाशमें चारों ओर फैल रहे थे। इसी तेज के किरणों के कारण वह वेन इतना आकर्षक प्रतीत होता था।

ब्रह्मका यह पहिला प्रकटीकरण यही महा-सूर्य है। हमारा सूर्य जिस बडे सूर्य के चारों ओर घूमता है वह बडा सूर्य ' वेन ' पद से वेद में वर्णित है। इस लेखमें पाठक इस बडे सूर्य को ही वेन, हिरण्यगर्भ और सूर्य समझें। इसके वर्णनसे यहां पता लगता है कि, यह ' वेन ' निःसंदेह यह महा सूर्य ही है। अव्यक्त ब्रह्म से पहिला आविर्भाव सूर्य ही हुआ। इसी को वेद और उपनिषदोंमें अन्यत्र ' हिरण्यगर्भ ' कहा है। सुवर्णके समान जो अन्तर्बाह्य

तेजस्वी है । सूर्य कितना सब को प्रिय है, सबके प्राण ही मानो सूर्यको ही चाहते हैं । सूर्य न होगा तो कुछ भी यहां नहीं रहेगा । सूर्य उदय होते ही सबका मन अपनी ओर आकर्षण कर लेता है । अस्तु । इस तरह ब्रह्म का पहिला प्रकटीकरण सूर्य ही है ।

५ सः अस्य बुध्न्या उपमाः विष्ठाः = वह अपने आन्तरिक और सदा समीप रहनेवाले किरणोंको विशेषरूप से स्थानस्थान में स्थापित करता है। 'सः वि-स्थाः' वह विशेष रीतिसे और विविध स्थानों पर अपने किरणोंको स्थापित करता है । यहां मन्त्रमें किरणपद नहीं है । यहां 'बुध्न्याः' पद है, (तैत्तिरीय पाठ 'बुध्नियाः' है ।) इस पदका अर्थ 'मूलसे उत्पन्न हुआ पदार्थ' इतना ही है। मूल ब्रह्म है, उससे वेन उत्पन्न हुआ वही 'बुध्न्य' है । मूलसे जो उत्पन्न होता है वह बुध्न्य है । वेनका अर्थात् सूर्य का अंश ही बुध्न्य है ।

(सः अस्य बुध्न्या, विष्ठाः) वह अपने मूलभूत अंशों को विविध स्थान में रख देता है । अर्थात् मूल ब्रह्मसे सूर्य उत्पन्न हुआ और यह सूर्य ही अपने अंशों को नाना स्थानों में रख देता है । सूर्य के ही अंश ये नाना ग्रह और उपग्रह हैं । ये सूर्य के ही (बुध्न्य) मूलसे उत्पन्न हुए हैं।

(अस्य उप-माः) ये जो ग्रह उपग्रह हैं वे सूर्य के ही उपमा पानेयोग्य है, क्योंकि ये प्रारंभमें सूर्यके अंश होनेके कारण सूर्यके ही सदृश थे । सूर्यमें और इन में तत्त्वतः कोई भेद नहीं था ।

इस वर्णनका फल यह निकला कि (१) प्रारंभमें एक ही अद्वितीय ब्रह्म था, (२) उससे सूर्य उत्पन्न हुआ, और (३) सूर्यसे तत्त्वतः समान और उसीके अंश जो चारों ओर जा रहे थे, वे ही ये ग्रह तथा उपग्रह हैं ।

द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति

६ सः सतः च असतः च योनिं विवः = वह सत् और असत्के मूल कारणको प्रकट करता है अर्थात् उसी से दोनों प्रकार की सृष्टि उत्पन्न

होती है। ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे पृथ्वी, और पृथ्वीसे स्थावर जंगम सृष्टि उत्पन्न हुई यही इसका भाव है।

सत् और असत् क्या हैं ? इस सृष्टी के अन्दर जीव-भाव सत् है और शरीर-भाव असत् अथवा क्षर है। सत्-असत्, अक्षर-क्षर, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र, देही देह, ये दो पदार्थ इस सृष्टि में दीखते हैं। देह नाशवान् है अतः 'अ-सत्' है और देही शाश्वत है इसलिये 'सत्' है। इनका मूल कारण सूर्यसे ही उत्पन्न हुआ है। ये दोनों भाव सूर्यमें ही थे वे (वि-ः) विशेष ढंगसे प्रकट हुए हैं। इसका भावदर्शक चित्र यह है-

इस तरह ब्रह्म से सृष्टी की उत्पत्ति हुई है। पुरुषसूक्त में प्रायः ऐसा ही क्रम बताया है, जिसका वर्णन पूर्व लेखोंमें (देखो नारायण उपासना पृ.१२७ से १७०) किया ही है। पाठक वे लेख यहां अवश्य देखें और पुरुषसूक्त में कही सृष्टीकी उत्पत्ति और इस सूक्त में कही सृष्टी की उत्पत्ति की तुलना
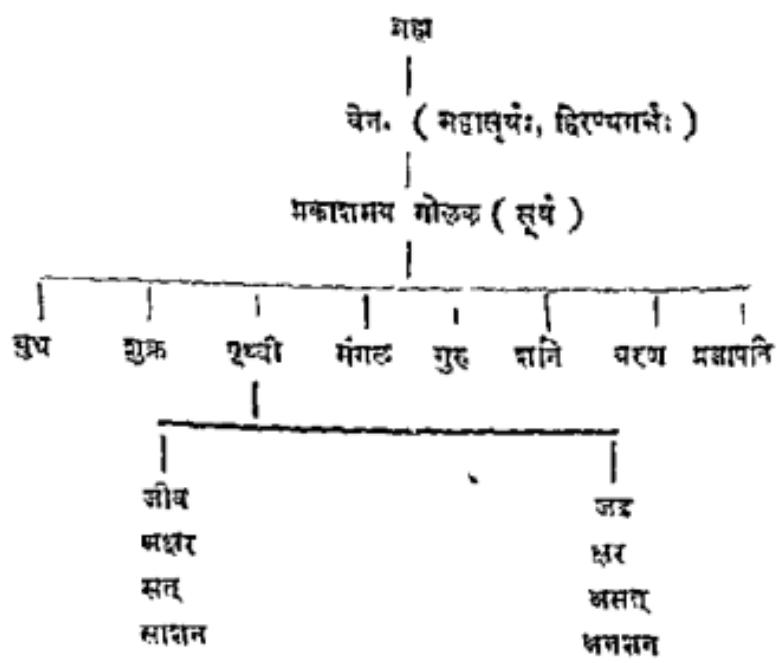
इन प्राणियोंमें भी कई प्राणी ऐसे हैं कि, जो उत्पत्तिके पश्चात् अपनी माताके विनाही अपना गुजारा करते हैं और कई ऐसे हैं कि, जो माताका दूध पीते हैं। जो कोई माताकी सहायताके विना जीवित रह सकते हैं उनके विषयमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु जो अपनी माताके दूधसे ही जीवित रहते हैं, उनके विषयमें कुछ कह देना आवश्यक है, इस-लिये इसी मन्त्रके अगले भागमें इस विषयमें कहा है-

१० तस्मै प्रथमाय धास्यवे = उस पहिले दूध पीनेवाले बालकके लिये यह पैत्रिक शक्ति कार्य करती है। यहां 'धास्यु' पद है, जो अन्न खानेवाले प्राणीका बोध करता है। 'धास्यु' वह है कि जो धाईकी अपेक्षा करता है। दूध पीनेकी इच्छा करनेवाला बालक 'धास्यु' है। इस दूध पीनेवाले बालक के लिये वह शक्ति दूधका प्रबंध करती है। प्राणी उत्पन्न होनेके पहिले उसके लिये अन्न तैयार करके रख देती है। ऐसी यह पैत्रिक शक्ति है।

११. अस्मै सुरुचं ह्वारं अह्रुतं घर्मं श्रीणन्ति (श्रीणन्तु) = इस दूध पीनेवाले बालकके क्षुधाके शमनार्थ उत्तम रुचिकर गर्म गर्म दूध माता के स्तनोंमें परिपक्व करके रखते है। (सु-रुचं) उत्तम तेजस्वी, उत्तम तेज बढानेवाला, उत्तम स्वच्छ अर्थात् रुचिकर दूध ही है। (ह्वार) जो गुप्त मार्गसे चूता है, टेढे मार्गसे जो प्राप्त होता है, (अह्रुतं) जो चलनवलनकी शक्ति देता है, जो जीवनकी शक्ति देता है, जो जीवन ही देता है, (घर्मं) जो गर्म रहता है ऐसा माताके स्तनोंमें दूध ही है। इस अन्नको ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले सब सूर्य चन्द्र वनस्पति आदि देव परिपक्व करके तैयार रखते हैं। बालक जन्मते ही उसको यह तैयार मिले ऐसी योजना यहां है।

पूर्वक चित्रसे आगे उत्पत्तिका चित्र यह है-

सूर्यसे जड पृथ्वी हुई और पृथ्वीसे औषधियां हुई, यह सब ठीक है, परन्तु चेतन जीव उसीसे उत्पन्न हुआ ऐसा किस तरह माना जा सकता है ? प्रायः सभी पाठकोंके मनमें यह शंका उत्पन्न होती है। इस द्वितीय मन्त्रमें इस शंकाका उत्तर दिया है।

पैत्रिक शक्तिसे अग्रगति

७. इयं पित्र्या राष्ट्री = यह पैत्रिक तेजोमय शक्ति है। जो ब्रह्मसे सूर्यमें, सूर्यसे ग्रह-उपग्रहोंमें आगयी है और कार्य कर रही है। यह (अग्रे एतु, अग्रे एति) यह शक्ति आगे बढती है अर्थात् इसी पैत्रिक शक्तिसे उत्क्रान्ति होती रहती है, पृथ्वीसे औषधि, औषधियोंसे कृमीकीट, पशुपक्षी और मानव इस तरह इसी पैत्रिक शक्तिकी 'अग्रे-गति' होती है। यह प्रेरणाशील है, अतः आगे बढनेकी प्रेरणा हरएकको करती रहती है।

८. इयं पित्र्या भुवने-ष्ठाः = यह पैत्रिक शक्ति ही सब भुवनोंमें भरपूर भरी है, अतः सभी भुवनोंमें आगे बढनेकी गति दिखाई देती है। कोई भुवन ऐसा नहीं है कि, जो इससे रिक्त हो। इसीलिये सर्वत्र उत्क्रान्ति हो रही है ऐसा दिखाई देता है।

९ (इयं) प्रथमाय जनुषे (अग्रे एति) = यही पैत्रिक ब्रह्म-शक्ति प्रथम जन्म लेनेवाले प्राणीकी उत्पत्ति करनेके लिये आगे बढती है। प्रेरणा करके स्थावरके पश्चात् जंगमकी उत्पत्ति करती है। पहिला स्पन्दन इसीसे होता है। वनस्पतिसे जीव-सृष्टी कैसी हुई यही मुख्य प्रश्न है। वनस्पति सृष्टिसे प्राणि-सृष्टिका जो (प्रथमाय जनुषे) पहिला जन्म है, वह भी इसी पैत्रिक शक्तिसे ही हुआ है। जो शक्ति स्थावर-रूप धारणकर रही थी, वही (अग्रे एति) आगे उत्क्रान्त होती हुई प्राणियोंके रूप धारण करती है। सब भुवनोंमें रहकर यही शक्ति आगे आगेके रूप एकके पीछे एक धारण करती रहती है। इस तरह पृथ्वीपर न खानेवाली और खानेवाली सृष्टि उत्पन्न होती है।

इन प्राणियोंमें भी कई प्राणी ऐसे हैं कि, जो उत्पत्तिके पश्चात् अपनी माताके विनाही अपना गुजारा करते हैं और कई ऐसे हैं कि, जो माताका दूध पीते हैं। जो कोई माताकी सहायताके विना जीवित रह सकते हैं उनके विषयमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु जो अपनी माताके दूधसे ही जीवित रहते हैं, उनके विषयमें कुछ कह देना आवश्यक है, इस-लिये इसी मन्त्रके अगले भागमें इस विषयमें कहा है-

१० तस्मै प्रथमाय धास्यवे = उस पहिले दूध पीनेवाले बालकके लिये वह पैत्रिक शक्ति कार्य करती है। यहां 'धास्यु' पद है, जो अन्न खानेवाले प्राणीका बोध करता है। 'धास्यु' वह है कि जो धाईकी अपेक्षा करता है। दूध पीनेकी इच्छा करनेवाला बालक 'धास्यु' है। इस दूध पीनेवाले बालकके लिये वह शक्ति दूधका प्रबंध करती है। प्राणी उत्पन्न होनेके पहिले उसके लिये अन्न तैयार करके रख देती है। ऐसी यह पैत्रिक शक्ति है।

११ अस्मै सुरुचं ह्वारं अह्वं घर्मं श्रीणन्ति (श्रीणन्तु) = इस दूध पीनेवाले बालकके क्षुधाके शमनार्थ उत्तम रुचिकर गर्म गर्म दूध माता के स्तनोंमें परिपक्व करके रखते हैं। (सु-रुच) उत्तम तेजस्वी, उत्तम तेज बढानेवाला, उत्तम स्वच्छ अर्थात् रुचिकर दूध ही है। (ह्वार) जो गुप्त मार्गसे चूता है, टेढे मार्गसे जो प्राप्त होता है, (अह्वं) जो चलनवलनकी शक्ति देता है, जो जीवनकी शक्ति देता है, जो जीवन ही देता है, (घर्म) जो गर्म रहता है ऐसा माताके स्तनोंमें दूध ही है। इस अव्यक्त ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले सब सूर्य चन्द्र वनस्पति आदि देव परिपक्व करके तैयार रखते हैं। बालक जन्मते ही उसको यह तैयार मिले ऐसी योजना यहां है।

पूर्वके चित्रसे आगे उत्पत्तिका चित्र यह है-

पृथ्वी

(अधास्युः) — स्थावर, अचवान

ओषधी वनस्पति-अन्न-वीर्य — (भास्युः) — प्राणी, मनुष्य — जंगम, सात्र — (अन्न) दूध (घर्मः)

इस तरह सूर्यसे सबकी उत्पत्ति हुई है। जो विचारपूर्वक सबको जानने-योग्य है। एक ही ब्रह्मसे सूर्य उत्पन्न होता है और उस एकही सूर्यसे सब सृष्टि उत्पन्न होती है, और इस सृष्टीमें जड चेतन जैसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थ दिखाई देते हैं। दीखनेमें ये परस्पर-विरुद्ध दीखते रहें, पर तत्त्व-दृष्टिसे ये मूलमें एक ही हैं।

अब इसके आगे मानवोंकी उत्क्रान्ति कैसी हुई इस विषयमें तीसरा मंत्र देखिये—

ज्ञानीके ज्ञानका विस्तार

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुः विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यात् नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥ (अथर्व० ४।१।३)

...अस्य बन्धुं विश्वानि देवो जनिमा विवक्ति।
..नीचादुच्चा स्वधयाभि प्रतस्थौ ॥ (तै. २।३।१४।२३)

(यः प्र × जज्ञे) जो विशेष रीतिसे यह सब पूर्वोक्त ज्ञान जानता है, वह (विद्वान्) ज्ञानी (अस्य बन्धुः) इसका सच्चा भाई है, सच्चा प्यारा होता है। वही ज्ञानी (देवानां विश्वा जनिमा) सब देवोंके सब जन्मों

× प्र जज्ञेः = प्रजानीते। जानातेर्लिट् (सायनः)

का (विवाक्ति) विवरण करता है, वर्णन करता है। वही ज्ञानी (ब्रह्मणः मध्यात्) ब्रह्म के बीचमें से (ब्रह्म उज्जभार) ज्ञानको, मन्त्रोंको, उद्धृत करता है, ज्ञानको बाहर लाकर प्रकट करता है। उसीसे (स्व-धाः) अपनी धारणाशक्ति (नीचैः उच्चैः) निम्न तथा ऊपरके स्थानोंमें (अभि प्र तस्थौ) चारों ओर प्रकट होती रहती है।

इस मन्त्रमें ज्ञानीका महत्त्व कहकर उसके प्रयत्न से मानवों के समाजकी धारणा के लिये यज्ञ का प्रवर्तन होनेका वर्णन है, उसे अब देखिये—

१२. यः प्रजज्ञौ, (सः) विद्वान् अस्य (वेनस्य) बन्धुः= जो इस पूर्व मन्त्रों में कहे ज्ञानको यथावत् जानता है, वह ज्ञानी कहलाता है, और वह पूर्वोक्त (वेन, सूर्य या हिरण्यगर्भ का, अर्थात् ब्रह्म के) प्रथम आविष्कार का प्रिय भाईसा बनता है। पूर्वोक्त ज्ञान यथावत् अपनाने से वह ज्ञानी उस ब्रह्म की प्रीति का स्थान होता है। भाई भाई का अधिकार समान होता है, अर्थात् वेन (सूर्य अथवा हिरण्यगर्भ) का जो अधिकार है, वही इस ज्ञानी को प्राप्त होता है। वेन का सब ज्ञान इसको प्राप्त होता है। यह ज्ञानी मानो प्रति सूर्य ही बनता है। पूर्वोक्त दो मन्त्रों में कहा ज्ञान इतने महत्त्व का है, मनुष्य की योग्यता उससे ब्रह्म के समान होती है, वेन सूर्य या हिरण्यगर्भ के समान होती है। भाई भाई जैसे एक स्थान में एक अधिकारसे बैठते हैं, वैसे ही ये ज्ञानी हिरण्यगर्भ के साथ अपना अधिकार होनेका अनुभव करते हैं। इससे क्या बनता है वह अब देखिये-

१३. (सः विद्वान् बन्धु) देवानां विश्वा जनिमा विवक्ति= वह ज्ञानी हिरण्यगर्भ का भाई सब देवोंके संपूर्ण जन्मोंका विवरण करता है। इस ज्ञानी का इतना ज्ञान बढता है। अग्नि, वायु, आप, पृथ्वी आदि सभी देवों की उत्पत्ति कैसी होती है, उनका कार्य कैसा चलता है, उनका और मानवों का सम्बन्ध क्या है और वह कैसा सुधरता रहता है, इत्यादि सभी विद्याओंका वह यथायोग्य प्रवचन करता है। यही ज्ञानी दैवतविद्या

का प्रचार करता है, अग्निविद्या, वायुविद्या, जलविद्या, औषधिविद्या, विद्युद्विद्या आदिका प्रसार करता है। इन विद्याओंका वह ज्ञाता होता है। इन विद्याओं में वह परिपूर्ण होता है। इस पूर्णता से ही वह हिरण्यगर्भ के भाईपन के समान के योग्य समझा जाता है।

१४. (सः विद्वान्) ब्रह्मणः मध्यात् ब्रह्म उज्जभार = वह विद्वान् अर्थात् जो हिरण्यगर्भ के भाई की योग्यता को प्राप्त करता है, जो ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है वही ब्रह्म के बीचमें से ब्रह्म को-मन्त्रोंको-ज्ञानको ऊपर उद्धृत करता है। ब्रह्मसे वेदमन्त्रोंको प्राप्त करता है। ब्रह्मका स्वरूप ज्ञानमय है, अतः उससे शुद्ध सत्य ज्ञान वह प्राप्त करता है। नये नये ज्ञानों का वह आविष्कार करता है। छिपे ज्ञान को वह स्वयं जानकर प्रकट करता है।

यहां तक मनुष्यकी उन्नति किस तरह हुई इसका विवरण हुआ। मनुष्यने सृष्टिविद्याका ज्ञान प्राप्त किया, उसको वह ज्ञान यथावत् मिला, तब वह हिरण्यगर्भ के समान योग्यतावाला बना। वह हिरण्यगर्भ के लोकमें बराबरी के, (अस्य बन्धुः) भाईपन के नातेसे, विचरने लगा। वह ब्रह्मभावको प्राप्त समाधिस्थितिका अनुभव करनेवाला हुआ, तब वह स्वयं ब्रह्मसे ही स्वयंसिद्ध मन्त्रोंको प्राप्त करनेका अधिकारी हुआ। सत्य शुद्ध त्रिकालाबाधित ज्ञानको हस्तगत करने और बर्तनेका वह अधिकारी हुआ। मनुष्यकी यह बड़ी ऊंची अवस्था है। जब वह अवस्था प्राप्त होती है तब वह ज्ञानी स्वधावान् होता है-

१५ (सः विद्वान्) स्व-धाः नीचैः उच्चैः अभि प्र तस्थौ = वह विद्वान् वेदवित् स्वधाको नीचे से और ऊपर से अर्थात् सब ओरसे प्राप्त करता है। स्वधाके पास पहुंच जाता है।

' स्व-धा ' का अर्थ ' अपनी धारणाशक्ति, अपनी शक्ति, अपनी निज इच्छा, ' है। ज्ञानकी पूर्णता होनेसे अपनी धारणाशक्ति स्वयं प्राप्त होती है। ज्ञान से ही अपनी शक्ति बढ़ाने के उपाय ज्ञात होते हैं और उनका उपयोग करके व्यक्ति और समाजकी धारणा-शक्ति बढ़ायी जाती है। जिस

से स्थिरचर अपने स्थानपर स्थिर हैं वह 'स्वधा' शक्ति है। व्यक्ति और समाजमें जितनी स्वधा-शक्ति अधिक होगी, उतनी उसकी धारणा अधिक होगी। जिसकी स्वधा शक्ति समाप्त हुई हो, वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिये सत्य ज्ञान से अपनी स्वधा शक्तिकी वृद्धि करना हरएक व्यक्ति के लिये और हरएक समाज के लिये योग्य है।

पितरोंको जो अन्न या उपभोग दिया जाता है उसको 'स्वधा' कहते हैं। अथवा स्वत्व अर्पण करनेको भी स्वधा कहते हैं। पितर संरक्षक होते हैं, वे सबको सुरक्षित रखते हैं। अपनी सुरक्षा करनेवालोंको जो दिया जाता है, वह स्वधा है। अर्थात् स्वधा से सुरक्षा होती है और जिस समाज में उत्तम सुरक्षा है वही समाज अधिक देरतक रह सकता है। इस से स्वधा शक्तिकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है।

इस मन्त्रने जो उन्नतिका मार्ग बताया, उस का चित्र इस तरह बन सकता है। पूर्व चित्र के अनुसंधान से ही यह चित्र पाठक देखें

मनुष्य
|
विद्वान्
|
(अस्य बन्धुः)
पूर्णज्ञानी (हिरण्यगर्भका बन्धु)
(देवाना जनिमा विवक्ति)
दैवी शक्तियोंका यथावत् ज्ञाता
|
(ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार)
ब्रह्मसे ज्ञानमय मन्त्रोंको प्राप्त करनेवाला
|
(स्वधावान्)
अपनी धारणा शक्तिसे परिपूर्ण

यहां मनुष्यकी परिपूर्ण उन्नति हुई है। यही ब्रह्मरूप अवस्था है। यही मुक्त अवस्था है। पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण (स्वधावान्) सामर्थ्यवान् होनेकी यह स्थिति है। यहां उन्नतिकी पूर्णता है। यही 'अतिमानव' स्थिति है। यह स्थिति प्राप्त करने के लिये ही मनुष्यका जन्म हुआ है। यहां वर्तुलकी गति पूर्ण हुई है, पहिला किरण जहांसे चला था, वहीं आकर वह अब मिला है देखिये—
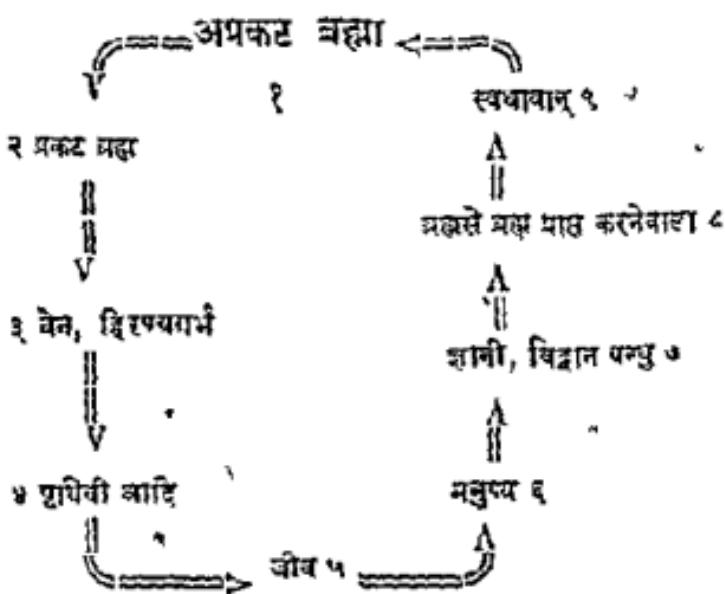
इस तरह ब्रह्मसे चला अंश पुनः आकर अपनी निज शक्तिका अनुभव करता हुआ, स्वयं ब्रह्म होनेका प्रत्यक्ष अनुभव लेकर अपने स्वरूपमें मिल गया। जैसा प्रथम था वैसा ही हुआ है। यजुर्वेद में यही बात अन्य शब्दों से कही है–

तद् आसीत्। तत् अपश्यत्। तत् अभवत्।

(वा. य. अ. ३२।१२)

प्रथमतः वह तद्रूप था, वह उसने तद्रूपका दर्शन किया और उसका

दर्शन होते ही वह तद्रूप हुआ। ब्रह्मरूप था वही ब्रह्मरूप बन गया। यही बात इन तीन मंत्रों ने कही है। मानो यजुर्वेद के इन तीन वाक्योंका साक्षीकरण ही अथर्ववेद के इन तीन मन्त्रों ने किया है।

यहां का जो 'स्व-धा' पद है वह केवल पितृयज्ञ का ही वाचक नहीं है। यह पद संपूर्ण यज्ञविधिका बोधक है। ज्ञान से जो यज्ञ का मार्ग प्रचलित हुआ, जिसमें 'अर्पण' के द्वारा यज्ञकी सिद्धि करनेसे व्यक्ति की और समाजकी धारणा शक्ति बढ़ती है, उसका बोध इस शब्द द्वारा यहां लेना उचित है। आगे के कर्मकाण्ड में स्वधा पद पितृयज्ञ का दर्शक है, इसलिये यहां यह स्पष्टीकरण करना पड़ा है। मनुष्यको सत्यज्ञान मिला, ज्ञानसे उसने कर्म किये, कर्म से मानवों की संघटना हुई, यही निजधारणाशक्ति है। यही भाव यहां का स्वधा पद बता रहा है। यही सुरक्षित करने की बात आगे अधिक स्पष्ट करते हैं-

यज्ञसे सबकी स्थिति

स हि दिवः स पृथिव्या ऋत-स्था
मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो
द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥

(अथर्व. ४।१।४; तै. सं. २।३।१४।२४ (उ.); आ. श्रौ. ४।६।३)

(सः हि दिवः) वह वेन, सूर्य या हिरण्यगर्भ ही द्युलोक की, तथा (सः पृथिव्याः) वही भूलोककी (ऋत-स्थाः) सत्य यज्ञ नियमों के द्वारा स्थिरता करनेवाला है। उसीने (क्षेमं) सबको सुख देने के लिये (मही रोदसी) इन बड़े दोनों लोकों को (अस्कभायत्) स्वकीय स्थानों में स्थिर और सुरक्षित किया है। (जातः महान्) वह स्वयं उत्पन्न होते ही स्वयं बड़ा बनता है और (मही वि अस्कभायत्) इन दोनों बड़े लोकों को विशेष रीतिसे स्थिर करता है, यथा स्थान में स्थिर रखता है। और (द्यां) द्युलोकको, (रजः) अन्तरिक्ष लोकको और (पार्थिवं सद्म च) इस पृथिवी-

रूपी घरको भी यथायोग्य रीतिसे सुरक्षित रखता है।

इस मन्त्र में ऋत से अर्थात् यज्ञ से सबकी सुरक्षा होने का भाव बताया है, उसका स्पष्टीकरण अब देखिये—

१६, सः हि ऋतस्याः, दिवः पृथिव्या,. मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्, मही अस्कभायत् = वह सत्य यज्ञ नियमों में स्वयं रहता हुआ द्युलोक और भूलोकको सुस्थिर करता है, निःसंदेह इन दोनों को स्थिर करता है।

१७. सः जातः महान् (भूत्वा) द्यां, रजः, पार्थिवं सद्म च वि अस्कभायत् = वह उत्पन्न होते ही बड़ा बनता है, और द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और अपने पृथ्वीपर क घरको भी सुस्थिर करता है।

सूर्यका आदर्श मनुष्य के सामने रखा गया है। जैसा सूर्य उदय को प्राप्त होते ही प्रतिक्षण बढता, अधिकाधिक तेजस्वी होता और इस प्रकारसे बड़ा होता है, और अपने घरको, पृथ्वीको तथा सब अन्य लोकोंको अपना आधार देता, प्रकाशित करता और सुस्थिर रखता है, वैसे ही मनुष्य को आचरण करना चाहिये।

इसी तरह दूसरा उदाहरण है, अरणियों से उत्पन्न अग्नि का। यह अग्नि जब अरणियों से उत्पन्न होता है, तब छोटा होता है, परन्तु वह प्रदीप्त होकर बड़ा होता है और नाना यज्ञोंके संपादन करनेसे यजमान की तथा अन्यान्य समाजों की धारणा करता है, वैसा ही मनुष्य को करना उचित है।

मनुष्य के सामने ये दो, अग्नि और सूर्य, आदर्श है। अग्नि उत्पन्न करना पडता है, परन्तु सूर्य प्रतिदिन आकर अपना आदर्श मानव को बताता रहता है। मानव इस आदर्शको देखे और स्वयं वैसा बनने का यत्न करें। सूर्य ही मानवों का आदर्श है, अब इस आदर्शको सामने रखकर मनुष्य को क्या करना चाहिये सो बताते हैं-

सूर्य बनो, तेजस्वी बनो

सूर्य उदय से सूर्य के अस्त होनेतक मनुष्य का आयुष्य है ऐसी कल्पना

पाठक करें । यह बारह घण्टों का अथवा ३० घटिकाओं का समय है । इसमें बाल, कुमार, तरुण, वृद्ध, जीर्ण ऐसी अवस्थाएं कल्पना से जाननी चाहिये । मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी है, वह बारह घंटोंमें विभक्त की तो प्रति घंटेमें १० वर्ष समाते हैं, अथवा तीस घटिकाओंमें विभक्त की तो प्रति घटिका में ४ वर्ष समाते हैं । इस तरह विचार करके सूर्य का जीवन अपने जीवन से मिलाना और बोध लेना चाहिये ।

उदय के समय का सूर्य बड़ा कोमल रहता है, वैसा ही बालक बड़ा कोमल और सुकुमार रहता है । सूर्य का तेज प्रत्येक घण्टे में बढ़ता है, वैसा ही बाल्यके पश्चात् कौमार्य और तारुण्यकी अवस्थाओं में मनुष्य को शरीर, विद्या, ज्ञान, पौरुष, बल, वीर्य, तेज, प्रभाव आदि से युक्त होकर बढ़ना चाहिये । किसी तरह हीनदीन दुर्बल निर्वीर्य नहीं होना चाहिये ।

तारुण्य में सूर्य प्रभा नामक धर्मपत्नी से संयुक्त होता है, अपने प्रकाश से संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, सबको सरल मार्ग बताता है, अन्धेरे को दूर करता है, अपने तेज से चमकता है । इसी तरह युवा पुरुष को विद्याध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये, अपने विद्या, वीर्य, पराक्रम आदि के प्रभाव से सब जनताका मार्गदर्शन करके सबका प्रवर्तन सन्मार्ग में कराना चाहिये, अपने धर्म, समाज, राष्ट्र आदिको धर्म का मार्ग बताना चाहिये और अज्ञान दूर करने द्वारा सबको उत्कर्ष के मार्गपर चलाना चाहिये ।

पश्चात् प्रकाश की न्यूनता होने लगती है, वह तो वार्धक्य की अवस्था के कारण स्वाभाविक ही है । परन्तु सूर्य जैसा अस्त होनेतक अपने तेज से चमकता ही रहता है, वैसा मनुष्यको भी अपने ज्ञान के प्रकाश से चमकना चाहिये । और जैसा एक ही सूर्य अस्त होने तक सबको अपने तेज से चमकाता रहता है, उसी तरह मनुष्य को भी उचित है कि, वह अपने ज्ञान के तेज से अन्योंको सत्य धर्मका मार्ग बताता रहे । सूर्य उदय होते ही जैसे

धार्मिक यज्ञ शुरू होते हैं, इसी तरह इस ज्ञानी मनुष्य की प्रेरणा से देशभर नाना प्रकार के प्रशस्त उद्योग शुरू हों और मानव उन से समृद्ध और सुखी हों।

सूर्य के समान जीवन व्यतीत करने का संक्षेप से आशय यह है। पाठक विचार करके अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य सब से तेजस्वी है, मैं भी वैसा ही सबसे अधिक तेजस्वी बनूंगा इत्यादि बोध यहां मिलते हैं।

सूर्य जैसा त्रिभुवनों का अपने बल से धारण करता है, पृथ्वीपर के अपने घरको सुरक्षित करता है, अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है और द्युलोक अधिक तेजस्वी करता है, इसी तरह मनुष्य भी अपने घर को सुस्थिर करे, संपूर्ण राष्ट्रको प्रभाव युक्त बना देवे और सब जनता का मार्गदर्शन करे। व्यक्ति, राष्ट्र और जनताका इस तरह सुयोग्य मार्गदर्शन करे।

'ऋत-स्थाः' पद यहां विशेष महत्त्व रखता है। सरल मार्ग पर सदा रहना चाहिये, सत्यके मार्गपर से गमन करना चाहिये, यज्ञमार्ग का अवलंबन करना चाहिये इत्यादि भाव इसमें स्पष्ट हैं। 'सद्म' पद भी बडा बोधप्रद है। अपने घरकी सुरक्षा प्रथम करनी चाहिये, वह सुरक्षा राष्ट्र की सुरक्षा के प्रतिकूल न हो क्योंकि संपूर्ण जनताका हित करनेका अन्तिम ध्येय है, उस का विरोध नहीं होना चाहिये इत्यादि बोध यहां पाठक ले सकते हैं।

इस तरह विचार कर के पाठक योग्य बोध प्राप्त कर सकते हैं। इस के आगे और बोध किस तरह दिया जाता है वह अब देखिये---

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्ट अथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः॥५॥

(सः) वह सूर्य देव (जनुषः बुध्न्यात् अग्रं) उत्पन्न हुए इस विश्व के मूल से अग्र भाग तक (अभि आष्ट) चारों ओर से व्यापता है, सबको प्रकाशित करता है। (तस्य सम्राट्) इस विश्व का वह एक सम्राट् (बृहस्पतिः देवता) ज्ञानी देव ही है। (यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः) जब इस

तेजस्वी सूर्य देव से प्रकाशयुक्त दिन (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ, (अथ) तब उस दिन में (शुभन्तः विप्राः वि वसन्तु) विद्याके तेज से प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी लोग उस की सेवा करें। यज्ञ करके उसकी सेवा करें।

पूर्व मन्त्र में जो यज्ञ का विषय कहा, उसी को और अधिक इस मन्त्र द्वारा कहते हैं—

१८. सः जनुषः बुध्न्यात् अग्रं अभि आपृ = वह सूर्य देव उत्पन्न हुए इस विश्व के मूल से अग्रभाग तक चारों ओर से प्रकाशित हो रहा है। 'बुध्न्यात् अग्रं' = मूल से अग्रभाग तक, प्रारंभ से अन्त तक, अन्दर से बाहर तक, पास से दूर तक, नीचे से ऊपर तक 'सः अभि आपृ' = वह सब ओर से विश्व को व्यापता है, प्रकाश को फैलाता है, सब को प्रकाशित करता है। सूर्य का उदय होते ही उस के प्रकाश से सब विश्व प्रकाशित होता है।

१९. तस्य देवता सम्राट् बृहस्पतिः = उस की देवता उत्तम प्रकाशमान ज्ञानपति नामक है। 'सम्राट्' का अर्थ (सं) 'उत्तम प्रकार से (राज्) प्रकाशमान्' है। 'ब्रह्मणस्पति' का अर्थ 'ज्ञान का स्वामी' है। ये सूर्य के ही नाम हैं, क्यों कि सूर्य ही सब ज्ञान का और प्रकाश का मूल स्रोत है। इस विश्व की प्रकाशमान और ज्ञानमयी देवता सूर्य ही है।

२०. ज्योतिषः शुक्रं अहः यत् अजनिष्ट = इस ज्योतिस्वरूप सूर्य से स्वच्छ श्वेत और पवित्र दिवस उत्पन्न होता है। यह सब जानते ही हैं। जब दिन निकल आता है तब 'शुभन्तः विप्राः वि वसन्तु' = ज्ञान से प्रकाशित होनेवाले ज्ञानीजन कर्म करने लगते हैं। 'वस्' का अर्थ है 'रहना, होना, समय बिताना, कर्म करना' और 'वि वस्' का अर्थ 'उस से अधिक विशेष रीति से निवास करना, उन्नति के लिये कर्म करना है।'

जब दिन प्रकाशता है, तब सब ज्ञानीजन इकट्ठे होते हैं और यज्ञ करते हैं। यज्ञ से सब की उन्नति का साधन करते हैं। सूर्य के उपासक मनुष्य

विद्वान् होते हैं, सूर्य प्रकाश से दिन निकलते ही वे ज्ञानीजन नाना प्रकार के मानवी उन्नति के कार्य करते हैं, उन्नति के साधन जुटाते हैं।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥

(काव्यः) ज्ञानी (अस्य पूर्व्यस्य महः देवस्य) इस प्रथम प्रकट हुए महान् देवका (तत् धाम) वह स्थान (हिनोति नूनं) निश्चय से प्रकाशित करता है, वर्णन करके बताता है। (एषः इत्था बहुभिः साक जज्ञे) वह सूर्य इस तरह बहुत देवताओं के साथ निर्माण हुआ है। (पूर्वे अर्धे विषिते) पूर्व अर्ध में जब खुला प्रकाश हुआ था, उस समय वे (ससन् नु) सोते रहे थे।

२१. काव्यः देवस्य धाम हिनोति = जो ज्ञानी होता है, वह यथा-पद इस सूर्य देवका तथा अन्यान्य सभी देवों का वर्णन करके जनता में सत्य ज्ञान का प्रचार करता है। (यहां तृतीय मन्त्र में ' ज्ञानी सब देवों के जन्मों का वर्णन करता है ' ऐसा जो कहा है, उसका अनुसंधान करना योग्य है। वही बात अन्य प्रकार से यहां दुहराई है।)

२२. एष बहुभिः साकं जज्ञे = यह सूर्य अनेक देवताओं के सा जन्मा है। पहले दो मन्त्रों में बताया है और पूर्वोक्त चित्रों में भी बता है कि, ब्रह्म से प्रथम सूर्य हुआ और सूर्य से सब देव हुए। यही या दुहराया है और कहा है कि अनेक देवों के साथ सूर्य उत्पन्न हुआ है। र के साथ ही ग्रहोपग्रह जन्मे थे, वे सूर्य से कुछ समय के बाद बाहर निव आये।

२३. पूर्वे अर्धे विषिते ससन् = पूर्व अर्ध में, आकाश में सूर्य उ होकर आकाश तथा सब विश्व प्रकाश से परिपूर्ण होने पर भी कई र सोते ही रहते हैं !! इन आलसी लोगों की दुर्गति ही होती है। क्यों कि लोग ज्ञानी हुए, कई ज्ञानी लोग यज्ञ करने द्वारा सब जनता का सुख ब

लगे, सब लोग इन से लाभ उठाने लगे। इतना ज्ञान का प्रकाश और कर्म का आनन्द जनता को प्राप्त होने के बाद भी जो लोग आलस में सोते रहेंगे, उनकी उन्नति की क्या आशा होगी ? इसलिये सब को शीघ्र उठकर अपने उत्कर्ष के उद्योग में लगना चाहिये। यह सबके लिये आवश्यक सूचना यहां दी है। कोई सुस्त न रहे, सब लोग कर्म करने में तत्पर रहें। अब इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र देखिये—

योऽथर्वाणं पितरं देवबंधुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्॥७

जो (अ-थर्वाणं) निश्चल योगी (देव-बन्धुं) देवों का भाई, जैसे और (पितरं) सबके पिता जैसे रक्षक (बृहस्पतिं) परम ज्ञानी को (नमसा अव गच्छात्) नमस्कार से प्रेमपूर्वक जानता या प्राप्त करता है। वह (विश्वेषां जनिता यथा त्वं असः) सब का निर्माणकर्ता जैसा तू होगा, वैसा (देवः कविः) ज्ञानीदेव (स्व-धावान्) निज धारक शक्ति को प्राप्त करने पर अर्थात् बलवान् बनने पर भी किसी को (न दभायत्) नहीं दबाता। सब की सहायता करके सबकी उन्नति का मार्ग दिखाता रहता है।

२४ ' अथर्वा ' बनता है। ' थर्व ' का अर्थ है गति, या चञ्चलता, और ' अथर्वा ' (अ-थर्वा) का अर्थ है शांति, स्थिरता और समता। चित्तवृत्ति का निरोध कर के जो आन्तरिक समतायुक्त शांति मिलती है, वह इस पद से बोधित होती है। पूर्ण योगी का यह नाम है। वह ' देवबन्धु ' है, देवताओं के साथ भाई जैसा वह व्यवहार करता है। इसी सूक्त के तृतीय मन्त्र में ' विद्वान् बन्धु ' का वर्णन है। वह भी देवों का भाई ही था। वही यहां का देवबन्धु है। योगी ही देवों का बन्धु हो सकता है। वही ' बृहस्-पति ' अर्थात् ज्ञान का पति अथवा ज्ञानी होता है। योगी बनकर, देवों के साथ मित्रता का नाता जोड़कर, जो ज्ञानी बनेगा, वही ' पिता ' सब का पिता जैसा रक्षक हो सकता है। सच्चा संरक्षण यही कर सकता है।

यही (नमसा अवगच्छात्) नमस्कार पूर्वक प्राप्त करने योग्य है। नमस्कार पूर्वक गुरु मानने योग्य है, क्योंकि यही सब का तारण, अथवा संरक्षण कर सकता है।

२५ पूर्वोक्त मन्त्र भाग में वर्णन किया श्रेष्ठ ज्ञानी (विश्वेषां जनिता) सब प्रकार के श्रेष्ठ यज्ञादि कर्मों का निर्माण कर्ता होकर (स्व धा-वान्) अपनी निज धारणा शक्ति बढाता हुआ (कविः देवः) कवि तथा क्रान्तदर्शी होकर देवता जैसा श्रेष्ठ बनता है। इतनी इस में शक्ति होनेपर भी यह किसी को (न दभायत्) दबाता नहीं।

मनुष्य में किसी तरह की शक्ति बढ गयी तो उस शक्ति से वह दूसरोंको दबाता रहता है। मनुष्य में ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति और धनशक्ति प्रमुखतया बढती है। इस शक्ति से शक्तिमान हुआ मनुष्य दूसरों को दबाता है। पूंजीपती मजदूरों को, राजा प्रजा को, साम्राज्यवादी दलितों को, और ज्ञानी अज्ञानियों को दबाते हैं, यह बात व्यवहार में हम देखते हैं। पर यहां का (कविः स्वधावान् न दभायत्) ज्ञानी सामर्थ्यवान् होकर भी दूसरों को दबाता नहीं !!!

यही वैदिक ज्ञानकी श्रेष्ठता है। शक्ति होने पर भी दूसरों को न दबाना ही श्रेष्ठ ज्ञान का लक्षण है। अस्तु। यहां इस सूक्त का विचार समाप्त हुआ है।

इस सूक्त के पहिले दो मन्त्रों में 'सदैक्य' तत्व ज्ञान बताया है। एक ब्रह्म से वेन हुआ, इस वेन से विश्वान्तर्गत सब सदसदात्मक वस्तुमात्र की उत्पत्ति हुई है। प्रथम मंत्र में 'सत्-असत्' ये दो पद हैं। ये द्वन्द्व का उपलक्षण हैं। इस के उपलक्षण से सब प्रकार के द्वन्द्व लेना उचित है। वेन से ही, सूर्य से ही, सब द्वन्द्व उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से सूर्य और सूर्य से सब विश्व उत्पन्न हुआ। अर्थात् निर्द्वन्द्व ब्रह्म से द्वन्द्वमय विश्व निर्माण हुआ है।

इस विश्व में पृथ्वी हुई, पृथ्वी पर मनुष्य हुआ, मानवों में विद्वान् प्रकट

हुआ। यह ज्ञानी संपूर्ण विश्व के ज्ञान को जानने लगा, साक्षात् ब्रह्म से मंत्रों को प्राप्त करने लगा। यही अपनी शक्ति से शक्तिमान् होकर विराजता है। यहां तक प्राथमिक तीन मंत्रों ने ज्ञान दिया।

आगे के चार मन्त्रों में ज्ञानी की योग्यता तथा उसका यज्ञ का प्रवर्तन और यज्ञ के द्वारा संपूर्ण जनता की उन्नति आदि विषय हैं। इनका थोडासा संक्षेप से विवरण पूर्व स्थान में किया है।

अपने प्रचलित 'सद्वैक्य तत्त्वज्ञान' के विचार सम्यक्तया जानने के लिये इस सूक्त के प्राथमिक तीन मन्त्र बडे उपयोगी हैं उनका विचार सद्वैक्य सिद्धांत जानने के लिये पाठक कर सकते हैं। संक्षेप से यहां "ब्रह्म से सूर्य, सूर्य से सब स्थिरचर पदार्थ उत्पन्न होने का जो क्रमपूर्वक वर्णन" है वही सद्वैक्य तत्त्वज्ञान को विस्पष्ट कर देता है। यही अपने मुख्य विषय के साथ सम्बन्ध रखता है।

इस लेख में सब सूक्त का सूक्त पाठकों के सामने रख दिया है। पाठक सब सूक्त का अनुसंधान करें। क्योंकि सद्वैक्य तत्त्वज्ञान से मानव की उन्नति कहां तक हो सकती है, इस का स्पष्टीकरण अन्त के चार मंत्रों में है। प्रथम के तीन मन्त्रों में सद्वैक्य तत्त्वज्ञान और अन्तिम चार मंत्रों में उस सद्वैक्य सिद्धात के अनुसार ज्ञानी तथा समर्थ बनने से मानव की कितनी उन्नति होती है, उस का वर्णन है। अतः यह संपूर्ण सूक्त इस दृष्टि से मनन करने-योग्य है। आशा है कि इस के मनन से पाठक सद्वैक्य सिद्धांत को जानकर उसको आचरण में लाने की विधि परिपूर्ण रूप से समझकर विशेष लाभ उठायेंगे।

---

(१५)

स ई अ ऐ का हु अ

अमृतका झरना

सब लोग जानते हैं कि, कपास या ऊनका सूत्र या धागा बनता है, उन सूत्रसे नाना प्रकार के कपडे बनते हैं, उन कपडों से नाना प्रकार के कुडते, कमीज, कोट, साफे, धोतियाँ, रुमाल, चद्दरें आदि अनेक वस्त्र बनाये जाते हैं, जो सब मनुष्य पहनते हैं। मूल एक कपास या उनके सूत्र का ही यह विविध रूप है। इन धागों को नाना रंगों में रंगाने से उन में और अधिक विचित्रता उत्पन्न होती है। यह विचित्रता यहा तक बढती है कि एकका कार्य दूसरा कर ही नहीं सकता। साफा कुडते का और कुडता पाजामे का कार्य कर नहीं सकता। तथापि ये सब वस्त्र एक ही कपास या ऊनके धागे के बने होते हैं, इस में संदेह नहीं है। कपास या उनका सूत्र इन सब में ओतप्रोत भरा रहता है।

कोई मूढही ऐसा कहेगा कि, चूंकि कुडता पाजामे का कार्य नहीं कर सकता इसलिए ये दोनो वस्त्र मूलतः ही विभिन्न हैं। परन्तु जिसको पता है कि, इन सब विभिन्न वस्त्रोंका मूल एकही कपास है, वह जानता है कि, यद्यपि कुडता, पाजामा और साफा विभिन्न हैं, तथापि उन सब में कपास रूपी एकही सत् है, उसी एक 'सत्' ने ये विभिन्न रूप धारण कर लिये हैं। और वही उनमें ओतप्रोत हो रहा है।

वेदमें यह विषय अनेक स्थानों पर सुस्पष्ट हुआ है, उनमें से अथर्ववेद काण्ड २, सूक्त १ का विचार इस लेखमें करना है। पाठक इसका मनन करें और सदैक्य तत्त्वज्ञानके वैदिक सिद्धान्तको ठीक प्रकारसे जाननेका यत्न करें।

परमधाम

(अथर्ववेद २।१)

[वेनः । ब्रह्म, आत्मा । त्रिष्टुप्, ३ जगती]

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

(वा. य. ३२।८; तै. आ. १०।१।३; महाना. २।३)

(वेनः तद् परमं अपश्यत्) ज्ञानी मनुष्यने उस परम तत्वको देख दिया, (यत् गुहा) जो गुप्त है और (यत्र विश्वं एकरूप भवति) जिसमें संपूर्ण विश्व एकरूप अर्थात् एक स्वरूपवाला होता है। (पृश्निः इदं अदुहत्) नाना वर्णवाली [उसी की निज प्रकृति] ने यह [संपूर्ण विश्व अपनेमेंसे] दुहकर बाहर निकाला है, (जायमानाः स्वर्विदः) उन्नत होनेवाले लोग आत्मतत्त्वको जानते हुए (व्राः) समूहमें रहकर (अभि अनूषत) विशेष रीतिसे उसीका वर्णन करते हैं।

वा० यजु० में यह मन्त्र निम्नलिखित प्रकार है-

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥८

(वा. य. ३२।८)

(वेनः तत् पश्यत्) ज्ञानी मनुष्य ने उसे देख लिया, जो (सत् गुहा निहितं) एक सत् गुप्त रीतिसे सर्वत्र भर रहा है और (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोसला जैसा होता है, (तस्मिन् इदं सर्वं सं एति च वि एति) उसमें यह सब विश्व मिल जाता है और उससे पृथक् भी होता है, (सः विभूः प्रजासु ओतः प्रोतः च) वह विभू परमात्मा सब प्रजाओंमें ओतप्रोत भरा है।

इस मन्त्रका तैत्तिरीय आरण्यकका पाठ भी अब देखिये—

वेनस्तत् पश्यन् विश्वा भुवनानि विद्वान् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । यस्मिन्निदं सं च वि चैकं स ओतः प्रोतश्च विभु प्रजासु ।

(विश्वा भुवनानि विद्वान्) सब भुवनों को जाननेवाला ज्ञानी (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जहां संपूर्ण विश्व एक घोसले के समान होता है, (तत् वेनः पश्यत्) उस एक सत्‌को देखता है। (यस्मिन् इदं सं च वि च) जिसमें यह सब विश्व एकरूप होता है और विभक्त भी होता रहता है, वह (एकं विभु) एक ही व्यापक सत् है और (सः प्रजासु ओतः प्रोत.च) वह प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत हुआ है।

ये तीनों मन्त्र प्रायः एक जैसे ही हैं और जो इनके पाठभेद हैं, वे एक दूसरे के पोषक हैं। देखिये इस मन्त्र में क्या कहा है—

(१) वेनः तत् परमं अपश्यत्, यत् गुहा= ज्ञानी ही वह परम श्रेष्ठ आत्मतत्त्व जानता है, जो सर्वत्र गुप्त है, अर्थात् जो प्रकट नहीं है। (सत् गुहा निहितं) यह जो एक ही सत् है वह सर्वत्र गुप्त है। वह छिपा पड़ा है। (तत् विश्वा भुवनानि विद्वान्) वही एक सब भुवनों के रूपमें है ऐसा ज्ञानी जानता है, अर्थात् अज्ञानी ऐसा नहीं जानता। अज्ञानी मानता है कि ये सब भुवन उससे पृथक् हैं, परन्तु ज्ञानी ही जानता है कि, वही एक सत् इन सब भुवनोंके रूपोंमें, स्वयं अव्यक्त और गुप्त होता हुआ, सब भुवनोंके रूपोंमें प्रकट और व्यक्त होता है। यह कैसा है इसका स्पष्टीकरण आगे देखिए—

(२) यत्र विश्वं एकरूपं भवति। यत्र विश्वं एकनीडं भवति। जिस एक सत् में यह सब विश्व एक रूप हो जाता है, जिस में यह विश्व एक छोटेसे घोसले के समान होता है। विश्व में तो विविध रूप हैं, भिन्नभिन्न आकार हैं, अनंत शक्लें हैं, नाना प्रकार की आकृतियाँ हैं। परंतु उस एक सत् में यह सब विविधता नष्ट होकर वहां इस समूचे विश्व की एकरूपता हो जाती है।

इस के लिए एक उदाहरण लेना चाहिए सुवर्ण के अनेक आभूषण बनाये हैं। उन आभूषणों के नाना प्रकार के रूप और आकृतियां हैं। ये आकृतियाँ और रूप विविध होते हुए भी 'सुवर्ण' की दृष्टी से वे एक रूप ही हैं।

मिट्टी के अनेक वर्तन बने हैं, उनके विविध आकार हैं। वे विविध आकार रखते हुए भी 'मिट्टी' के रूप में वे सब आकार एकरूप हो जाते हैं। इसी तरह एक सत् तत्त्वके ये सब विविधरूप होकर यह विश्व बना है। विश्वके ये नाना रूप रहते हुए भी 'सत्' रूप से यह सब विश्व एकरूप ही है।

मिश्री के अनेक खिलोने बनाये, तो उन के विविध आकार रहते हुए भी मिश्री के एक ही रूप में वे विलीन रहते हैं।

यहां स्मरण रहे कि जो विश्व इस समय दीख रहा है, वह वैसा का वैसा ही सद्रूप है। जैसे मिश्रीके खिलोने मिश्री के रूप में विलीन रहते हैं। वैसा विश्व है वैसा का वैसा ही सत् के रूप में विलीन है। कई लोग समझते हैं कि प्रलयमें ही यह विश्व सद्रूपमें विलीन होता है और जगत् की अवस्था में विलीन नहीं रहता। ऐसा समझना बडी भारी भूल है। जिस तरह लकडी के मेज कुर्सी अलमारी आदि पदार्थ लकडी के रूप में सदा विलीन रहते ही हैं आकारोंके टूटनेकी जरूरत नहीं, इसी तरह यह विश्व उस सत् में सदा विलीन ही है।

(३) यस्मिन् इदं सर्वं सं च वि च एति। यस्मिन् इदं एकं विभु सं च वि च ॥ = जिस में यह सब विश्व मिल भी जाता है, और व्यक्त भी होता रहता है। जिसमें यह एक विभु तत्व एक रूप भी होता है और विविधरूप भी होता रहता है। इस के समझने के लिए, ऊपर के ही उदाहरण देखिये। सब वर्तन 'मिट्टी' के एक रूपमें (सं) मिले भी रहते हैं और (वि) विविध आकारों की शकलों में प्रकट भी रहते हैं। कपास के या सूत के रूप में सब कपडे सदा एक रूप हुए भी रहते हैं और विविध आकारों में विविधता पाये भी रहते हैं। एकता पाने के लिए विविधता हटायी नहीं जाती। क्यों कि एक सूत के रूप से सब विश्व एक रूप है ही, परन्तु विविध वस्तुओं की दृष्टिसे उस में विविधता है। विविधता और एक रूपता एक साथ ही है। एक रूपमें विविधता और विविधता में एकरूपता है। पाठक इन उदाहरणों को देखकर इस मन्त्र के ज्ञानको समझने का यत्न

करें। विविधता मिटाने के लिये विश्वरूपकी शकलोंको तोडनेकी जरूरत नहं है। सुवर्णकी दृष्टीसे सब आभूषण एकरूप ही हैं, परन्तु सुवर्ण की दृष्टी से वे एक रूप होते हुए भी आभूषणोंकी दृष्टी से उन में विविधता है। (इद एक विभु स वि च) यह एक ही विभु सत्तात्व एकरूप भी है और विविधरूप भी है। इसका आशय उक्त प्रकार समझना चाहिये। यही बात शेष मन्त्रभाग में वेद ही समझा देता है।

(४) स विभुः प्रजासु ओतः प्रोतः च= वह सर्व व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत हुआ है। यहां 'प्रजा' पद सब स्थिरचर संसारका बोधक लेना चाहिये, क्योंकि पूर्वापर सम्बन्ध देखा स्पष्ट दीखता है अर्थात् सब विश्व में यह प्रभु ओतप्रोत भरा है। कपडे में जो लंबाई के लंबे धागे होते हैं उनका नाम ' ओत ' है और चौडाई के जो छोटे धागे होते हैं उन का नाम 'प्रोत' है। ' सः विभूः ओत प्रोतः च ' वह परमात्मा ओतप्रोत है, इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि परमात्मा ही स्वयं कपास से सूत बनने के समान सूत्रात्मा बना है और इस विश्वरूपी कपडे में लंबाई के और चौडाई के धागों के समान वह इस संसार में ओतप्रोत भरा है।

कपासका या उन का सूत्र कपडे में ओतप्रोत भरा है इस का अर्थ यही होता है कि सूत का ही वह कपडा बना है। इसी तरह वह विभू परमात्मा इस संसार में ओतप्रोत भरा है इस का यही अर्थ है कि उसी ' परमात्मा रूपी धागे से यह संसारका वस्त्र बना है। कपडे में जैसा सूत्र के विना दूसरा कुछ भी और पदार्थ नहीं होता, ठीक उस तरह इस संसार में भी परमात्मा के सूत्र को छोडकर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, अतः अकेले परमात्मा का ही यह संसार बना है। अथवा यूं कहो कि परमात्मा ही संसार रूप होकर हमारे सम्मुख खडा है, अथवा जो सामने दीखता है अथवा सामने है वह सब परमात्मा ही परमात्मा है। दूसरा कुछ भी यहां नहीं है।

सद्वैतवाद का तत्व समझने के लिए यह ' ओतः प्रोतः च विभूः ' ये पद अत्यंत उपयोगी हैं। पाठक इन पदों का अत्यंत विचार करें और इस,

सत्य को समझ लें।

(५) पृश्निः इदं अदुहत्-पृश्नि अर्थात् चितकदरी विविधरंगरूपोंवाली गौ इस विश्वरूपी दूधको दूह देती है। यहां का 'पृश्नि' पद अनेक रंगोंवाली वस्तु का बोधक है। निःसंदेह यह प्रकृति ही है। परन्तु ईश्वर से यह भिन्न वस्तु नहीं है। यह ईश्वर की ही प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाय, तो (१) यह विश्व उस ईश्वर में एकरूप होता है, (२) यह व्यापक प्रभु इस विश्व में ओतप्रोत भरा है आदि वर्णन असंगत हो जाता है, विशेषतः परमेश्वर का इस विश्व में ओतप्रोत होना इस बात की सिद्धि कर रहा है कि परमेश्वर रूप एक ही सद्वस्तु का यह विश्व बना है, जिस तरह कपास के सूत्र से कपड़ा बनता है। कपासमें सूत्र बनने और कपड़ा बननेकी शक्ति है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। 'प्र-कृति' का अर्थ 'विशेष कृति करने की शक्ति' है। परमेश्वर नामक एक ही सद्वस्तु में यह अतुलनीय प्रचण्ड निज-शक्ति है, जिससे यह विश्व बनता है। अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण इस का नाम है। निमित्त और उपादान कारण यहां विभिन्न नहीं है। एक ईश्वर विश्व का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। इस तरह प्रकृति और प्रकृति से विश्व का निर्माणकर्ता एक ही ईश्वर है। परमेश्वर इस विश्व का निर्माण करता है वह अपनी ही निज प्रकृति से विश्व उत्पन्न करता है। अपनी प्रकृति से अर्थात् अपनी विशेष कार्य करने की निजशक्ति से यह विश्वकी उत्पत्ति करता है। अपनी शक्ति अपनेसे विभिन्न नहीं होती। प्रकृति तो शक्ति है, शक्ति गुण है, वह गुणी ईश्वर से कदापि पृथक् नहीं है। गुण और गुणी एक ही है। इस तरह एकता मानने से ही १ (तत्र विश्वं एकरूपं भवति,) उसमें सब विश्व एक रूप होता है, और २ (सः विभुः ओतः प्रोतः च,) वह विभु ईश्वर सब में ओतप्रोत है इन मन्त्रभागों की संगति ठीक तरह लग सकती है। यदि वह सब में ओतप्रोत है, तब तो सब विश्व उसी का बना है। इसी कारण सब विश्व उस में एकरूप होता है।

सूत्र कपडे में, कपास सूत्र में, मिट्टी घडों में ओतप्रोत होती है क्योंकि

उसी पदार्थ के ये बने हैं। इसी तरह ईश्वर का ही यह सारा विश्व बना है और वह ईश्वर के द्वारा बना है इसीलिये इस में ईश्वर ओतप्रोत है। ओत-प्रोत ये पद कपडों में धागों को ही लगते हैं। विश्व में जो ईश्वर की सर्व व्यापकता है वह कपडे में सूत्र और सूत्र में कपास जैसी है। घडे में पानी जैसी अथवा लोहे में उष्णता के समान नही है। यही विशेष सूक्ष्म रीति से समझने की बात है। जिस समय सब ईश्वरकी सर्व व्यापकता का पता ठीक तरह लगेगा, उस समय सब शंकाएं दूर होंगी और परमेश्वर ही विश्वरूप है इस का पता लग जायगा।

पृश्निने अपनेमें से विश्वरूपी दूध निकाला है। यह अपनेमेंसे निकाला है। पृश्नि परमेश्वर शक्ति है, वही शक्ति विश्व का निर्माण करती है। शक्तिमान् और शक्ति दो वस्तु नहीं होती, एक ही वस्तु होती है। इस का तात्पर्य यही है कि शक्तिमान् परमेश्वर अपनी शक्ति से अपनेमें से इस विश्व का सृजन करता है और इस में वह ओतप्रोत भरा रहता है जैसे कपडे में धागा भरा रहता है।

यदि कपडेमें से धागा सब का सब निकाल लें, तो कपडा वहां नहीं रहेगा, इसी तरह विश्वमें से ईश्वर को पृथक् कर दें, तो विश्व नाम की कोई वस्तु वहां रहेगी नहीं। क्योंकि ईश्वर का ही रूप यह विश्व है। जिसका जो रूप होगा वह उस के पृथक् होने से नहीं रहेगा। अतः ईश्वर को हटा दिया तो विश्वरूप भी नहीं रहेगा।

इस से विश्व ही ईश्वर का रूप है यह बात सिद्ध हुई और जो लोग विश्व को ईश्वर से सर्वथा पृथक् मानते हैं, वह उन का भ्रम या अज्ञान है, यह भी सिद्ध हुआ तथा ईश्वर और उसकी कृति अथवा प्रकृति उससे-पृथक् नहीं है, तथा प्रकृति पुरुष मिलकर ही ईश्वर है, यह सब इस से सिद्ध हुआ है।

(६) जायमानाः व्राः स्वर्विदः अभ्यनूषत = उस से उत्पन्न होनेवाले समूह में रहनेवाले मनुष्य इस आत्मतत्त्व को जानकर ही उसका

ठीक ठीक वर्णन करते हैं। संघ में रह कर उस प्रभु का वर्णन करते हैं अथवा वही सब कुछ होने से जो भी वर्णन ज्ञानीजन करते है, वह प्रभु का ही वर्णन होता है। इस में 'व्राः' पद है, यह समूह का वाचक है। "व्राः अभ्यनूपत" = सामुदायिक उपासना करते हैं, समुदाय में प्रभु की उपासना करते हैं। अकेले उपासना नहीं करते, किन्तु समुदाय में इकठ्ठे होकर ही प्रभु के गुणगान गाते हैं।

सब मानव समाज प्रभु का ही रूप है, इसलिये सब को मिलकर ही उपासना करना योग्य है। गायत्री मन्त्र उपासना का उत्तम मंत्र है, इसमें 'धीमहि' हम सब मिलकर ध्यान करते हैं, ऐसा सामुदायिक-उपासना का सूचक पद भी है। 'यः नः धियः प्रचोदयात्' = जो प्रभु हम सब की बुद्धियों को प्रेरित करता है, या प्रेरित करे, यहां भी सब की बुद्धियों की प्रेरणा है न कि किसी एककी। इस तरह यह गायत्री मन्त्र सामुदायिक उपासना का सूचक है।

इस मन्त्रमें 'व्राः' पद समुदाय का ही वाचक है, अत. यह पद मानवों के सामुदायिक जीवन की सूचना देता है।

समानं योनिं अभ्यनूपत व्राः। (ऋ. १०।१२३।२)

एक ही मूल कारण का वर्णन सब लोग मिलकर करते है। यह ऋग्वेद का पाठ है।

तज्जानतीः अभ्यनूपत व्राः (ऋ ४।१।१६)

उस को जानतेवाली प्रजा उस के तत्व का वर्णन करती है इस तरह ऋग्वेद में मन्त्रभाग हैं।

इस मंत्र का पिप्पलाद संहिता का पाठ अब देखिये-

वेनास्तत् पश्यन्त परमं पदं यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
इदं धेनुरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥
(अथर्व पिप्पलाद सं. २।६।१)

(वेनाः पश्यन्ति तत् परमं पद) अनेक विद्वान् उस परम पदको देखते हैं जिस में संपूर्ण विश्व एक घोसले के समान होता है। (धेनुः इदं अदुहत्) गौने दुहकर यह विश्व उत्पन्न किया, इस से उत्पन्न होनेवाले आत्मज्ञानी समूहों में रहकर इस की स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं।

इस का अर्थ प्रायः समान ही है। परन्तु यहां 'वेन' पद बहुवचन में हैं। पृश्नि के स्थानपर धेनु पद है। इसी तरह 'गुहा' के स्थानपर 'पद' है। शेष समान है। इस मन्त्र ने और इस मन्त्र के पाठभेदों ने निम्नलिखित सिद्धांत कहे हैं—

(अ) एक सत् है वह गुप्त है, छिपा है, व्यक्त नहीं है,

(आ) सब विश्व इसी सत् में एकरूप होकर रहता है अर्थात् वह सत् ही यह विश्व बना है,

(इ) सब विश्व मिलकर एक ही घर है, यहां दूसरा कोई नहीं है,

(ई) इसी एक सत् में सब विश्व एकरूप भी है और विविध रूप भी है अर्थात् विविधरूप रहता हुआ ही यह विश्व सद्रूप भी है,

(उ) वह प्रभु भी इस विश्व में ओतप्रोत भरा है, जैसे कपडे में सूत्र,

(ऊ) ईश्वरी शक्ति ईश्वर से इस विश्व का सृजन करती है,

(ऋ) आत्मज्ञानी विद्वान् सब मिलकर उसी की उपासना करते हैं।

अब द्वितीय मन्त्र देखिये-

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥२॥
(अथर्व० २।१।२; पिप्प० २।६।२, वा० य० ३२।९; तै. आ. १०।१।३; महाना० १-४)

(अमृतस्य विद्वान्) अमृतस्वरूपी आत्मतत्त्व को जाननेवाला और (गन्धर्वः) ज्ञानमयी वाणी का धारण करनेवाला ज्ञाता, (यत् परमं धाम गुहा) जो परम आत्मरूप स्थान गुप्त है, (तत् प्र वोचेत्) उस के विषय में प्रवचन करे। (अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहिता) इस के तीन पद गुप्त रहे हैं [और एक ही पद विश्वरूप में प्रकट है], (यः तानि वेद) जो उन्हें

जानता है, (सः पितुः पिता असत्) वह पिता का पिता अर्थात् ज्ञाता का भी गुरु होता है।

प्र तद् वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
(वा० य० ३२।९)

प्र तद् वोचे अमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो नाम निहितं गुहासु॥
त्रीणि पदा निहिता गुहासु यस्तद्वेद सवितुः पिता सत्॥
(तै० आ० १०।१।३, महानारा. १-४)

(७) अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वः, यत् परमं धाम गुहा, तत् प्र वोचेत्। अमर आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी वक्ता ही, उस गुप्त परम धामका प्रवचन करे। अर्थात् दूसरा कोई उस का व्याख्यान कर नहीं सकता। एक ही आत्मा है और वह अमर है, वह सर्वत्र गुप्त है, उस का स्थान सर्व श्रेष्ठ है, वह सब में ओतप्रोत भरा है, जैसे कपडे में धागा होता है उसी तरह वह सब में है, सब विश्व इसी में मिला भी है और पृथक् विविधरूप भी होता है, इत्यादि पूर्व मन्त्र में कहा तत्वज्ञान यथावत् जानना और उस का प्रवचन यथावत् करना यह विशेष विज्ञाता ही कर सकता है।

(८) अस्य त्रीणि पदा गुहा निहितानि- इस के तीन भाग गुप्त हैं और केवल इस का चौथा भाग ही इस विश्व के रूप में प्रकट होता है। पुरुषसूक्त में ऐसा ही कहा है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(ऋग्. १०।९०।३, अथर्व १९।६।३, तै आ. ३।१२-२, म १०।९०-४, वा. य. ३१।४)

' इस का एक भाग ये सब भूत हैं और इस के तीन भाग द्युलोक में अमर हैं। ' यही आशय इस मन्त्र-भाग ने यहां बताया है। यहां एक भाग और तीन भाग ये उपलक्षणात्मक वर्णन हैं। यह विश्व अति अल्पभाग से हुआ है और शेष भाग बडा ही विशाल है, सब का सब प्रभु विश्वरूप बना नहीं है, इतना बताने के लिए ही यह वर्णन हुआ है।

त्रीणि पदा गुहा निहितानि । (अथर्व २।१।२)
त्रिपादस्यामृतं दिवि । (ऋ. १०।९०।४)

दो मन्त्र कितने समान तत्त्वज्ञान का वर्णन करते हैं यह देखने योग्य है। द्युलोक में अमर तीन भाग हैं और तीन भाग गुप्त हैं, इन दोनों का आशय एक ही है।

(९) यः तानि वेद स पितुः पिता असत्- जो उन तीन भागों को जानता है, अर्थात् विश्वरूप बने इस चौथे भाग को भी जो जानता है, वह पिता का पिता अर्थात् अति विशेष ज्ञानी होता है। पिता ज्ञानी होता है, पिता गुरु को भी कहते हैं। पिता का पिता ज्ञानी का ज्ञानी ही है। इस ज्ञान का इतना महत्त्व है। अतः सबको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अब अगला मन्त्र देखिये—

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ ३॥
(अथर्व. २।१।३; पाठभेदेन वा. य. ३२-१०; तै. आ. १०-१-४; महाना. ४. काठक १८.१; ऋ. १०.८२.३; वा. य. १७.२७; तै. सं. ४.६.२.१ मै. २.१०.२६)

(सः नः पिता) वह हमारा पिता है, हमारा रक्षक वही है, वही (जनिता) हमारा जनक है, (उत सः बन्धुः) और वही हमारा भाई भी है। वही (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानों को जानता है। (यः देवानां नामधः) जो सब देवों के नामोंको धारण करता है अर्थात् इंद्रादि देवों के सब नाम इसी के गुणबोधक नाम होते हैं, वह (एकः एव) एक ही देव है। (तं संप्रश्नं) उस उत्तम रीतिसे पूछने योग्य अर्थात् वर्णन करने योग्य देव के प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) सब भुवन पहुँचते हैं, उसी को प्राप्त करते हैं, सब भुवन उसी का गुणगान करते हैं।

इस मंत्र के पाठ अन्यान्य संहिताओं में ऐसे हैं—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
(काण्व ३५.२९; वा. य. ३२.१०; महाना. ४; तै. आ. १०-१-४)
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(ऋ. १०।८२।३; वा. य. १७।२७; काण्व. १८।२७)
यो नः पिता जनिता यो विधर्ता यो नः सतो अभ्या सज्जजान।
यो देवानां नामधा एक एक तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(मै. सं. २।१०।२६)

यो नः पिता जनिता यो वितधा यो नः सतो अभ्या साधि-
नाय। यो देवानां नामधा एको अस्ति तं संप्रश्नं भुवना यन्त्य-
न्या ॥ (काठक. १८।५)

ये पाठ-भेद अर्थ की दृष्टि से बड़े उपकारक हैं, अतः इन का भाव अब देखिये—(सः, यः, नः, पिता, जनिता बन्धुः) वह प्रभु हम सब का रक्षक, जनक और भाई है, (सः विधाता, विधर्ता) वह इस सब का निर्माण-कर्ता है और धारणकर्ता भी है। (सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद) वह प्रभु सब भुवनों और स्थानों को जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है। जो भी उत्पन्न हुआ है वह 'भुवन' कहलाता है, उन सब को वह जानता है। (यः नः सतः सत् अभि आ जजान, अभि आ निनाय) जो प्रभु हम सब के लिये सत् से सत् को सब प्रकार उत्पन्न करता है तथा सभी प्रकार से हमारे लिये पास ले आता है। (यः देवानां नामधः, एक एव अस्ति) जो सब देवों के नाम धारण करता हुए अकेला ही एक है, तथा (यत्र अमृतं आन-शानाः देवाः) जिस में अमृत को प्राप्त करते हुए सब देव (तृतीये धामन् अधि ऐरयन्त) तृतीय स्थान में रहे हैं। (तं संप्रश्नं अन्या भुवना यन्ति) उस अच्छी तरह वर्णन करने योग्य प्रभु के पास सब भुवन पहुंचते हैं।

(१०) सः नः जनिता, पिता, बन्धुः, विधाता, विधर्ता = वह प्रभु हम सब का जनक, पिता, रक्षक और भाई, निर्माता और धारणकर्ता

है । इस तरह अन्यत्र भी कहा है ' अदितिः माता, स पिता, स पुत्रः अदितिः पञ्चजनाः अदितिर्जातमदितिर्जनित्वं ।' (ऋ १।८९।१०)

अदिति ही माता, पिता, पुत्र, सब पांचों प्रकार के लोग, तथा भूत, भविष्य के सभी पदार्थ हैं । अर्थात् अखंडित प्रभु ही सब कुछ है । इस से स्पष्ट है कि जनक, पिता, पुत्र, भाई आदि सभी संबंधीजन तथा सब जनता, सब लोग भी वही है । कोई मनुष्य हो अथवा कोई संबंधी हो, वह प्रभु का ही रूप है । माता पिता को तो देवता मानना ही चाहिये । 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ' इत्यादि आदेश इसी मन्त्रानुसार दिये गये हैं । ' भूदेव ' ज्ञानदेव ब्राह्मण हैं, ' क्षत्रदेव ' राजपुरुष हैं, 'भुवनदेव ' वैश्य है, ' कर्मदेव ' शूद्र हैं और ' वनदेव' निषाद हैं, पूर्वोक्त स्थान में पञ्चजनों को प्रभु का रूप बताया है तदनुरोध से इस तरह पांचों प्रकार के लोग प्रभु के स्वरूप हुए हैं । घरमें माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र आदि भी देव हैं । इस तरह घरमें और राष्ट्र में ये देव हैं । इससे पता लग सकता है कि इन सब से हमारा बर्ताव कैसा होना चाहिये । प्रभु के साथ जितने उत्तम सन्मान से बर्ताव किया जाना योग्य है, उतने ही आदर से इन के साथ बर्ताव करना चाहिये । जिस दिन एक मनुष्य दूसरे मानव के साथ ऐसा परम आदरयुक्त बर्ताव करने लगेगा, उसी दिन यह मंत्र मनुष्यों के समझ में आया और आचरण में आया ऐसा समझना योग्य है । तब तक ये मंत्र केवल पाठ में ही रहेंगे । वेद चाहता तो यह है कि मनुष्य का मनुष्य के साथ बर्ताव ऐसा परम आदर से हो जैसा मनुष्य का प्रभु के साथ होना संभव है । वह प्रभु ही माता, पिता, बंधु, मित्र, पडौसी, नागरिक और सारी जनता है । यह वेद का उपदेश आचरण में लाने के लिए ही है । और आचरण में लाने का अर्थ यही है कि इन के साथ प्रभु के साथ जैसा बर्ताव करना चाहिये, वैसा ही किया जावे, अर्थात् सब प्रकार के छल कपट आचरण से दूर होने चाहिए और सरल तथा आदरपूर्वक आचरण होना चाहिए।

'विधाता' का अर्थ 'निर्माण करनेवाला, उत्पन्न करनेवाला' है और 'विधर्ता' का अर्थ 'धारण करनेवाला' है।

(११) सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद = वह सब भुवनों और स्थानों को जानता है। वह सबका निर्माता और धारणकर्ता है, इसीलिए सब को यथावत् जाननेवाला भी वही है। उस को अज्ञात ऐसा कुछ भी नहीं है। वह मातृवत् सबपर प्रेम करता है, पितृवत् सब का पालन करता है, बन्धुवत् सब की सहायता करता है, पुत्रवत् सब के साथ रहता है, ये सब गुण प्रभु में विद्यमान हैं। अतः सब प्रकार के नाते से वह सब के साथ यथायोग्य वर्ताव करता है। अतः सब को यथावत् वह जानता है। कोई उसको धोखा नहीं दे सकता। यह जानकर सब को अपने आचारका सुधार करना योग्य है।

(१२) यः देवानां नामधः, नामधा, एक एव अस्ति = वह सब देवताओं के नाम लेता है, अर्थात् सब देवों के नाम इसी प्रभु के नाम होते हैं, ऐसा यह प्रभु एक ही है। अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि जितने भी देवताओं के नाम हैं वे सब के सब नाम इसी के नाम हैं, क्योंकि उन नामों से जिन गुणोंका वर्णन होता है, वे सब गुण इसी में हैं। 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः' (ऋ. १।१६४।४६) वह एक ही सत् वस्तु है, उसी का ज्ञानीजन अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। इस मंत्र में जो कहा है, वही उक्त मंत्रभाग में कहा है। उसी एक के अनेक नाम हैं। वेद में जितनी भी देवताएं हैं, उन सब देवताओं के नाम इसी के नाम हैं। यदि यह बात मनमें आगयी तो 'सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति।' (कठ उ. ३।१२। १५) सब वेद उस एक पद का ही वर्णन करते हैं, तथा 'वेदैश्च सर्वैरहं एव वेद्यः।' (गीता १५.१५)

सब वेदों द्वारा प्रभु का ही वर्णन हो रहा है, इनका भाव समझ में आ जायगा। यदि सब देवों के नाम एक ही प्रभुके नाम हैं, तब तो यह बात सत्यही है कि सभी वेदमंत्र उसी प्रभुका वर्णन कर रहे हैं। वेद में

केवल प्रभु का ही वर्णन है यह बात यहां इस तरह सिद्ध हुई।

(१३) तं संप्रश्नं अन्या भुवना यन्ति = उस सम्यक् रीति से वर्णन करने योग्य प्रभु के पास सब अन्य भुवन पहुंचते हैं, अर्थात् उसी को प्राप्त होते हैं अथवा उसी को सदा प्राप्त हैं। 'सं-प्रश्न' जिस के विषय में प्रश्न पूछे जाते हैं, वह 'प्रश्न' है और जिस के विषय में सब के द्वारा मिलकर और बडे आदरसे प्रश्न पूछे जाते हैं वह 'सं प्रश्न' है। प्रभु ऐसा है, क्योंकि वही अद्भुत और बडा सामर्थ्यवान् है। गीता में इसी के विषय में कहा है-

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवचैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(भ० गी० २।२९)

'कोई इसको आश्चर्ययुक्त जैसा देखता है, दूसरा कोई आश्चर्ययुक्त जैसा इसका वर्णन करता है, तीसरा कोई आश्चर्ययुक्त होकर इसका वर्णन सुनता है, कोई सुनकर भी इसको यथावत् नहीं जानता।' यही भाव 'तं संप्रश्नं' पदमें है। सभी आश्चर्य और सभी अद्भुतता प्रभु में है। वह आश्चर्यमय है।

(१४) यत्र तृतीये धामन्, अमृतमानशाना देवाः, अध्यैरयन्त= जहां तृतीय धाम में, जहां स्वर्गधाम में, अमरताका उपभोग करते हुए देव रहते हैं, वही प्रभुका स्वर्गस्थान है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन धाम हैं, और द्युलोक में सब देव अमृतका अनुभव करते हुए रहते हैं। भूलोक में मृत्युका अनुभव है, यहां मृत्यु अर्थात् परिवर्तन होता रहता है। स्वर्ग में एक ही साम्यावस्था है, वह अपरिवर्तनीय अवस्था है, अतः वह सुखमय स्थिति है। भूलोक प्रथम धाम है, अन्तरिक्षलोक द्वितीय धाम है और द्युलोक तृतीय धाम है। तीन पाद ऐसा भी इनका वर्णन वेद में है।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ॥ १८ ॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥ (ऋ० १।२२।१७,१८,२०)

' इस विष्णु ने तीन स्थानों पर अपने तीन पांव रखे हैं, उन में बीचका पांव गुप्त- न दीखनेवाला- है। न दबनेवाला संरक्षक विष्णु ये तीन पाव रखता है। विष्णुका वह परम-पद सदा ज्ञानी ही द्युलोक में सूर्य के समान देखते हैं।

यहां भूमिपर एक, अन्तरिक्ष मे दूसरा और द्युलोक मे तीसरा ऐसे तीन पाव विष्णुने रखे हैं ऐसा कहा है। द्युलोक का पाँव परम पद कहलाता है। अन्तरिक्ष में जो उसका पाव है वह गुप्त है। इस से ' तृतीय धाम ' द्युलोक है यह बात स्पष्ट हो जायगी। यहाँ सब देव अमरपनका अनुभव करते हैं, अमर जीवन का अनुभव यहीं होता है। मनुष्य भी सुकृतविशेष से यहा अमर जीवनका लाभ करता है। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये—

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥

(द्यावा-पृथिवी सद्यः परि आयम्) द्युलोक से पृथिवीलोक तकका सब विश्व तत्कालही सब ओर से मैं घूम आया हूँ। और अब मैं (ऋतस्य प्रथमजा उपातिष्ठे) ऋत के पहिले प्रवर्तक के पास ठहरा हू। (वक्तरि वाचं इव) जैसी वक्ता में वाणी रहती है, उस तरह वह आत्मा (भुवने-स्था.) इस विश्व में है, (एषः धास्युः) यही सबका पोषण-कर्ता है, और (ननु अग्नि. एषः) निश्चय से अग्नि भी यही है। इस मंत्र के पाठभेद ये हैं—

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥
(वा० य० ३२।१२, काण्व ३५।९)

(द्यावापृथिवी सद्यः इत्वा) द्युलोक और पृथ्वीपर से तत्काल भ्रमण कर के तथा (लोकान् दिशः स्व. परि इत्वा) सब लोकलोकान्तरों सब

दिशाओं तथा प्रकाशलोकों के चारों ओर निरीक्षण कर के, (ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य) सत्य के धागे को उस सूत्रात्मा को ही, सर्वत्र फैला हुआ देखकर, उस देखनेवाले ने (तत् अपश्यत्) उस आत्माको देख लिया, तब (तत् अभवत्) वह वही आत्मा बन गया, क्योंकि (तत् आसीत्) पहिले वह आत्मारूप ही था। जब साधक ने सर्वत्र सूक्ष्म निरीक्षण किया, तब उसको सर्वत्र एक ही आत्मा सूत्ररूप से सब विश्वरूपी कपडे में फैला है ऐसा प्रतीत हुआ, तब उसने उस आत्माको सर्वत्र अनुभव किया और वैसा अनुभव करते हुए वह स्वयं आत्मारूप ही बन गया।

(१५) द्यावा-पृथिवी सद्यः परि आयम्। द्यावापृथिवी सद्यः परि इत्वा, लोकान् दिशः स्वः च परि इत्वा। =द्युलोक से पृथ्वीतक जितने भी लोक लोकान्तर, दिशा उपदिशाएं, तथा जो भी वस्तुमात्र हैं, जो प्रकाशित होनेवाले पदार्थ हैं उन सबका निरीक्षण किया। यह निरीक्षण एक वस्तुका निरीक्षण करने से उस जाति के सब पदार्थों का निरीक्षण होता है, इस रीतिसे किया। जैसे मिट्टी के नाना प्रकार के पात्र हों, परन्तु उन में एक ही मृत्तिका है, लोहे के नाना प्रकार के पदार्थ हों परन्तु उन में एक ही लोहा है। इस तरह निरीक्षण हो सकता है। (छां. उ. ६।१।४-६) विश्व में जितने पदार्थ हैं उतने सब देखने की जरूरत नहीं है। जिस तरह चावलों के हण्डेमें से एक दो चावल पके हैं ऐसा मालूम होने से सब हण्डे भर के चावल पक गये हैं ऐसा प्रतीत होता है, सब चावल देखने की जरूरत नहीं होती, इसी तरह मनुष्य संपूर्ण विश्व का यहां से निरीक्षण कर सकता है।

आजकल प्रकाश किरणका पृथक्करण करने के (स्पेक्ट्रम्) अनेक यन्त्र तैयार हुए हैं। इन यन्त्रों से सपूर्ण लोकलोकान्तरों में क्या क्या है इसका पता यहां बैठकर लगाया जा सकता है। इसी तरह मनुष्य यहाँ बैठकर संपूर्ण विश्वका पता लगाता है। सद्गुरु उसको इसका मार्ग बता सकता है। यह मार्ग उपनिषदों में बताया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। एकेसी वस्तुका निरीक्षण करने से उस जाति का निरीक्षण होता है। (छां०

उ० ६।१।४-६) इस रीति से सब विश्व का निरीक्षण यहां से ही किया जा सकता है।

(१६) ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठं। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य= सत्य के प्रथम उत्पन्न हुए की उपासना की. सत्य के सूत्र को चारों ओर फैला हुआ देख लिया। सब विश्वका निरीक्षण करने से पता लगा कि एक ही सूत्रात्मा सब विश्व में फैला है और उस से विश्वरूपी कपडा बन गया है। प्रथम मन्त्र के विवरण में बताया ही है कि (सः ओतः प्रोतः च विभूः प्रजासु। वा० य० ३२।८) वह सब प्रजाओं में ओतप्रोत है। वह प्रभु सब विश्व में ओतप्रोत है। विश्वरूपी कपडे में लंबाई के और चौडाई के धागे इस प्रभु के सूत्रात्मा के ही हैं। जिस तरह कपडे में धागों के बिना कुछ भी नहीं होता है उसी तरह इस विश्व में ईश्वर ही ईश्वर है, दूसरा कुछ भी नहीं है। जहां सूक्ष्म रीति से देखो वहां (ऋतस्य प्रथमजाः, ऋतस्य तन्तुः) सत्य स्वरूपी परमात्मा से निकला सूत्र-आत्मा ही है ऐसा दिखाई देता है। यही सम्यक् दर्शन है।

(१७) वक्तरि वाचं इव भुवने-ष्ठा धास्युः एषः अग्निः।

जिस तरह वक्ता में वाणी होती है, अथवा वक्ता से वाणी निकलती है, इसी तरह परमात्मा से यह सूत्रात्मा निकलता है. जो भुवनों में रहता है, अथवा जिस से भुवन बने हैं, यह अग्नि है, अग्नि के समान सर्वत्र रहता हुआ सब का धारण पोषण करता है। वक्ता में वाणी के समान परमात्मा में यह सूत्र है जिस से यह विश्व बना है ऐसा यहां कहा है। वक्ता में वाणी वक्ता का स्वरूप ही है, पृथक् नहीं होती। वक्ता से वाणी कभी पृथक् नहीं रहती, वाणी से भी वक्ता पृथक् नहीं होता। इसी तरह परमात्मा से सूत्रात्मा का संबंध है। जैसा कपास से सूत्र और सूत्र से कपडा बनता है, ठीक इस तरह परमात्मा से सूत्रात्मा और सूत्रात्मा से विश्व बना है। जिस तरह वाणी वक्ता से पृथक् नहीं होती, ठीक इस तरह सूत्रात्मा परमात्मा से पृथक् नहीं और यह विश्व भी उसी तरह परमात्मा से पृथक् नहीं है। जिस तरह कपडेमें

धागा और धागे में कपास रहता है, इस तरह इस विश्व में परमात्मा ओत प्रोत है। इस तरह यह परमात्मा भुवनोंमें स्थिर है, यही सब का धारक है

(१८) तत् अपश्यन्, तत् अभवत्, तत् आसीत्= जब साधकने उस ब्रह्म को देखा, तब वह ब्रह्मरूप बना, क्योंकि वह पहिले से ही ब्रह्मरूप था। इस विषय में एक कल्पित उदाहरण लेते हैं। कपास ने सूत्र देखा और विचार किया, तो कपास को पता लगा कि सूत्र कपास ही का बना है, सूत्र कपास ही है, यह कोई अपूर्व ज्ञान नहीं था, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से सूत्र कपास रूप ही है। स्वय कपास को पता लगा कि मैं ही सूत्र के रूप में रहता हूं। इसी तरह धागे को पता लगा कि मैं ही कपडे का रूप लेकर बस रहा हूं। यह उन्होंने देखा, तब वह तद्रूप हुआ क्योंकि पहिले हीसे वह वैसा था। अतः कहा है कि ...' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्डक ३।२।९) ब्रह्मविदाप्नोति परं।' (तै. उ. २.१.१) ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः (ध्यान ६; गीता ५।२०) ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति। (कौ. उ. १।४)= ब्रह्मका ज्ञाता स्वयं ब्रह्म बनता है। ब्रह्म जाननेवाला परब्रह्मको प्राप्त करता है। ब्रह्म जानने से वह ब्रह्म में रहता है। ब्रह्म को जानने से ब्रह्म को प्राप्त होता है। पूर्वोक्त वेद मन्त्र का आशय इन वचनों में यथावत् आया है। ' उसने उस को देखा, तब स्वयं वैसा बना, क्योंकि पहिले से ही वह वैसा था। ' सब विश्व ब्रह्मरूप है। जब कोई ब्रह्मको जानता है, तब वह अपने आपको भी ब्रह्मरूप अनुभव करता है, इसी का अर्थ वह स्वयं ब्रह्म बनता है। ब्रह्म बननेका तात्पर्य ब्रह्म न होता हुआ ब्रह्म बना ऐसा नहीं है, परन्तु वह पहिले से ही ब्रह्मरूप था, उसने अपना स्वरूप सत्य रीतिसे जान लिया और स्वयं 'मैं ब्रह्मरूप ही था' यह उसको ज्ञान हुआ। जो जैसा था उसने अपने सत्य स्वरूप को पहचाना, इतना ही इसका तात्पर्य है।

अब अन्तिम मन्त्र देखिये--

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५॥

(विश्वा भुवनानि) सब भुवनों के चारों ओर (ऋतस्य वितते के तन्तुं दृशे) सत्य के फैले हुए सुखमय धागे को देखने के लिये ही (परि आय) मैं घूम आया हूं। (यत्र) जहां (अमृतं आनशानाः देवाः) अमृतको प्राप्त करनेवाले देव (समाने योनौ) एक ही उस आश्रय स्थानमें (अधि ऐरयन्त) पहुंचते हैं।

इस मन्त्र का उत्तरार्ध तृतीय मंत्र के विवरण में दिये वा० य० के मन्त्र के उत्तरार्ध के समान ही है, अतः इसका आशय वहां बताया जैसा समझना योग्य है। ' तृतीये धामन् ' के स्थान में इस मन्त्र में ' समाने योनौ ' ये पद हैं। दोनों का आशय एक ही है। तृतीय धाम ही स्वर्गधाम है और वही सब का उत्पत्तिस्थान समान ही है। शेष मंत्रभाग का आशय तृतीय मंत्रके विवरण में है।

' ऋतस्य वितते के तन्तुं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयं= सत्य वा ऋत स्वरूप परमात्माका सर्वत्र फैला हुआ धागा जो इस विश्वभरमें फैला है, उस को देखने के लिए मैंने सब भुवनों का निरीक्षण किया है और अन्तमें वही सूत्रात्मा सर्वत्र फैला है ऐसा मैंने अनुभव किया। तब मेरा निश्चय हुआ है कि वही परमात्मा इस विश्व में ओतप्रोत हुआ है, जैसा कपडे में सूत्र ओतप्रोत हुआ होता है।

इस तरह परमात्मतत्त्व ही विश्वरूप धारण करके यहां सर्वत्र हमारे सामने खडा है, यह सदैक्य सिद्धांत इस अथर्ववेद के सूक्त में कहा है। पाठक इस का मनन करें और सदैक्य सिद्धान्त को अपनायें। यदि पाठक यह सिद्धान्त मानेंगे तो निःसंदेह द्वैतपर आश्रित सब व्यवहार सदैक्य के सिद्धांतानुसार उन को बदलने होंगे। यह कैसे किया जा सकता है इस का विचार हम आगे करेंगे। यहाँ केवल वैदिक सदैक्यवादका सिद्धांत ही अति स्पष्ट करना है। वह इस सूक्त के विवरण से किया है।

(१६)

विश्वरूप ईश्वर।

इतने लेखों से यह सिद्ध हुआ कि, इस विश्व में एक ही ' सत् तत्व ' है, उस एक ही सत् तत्व के ये इस विश्व में दीखनेवाले नाना रूप हैं, जिनके संघात का नाम ही ' विश्व ' है। यही ईश, ईश्वर, परमेश्वर, महेश्वर, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म आदि नामों से वैदिक धर्म के नाना ग्रंथों में प्रसिद्ध है।

इसका तात्पर्य यही है कि, यह विश्व ही ईश्वर का रूप है। इस कारण वेद में ईश्वर को ' विश्वरूप ' ही कहा है। वेद के नाम सार्थ होते हैं, अतः यदि वेद में ईश्वर को ' विश्वरूप ' कहा है, तब तो इस विश्व का जो रूप है, वही ईश्वर का रूप है, इस में किसी तरह का संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय के वेद मंत्र अब देखिये--

सृष्टि में प्रजापति के नामरूप।

(अथर्वा। स्कम्भः, आत्मा वा। भुरिक्)

यत् परमं अवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद्बभूव॥

(अथर्व. १०।७।८)

' जो (परमं) उच्चस्थान में स्थित अर्थात् द्युलोक में रहनेवाला, जो (मध्यमं) जो मध्यस्थान में स्थित अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में रहनेवाला और जो (अवमं) निम्नस्थान में स्थित अर्थात् भूलोक में रहनेवाला (विश्वरूपं) विश्व का रूप है, अर्थात् यहां जो कुछ भी रूप है, वह सब का सब रूप प्रजापति परमेश्वरने (ससृजे) उत्पन्न किया है। इस विश्व में सब का आधारस्तंभ यह ईश्वर (तत्र कियता प्र विवेश) कितना प्रविष्ट हुआ है, और जिस में वह प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना अवशिष्ट रहा है ?'

इस मन्त्र में (प्रजापतिः विश्वरूपं ससृजे) प्रजापति परमेश्वर ने यह विश्वरूप, नानारूपोंवाला संसार, उत्पन्न किया है और (तत्र प्रविवेश) उस में वह प्रविष्ट हुआ है, ऐसा कहा है।

> तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्।
> तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।...सत्यं चानृतं च।
> (तै० उ० २।६)

'इस विश्वका सृजन करनेके पश्चात् वह प्रजापति परमेश्वर उसमें प्रविष्ट हुआ। उस में प्रविष्ट होकर सत् और असत् जो कुछ भी है वह सब बन गया।' यह उपनिषद् का कथन इस मन्त्र के आधार पर अधिष्ठित है। अस्तु। प्रजापति परमेश्वर ने संपूर्ण विश्व निर्माण किया और वह उस में प्रविष्ट होकर विश्वरूप बन गया है, अतः जो विश्व है, वही परमेश्वर का रूप है, इस में संदेह नहीं है। इस विषय में तैत्तिरीय आरण्यक का कथन मननीय है—

> प्रजापतिः प्रजा असृजत। ताः सृष्टाः समश्लिष्यन्।
> ता रूपेणाऽनुप्राविशत्। तस्मादाहुः। रूपं वै प्रजापतिरिति।
> ता नाम्नाऽनुप्राविशत्। तस्मादाहुः। नाम वै प्रजापतिरिति।

सायनभाष्य- प्रजापतिना याः प्रजाः सृष्टाः ताः सर्वाः संश्लिष्टा अभवन्। ...तदा प्रजापतिर्विचार्य स्वयमेव रूपविशेषाकारेण नामविशेषाकारेण तासु प्रजासु प्रविष्टः। अतः एव शास्त्रज्ञा नामरूपयोः सर्ववस्तुव्याप्तिं दृष्ट्वा प्राजापत्यात्मकं तयोराहुः। (तै. आ. २।२।७)

'प्रजापति परमेश्वरने प्रजा उत्पन्न की, परन्तु वह सब मिली जुली थी। पृथक् पहचानी नहीं जाती थी। इस का विचार प्रजापति ने किया, और वह अपने निज नाम तथा रूप के साथ उन प्रजाओंमें प्रविष्ट हुआ। तब से सब प्रजाएं नामरूपधारी हुईं। अतः कहते हैं कि, नाम और रूप प्रजापति ही है।

इस तरह नाम और रूप जितना है, वह प्रजापति ही है। जो भी नाम है वह प्रजापति का नाम है और जो भी रूप है वह प्रजापति का ही रूप है। यह ' रूप ' पद ' गंध, रस, स्पर्श, शब्द ' का उपलक्षण है। अर्थात् यहां जो नाम है, तथा जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध है, वह सब प्रजापति का ही निज है। इतना स्पष्ट प्रतिपादन होने के पश्चात् और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि, सब विश्वरूप प्रजापति का ही रूप है।

यहां (प्रजापतिः विश्वरूपं ससृजे) प्रजापति ने यह सब विश्वरूप सृजन किया, ऐसा जो कहा, वह कुम्हार घडा उत्पन्न करता है वैसा नहीं है, ' स्वयं विश्वरूप बना ' इस अर्थ का यह सृजन है। इस विषय की शंका को दूर करने के लिये ही नामरूप का वर्णन ऊपर किया है। वह ध्यान में धारण करने से सृजन का आशय ध्यान में आ सकता है। प्रजापति स्वयं ही विश्वरूप हो गया, यह आशय यहां है। जिस तरह मिट्टी घडे के रूप में ढलती है, सुवर्ण जेवरों के शकलो में ढला होता है, उसी तरह परमेश्वर विश्व के नानारूपों में रहा है। यही निज नामरूप का विश्व के नाना पदार्थों को प्रदान करता है। सुवर्ण नाना जेवरों के रूपों में रहकर नाना नामों का धारण करता ही है। इसी तरह यहां समझना चाहिये। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण निम्नलिखित मन्त्र में है, जिसे पाठक अब देख सकते है—

सब मिलकर एक ही सत् है।

(कुत्सः। आत्मा। जगती)

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति,
प्राणत्, अप्राणत्, निमिषत्, च यत् भुवत्।
तत् दाधार पृथिवीं विश्वरूपम्, तत् संभूय भवत्येकं एव॥
(अथर्व १०।८।११)

(यत् एजति) जो हिलता है, (पतति) जो उड़ता है (यत् च तिष्ठति) जो ठहरा है, (प्राणत्) जो प्राण धारण करता है, (अप्राणत्) जो प्राण धारण नहीं करता, (निमिषत्) जो आंखों की पलकें हिलाता है, (यत् च भुवत्) जो होता है, जो बनता है (तत् विश्वरूपं) वह सब विश्वरूप है, यही पृथ्वी आदि का धारण करता है। (तत् संभूय) वह सब मिलकर (एकं एव भवति) एक ही तत्त्व होता है।' अर्थात् इस विश्व में कितने भी विविध पदार्थ हों, पर वे सब मिलकर एक ही तत्त्व, एक ही सत्, होता है। यद्यपि विश्व में नानापदार्थों की प्रतीति होती है, तथापि वे सब पदार्थ मिलकर एक ही सत्तत्त्व है, यह बात स्पष्टता के साथ यहां कही है।

यहां पदार्थों की विविधता, उन का पृथक् निर्देश कर के ही कही है। 'एजति' पद से जंगम पदार्थों का बोध होता है, 'पतति' से भी वही बोध मिलता, 'तिष्ठति' से स्थावर पदार्थों का बोध हो रहा है, 'प्राणत् और निमिषत्' पदों से जीव जगत् का बोध होता है, 'भुवत्' पद से जन्म लेनेवाले, उत्पत्तिवाले, सभी पदार्थों का बोध होता है। इस तरह स्थावर जंगम, सजीव निर्जीव, स्थिर और गतिमान सब एक ही तत्त्व के रूप हैं। जो लोग समझते हैं कि, जीव अन्य संसार से सर्वथा पृथक् हैं, वे गलती करते हैं, ऐसा यहां इस मन्त्र ने कहा है। सजीव और निर्जीव दोनों मिलकर एक ही 'सत्' होता है। इसी का नाम 'सदैक्यवाद' है, यही सर्वेश्वरवाद' है।

बल बढानेवाला ज्ञान।

(विश्वामित्रो गाथिनः। बृहस्पतिः। गायत्री)

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥

(ऋ० ३।६२।६)

(चर्षणीनां वृषभं) मानवों में बल देनेवाले, (अदाभ्यं) न दबनेवाले (वरेण्यं) श्रेष्ठ (विश्वरूपं बृहस्पतिं) विश्वरूपी ज्ञानपति परमेश्वर की

बल की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

बृहस्पति ज्ञान का स्वामी है, परमेश्वर ही सच्चा ज्ञानपति बृहस्पति है। वह विश्वरूपी है, अर्थात् इस संसार में जो भी कुछ है वह सब उसीका रूप है। जो है ऐसा कहा जाता है, वह सब उसी का स्वरूप है। यहां ज्ञानपति परमेश्वर को 'विश्वरूप' कहा है। विश्व में जो है वह परमेश्वर ही है। मानवों का बल बढानेवाला विश्वरूपी ईश्वर है ऐसा यहां कहा है। व्यक्तिभाव से निर्बलता होती है, समष्टिभाव से ही बल बढता है। प्रत्येक मनुष्य जो अपने आपको व्यक्तिभाव में अनुभव कर रहा है, और निर्बल मान रहा है, वहीं विश्वरूप अनुभव करेगा, तब उसकी निर्बलता दूर होगी, और वही बलवान् होने का अनुभव करेगा। यही 'अल्प और भूमा' पदोंसे उपनिषद में कहा है-

यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखं अस्ति, भूमैव सुखम्।
(छा. उ. ७।२३।१)

'जो व्यापक है वह सुख है, अल्प सुखकारक नहीं है। व्यापक अवस्था ही सुख देनेहारी है।' विश्वरूपस्थिति सर्वव्यापक स्थिति है, अत वह सुखकारक, बलवर्धक और आनन्ददायक है। व्यक्ति सत्ता अल्पत्व बतानेवाली है, अतः वह दुःखदायी है। अल्पत्व के साथ ही मृत्यु लगा रहता है। भूमा अमर अवस्था है। इस तरह विश्वरूप स्थिति श्रेष्ठ है—

विश्वरूप (भूमा)	व्यक्तिरूप (अल्प)
सर्वरूप	अल्परूप
वृषभ (बलवर्धन)	निर्बल
अदाभ्य (न दबना)	दबना
वरेण्य (वरिष्ठता)	कनिष्ठता
बृहस्पति (ज्ञानी)	अज्ञान, मिथ्या ज्ञान,

मन्त्र के पदों का विचार करने से इस तरह विश्वरूपभाव से शक्तिवर्धन और व्यक्तिरूप होने से शक्ति की क्षीणता होने का ज्ञान हो सकता है।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण विश्वरूप अवस्थाका अनुभव करते थे, अतः सामर्थ्यवान् थे और अर्जुन अपनी स्थूल शरीरावस्था में ही था, वह अपनी विश्वरूप सत्ता को नहीं जानता था, इसलिये निर्बलता का अनुभव कर रहा था। इसी तरह सब पाठक समझें। प्रत्येक पाठक अपने वैयक्तिक शरीर तक के ही जीवन का अनुभव जब तक करता रहेगा, तब तक निर्बलता का अनुभव करेगा; परन्तु जब वह अपने विश्वरूप व्यापक भाव को जानेगा और अनुभव करेगा, तब वही अपने आप को पूर्ण सामर्थ्यवान् अनुभव करेगा। हरएक पाठक का अनुष्ठान से, वेदमंत्रों के मनन से तथा वैदिक तत्वज्ञान को अपनाने से यह अधिकार हो सकता है। हरएक का महाकारण शरीर विश्वव्यापक ही है, परन्तु प्रत्येक को इस का ज्ञान नहीं है। इस विषय में देखिये—

(अयास्य आंगिरस. । बृहस्पतिः । त्रिष्टुप्)

यदा वाजं असनद् विश्वरूपं, आ द्यां अरुक्षत् उत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तः, नाना सन्तः बिभ्रतो ज्योतिः आसा ॥
(ऋ. १०।६७।१०; अथर्व. २०।९१।१०)

साधक (यदा) जब (विश्वरूपं वाजः असनत्) विश्वरूपी बल का धारण करते हैं, तब (द्यां उत्तराणि सद्म अरुक्षत्) स्वर्ग और उस के भी परे के स्थानों पर वे आरोहण करते हैं, तब वे ही (वृषभं बृहस्पतिं) बल-वर्धक ज्ञानपति परमेश्वर की (आसा वर्धयन्त.) अपने मुख से, अपनी अनुभवी वाणी से यथार्थ स्तुति करते हैं, और (नाना सन्तः) वे अनेक होने पर भी वे सब विश्वरूपी (ज्योतिः बिभ्रतः) एक ही तेज का धारण करते हैं।

इस मन्त्र में कहा है कि, विश्वरूपी ज्ञानपति परमेश्वर का ज्ञान होना ही एक बडा बलप्राप्त होना है। अपने अल्पत्व की मर्यादा इस ज्ञान से विनष्ट होती है और अपने विभुत्व का अनुभव होता है। यही ईश्वरीय भाव की प्राप्ति है। यही भूमा अवस्था का अनुभव है। विश्वरूप भाव से

बल का संवर्धन और व्यक्तिभाव से निर्बलता होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ऐसे चार देह प्रत्येक मनुष्य के रहते हैं। व्यक्तिनिष्ठ मनुष्य अपने स्थूल देह का अभिमानी होता है, यह संपूर्ण वैयक्तिक मर्यादाओं से अत्यंत मर्यादित अवस्था है। योगसमाधि में, योगनिद्रा में भी वैयक्तिक मन का लय व्यापक मन में होता है। इस ' कारण-देह ' में कार्य करनेवाले योगी अपनी बडी व्यापक सत्ता का अनुभव प्राप्त करते हैं। इसी तरह जो लोग महाकारण देह पर कार्य करते रहते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण जैसे लोकोत्तर पुरुषोत्तम विश्वरूप बनकर कार्य करते हैं। इनको कोई मर्यादा बाधित नहीं कर सकती।

विश्वरूप सर्वव्यापक महाकारण देह पर कार्य करने से बडी शक्ति मिलती है यही (विश्वरूपं बाजं) विश्वरूपी शक्ति यहां कही है। स्वर्गलोक, द्युलोक से भी परे वे अपनी शक्ति से पहुंचते हैं। अनेक या नाना मानव रहने पर भी ये एकत्व का अनुभव करते और वैसा व्यवहार भी करते हैं और अखण्ड दिव्य ज्योति को ये ही प्राप्त करते हैं।

(प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा, विश्वामित्रो गाथिनो वा। इन्द्रः। त्रिष्टुप्)

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन् श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥

(ऋ. ३।३८।४; अथर्व. ४।८।३; वा. य. ३३।२२)

अथर्ववेद में इस का पाठ ' श्रियं वसानः ' है और ' अथर्वाङ्गिरसः। विश्वरूपः। त्रिष्टुप्। ' यह ऋषि—देवता—छन्द है। इस मन्त्र का यह अर्थ है–

(आतिष्ठन्तं) सर्वत्र स्थिर रहनेवाले इस इन्द्र की, इस प्रभु की (विश्वे परि अभूषन्) सब देव शोभा बढा रहे हैं। यह (स्वरोचि) स्वयं-प्रकाशी प्रभु (श्रियः, श्रियं वसानः) अपनी शोभा को धारण करता हुआ (चरति) सर्वत्र गति करता है; सबको प्रेरणा करता है। इस (वृष्णः असु-रस्य)

बलवान् जीवन-प्रदाता प्रभु का (तद् महद् नाम) वह बड़ा यश है, अर्थात् जो यश है वह सब उसी का है। यह (विश्व-रूपः) विश्वरूपी प्रभु (अमृतानि तस्थौ) सब अमर स्थानों को, नाना सुखों को अपने अन्दर धारण करके सर्वत्र स्थिर रहता है। संपूर्ण विश्व के रूप का धारण करने पर भी उस में यत्किंचित् भी चञ्चलता नहीं होती, इतना उस का सामर्थ्य है।

इस मन्त्र में कहा है कि, इन्द्र विश्वरूपी है। अर्थात् जो विश्व में रूप है वह सब इन्द्र का है। यहां इन्द्र का अर्थ प्रभु है, सब का स्वामी है। इस प्रभु के भूषण इस विश्व में दीखनेवाले सब पदार्थ हैं अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, जल, वनस्पति, प्राणी आदि सब पदार्थ उसी की शोभा बढा रहे हैं। सब अमर भाव उसी में है।

विश्वरूप के ज्ञान से आरोग्य, दीर्घायु और सुप्रजा की प्राप्ति

(ब्रह्मा। ऋषभः। त्रिष्टुप्)

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥
(अथर्व. ९।४।२२; १८।४।६२ [उत्तरार्ध])

'(नभसः पिशङ्गरूपः) आकाश के समान तेजस्वी रंगरूपवाला (वयो धाः) बल देनेवाला (विश्व-रूपः ऐन्द्रः शुष्मः) विश्वरूपी इन्द्र का प्रभावी सामर्थ्य (नः आगन्) हमारे पास आगया है, वह (अस्मभ्यं) हमें (आयुः) दीर्घ आयुष्य, (प्रजां) उत्तम संतति, (दधत्) देता है. (पोषैः रायः च) और सब प्रकार की पोषण शक्तियों के साथ सब धन (नः अभि सचन्तां) हमें देवे।'

यहां विश्वरूपी इन्द्र का ही वर्णन है। साधकों को यह विश्वरूपी इन्द्र का सामर्थ्य प्राप्त होता है, अर्थात् वे विश्वरूपी सामर्थ्य से युक्त होते हैं, वे

स्वयं विश्वरूप बनते हैं, यह भी यहां कहा है। महाकारण शरीर संपूर्ण विश्व का एक ही है, पर उस विश्वरूपी शरीर पर कार्य करनेकी शक्ति प्रत्येकमें नहीं जाग्रत हुई होती। वह जिसकी जाग्रत होती है वह सिद्ध पुरुष, सर्व साधारण भज्ञ जन स्थूल शरीरपर कार्य करने के समान, उस महाकारण शरीर पर कार्य करता है। यही मुक्ति की स्थिति है। यही भूमा अवस्था में अवस्थान है। यही नर का नारायण होना है।

इस मन्त्र में यह विश्वरूपी सामर्थ्य प्राप्त होने से (१) दीर्घायु, (२) सुप्रजा और (३) पोषक धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। यही फल (अथर्व १०।२।२९ में) 'ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः' ब्रह्म तथा अन्य देव उस ब्रह्मज्ञानी को (१) उत्तम इंद्रिय, (२) दीर्घायु और (३) सुसंतति देते हैं, इन शब्दों से कहा है। ब्रह्मज्ञान का यही फल है। इस विषय में इन मन्त्रों को देखने से कोई संदेह नहीं रहता।

(प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, वाच्यो वा। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप्)

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्।
त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान् स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्॥
(ऋ० ३।५६।३)

(त्रि-पाजस्यः) भूमी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये जिस के तीन पेट हैं, ऐसा एक ही (वृषभः विश्वरूपः) बलवान् देव विश्वरूपी है। (उत प्रजावान्) और यही सब प्रजाओं से युक्त है अर्थात् सब प्रजाएं, सब प्राणी, उसी के हैं। यह (त्रि-उधाः) स्थूल सूक्ष्म कारण ऐसे तीनों शरीरों का पोषण करनेवाला अर्थात् तीन प्रकार के दुग्धाशयों से युक्त है, वह (पुरुध) सब का अनेक प्रकार से धारण करनेवाला है। यह (महिना-वान्) महत्व से युक्त श्रेष्ठ प्रभु (त्रि-अनीकः पत्यते) तीन बलों से युक्त होकर सर्वत्र गति करता है, अन्दर रहकर सब का संचालन करता है। (सः वृषभः) वह बलवान् है और (शश्वतीनां रेतो-धाः) शाश्वत प्रजाओं को वीर्य का प्रदान करनेवाला है।

इस मंत्र में विश्वरूपी एक देव है ऐसा कहा है। जो विश्वरूप होगा वह एक ही हो सकता है, इस में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि सब विश्व ही जिसका रूप है ऐसे अनेक देव होना असंभव ही है। विश्व एक है और उसी कारण विश्वरूप देव भी एक ही है। भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक ये इस के पेट हैं अर्थात् इन तीन पेटों में ही सब कुछ समाया है। इसी से स्पष्ट होता है कि, सब मिलकर एक ही देव है। स्थिरचर सब रूप इसी का है और इसको छोड कर और कुछ भी इस से पृथक् नहीं रहता।

(प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, वाच्यो वा। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप्)

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानां असुरत्वं एकम् ॥
(ऋ. ३।५५।१९)

(त्वष्टा सविता देवः) संसार की निर्मिति करनेवाला, संसारको प्रसवनेवाला देव (विश्वरूपः) विश्वरूप है अर्थात् उस का रूप विश्व ही है, सब विश्व ही उस का देह है। वही (प्रजाः जजान) प्रजाओं का प्रजनन करता और (पुरुधा पुपोष) प्रजाओं का अनेक प्रकार से पोषण भी करता है। (इमा विश्वा भुवनानि) ये सब भुवन (अस्य) इस प्रभु के ही रूप हैं। (देवानां) सब देवों का (महत् एक) वही बडा एक (असु-र-त्वं) जीवनसत्व प्रदान करनेवाला है।

यह मन्त्र विशेष महत्व का ज्ञान दे रहा है। 'त्वष्टा' का अर्थ तर्खाण है, जो नाना प्रकार के आकार और रूप बनाता है। 'सविता' का अर्थ प्रसवनेवाला है, अपने अन्दर से नाना प्रकार के देहोंका प्रसव जिस से होता है। जो विश्वरूपी देव है वही अपने अन्दर से नाना प्रकार रूप निर्माण करता है, और उन सब का पालनपोषण भी वही करता है, इस कारण ये सब भुवन तथा सूर्यचन्द्रादि देव इस प्रभु के ही अंग और अवयव हैं। सब देवताओं में जो विशेष सत्व है वह सब इसी प्रभु से उन में संचारित हो

रहा है। क्यों कि सब को प्रसवनेवाला यही एक प्रभु है। प्रभु के विश्वरूप का निर्णय करनेवाला यह मंत्र है, अतः यह विशेष महत्त्व का है।

(यमी। यमः। त्रिष्टुप्)

...जनिता...देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिः अस्य प्र मिनन्ति व्रतानि...।

(ऋ. १०।१०।५; अथर्व. १८।१।५)

[अथर्ववेद में इस का ऋषि अथर्वा है] (त्वष्टा सविता) रचना करनेवाला, सबका प्रसविता और (जनिता) सब का जनक (देवः) देव (विश्वरूपः) विश्वरूपी है। जो यह विश्वका रूप है वह उसी का रूप है। (अस्य व्रतानि) इस के नियमों का (नकिः प्र मिनन्ति) कोई विगाड कर नहीं सकता।

यहां 'त्वष्टा, सविता, जनिता, विश्वरूपः देवः' ये पद अत्यंत महत्व के हैं। इन में 'जनिता' पद जनक के अर्थ में है, अन्य पदों का अर्थ पूर्व मन्त्र के स्पष्टीकरण में बताया ही है। यह विश्वरूप देव इतना सामर्थ्यवान् है कि, इस के नियमों का कोई उल्लंघन कर नहीं सकता।

(मेधातिथिः काण्वः। त्वष्टा [आप्रीयः]। गायत्री)

इह त्वष्टारं अग्रियं विश्वरूपं उप ह्वये।
अस्माकं अस्तु केवलः। (ऋ. १।१३।१०)

(इह) इस प्रार्थना करने के समय (अग्रियं) मुख्य (विश्वरूपं त्वष्टारं) विश्वरूपी कारीगर की मैं (उप ह्वये) स्तुति करता हूँ। वह (केवलः अस्माकं अस्तु) केवल हमारा सहायक होवे।

यहां 'विश्वरूप त्वष्टा' देव का वर्णन है। 'केवल' पद यहां महत्त्व का है, इस का अर्थ अकेला एक, जिस के बराबर दूसरा कोई नहीं है। परिपूर्ण, असीम अकेला जो है वही 'केवल' है। 'अग्रियं' पद का अर्थ सब में मुख्य, प्रमुख, अग्रगण्य है। एक ही प्रभु इन विशेषणों के लिये योग्य है और यह मुख्य अकेला ही एक प्रभु 'विश्वरूप' है।

(गृत्समदः भार्गवः शौनकः । रुद्रः । त्रिष्टुप्)
अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्व अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन् इदं दयसे विश्वं अभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥
(ऋ. २।३३।१०)

(अर्हन् धन्व सायकानि बिभर्षि) तू योग्य होने के कारण ही धनुष्य बाण धारण करता है और युद्ध करता है। तू (अर्हन्) योग्य है इसालिये तूने (यजतं विश्वरूपं निष्कं) पूज्य विश्वरूपी हार,धारण किया है। तू (अर्हन्) योग्य है इसीलिये (अभ्वं विश्वं दयसे) इस विशाल विश्वका रक्षण करता है। हे रुद्र! (त्वत् ओजीयः न वै अस्ति) तुझ से अधिक बलवान् कोई भी नहीं है।

सूर्यचन्द्रादिकों के सुवर्णालंकार ईश्वर ने धारण किये हैं वही विश्वरूपी हार का धारणकर्ता है। जिस परमात्मा ने विश्वरूप आभूषण धारण किये हैं, वह बड़ा सामर्थ्यवान् प्रभु है, और उस से अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई भी नहीं है।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् । (वा. य. ५।३५)

(विश्वेषां देवानां स-इत्) सब देवों का एकत्रीकरण ही (विश्वरूपं ज्योतिः) विश्वरूप तेज है।

संपूर्ण जितने देव यहां हैं वे सब देव मिलकर ही यह विश्व होता है, इस विश्व के सब पदार्थ नाना प्रकार के देव हैं। ये सब देव मिलकर ही एक विश्वरूपी तेज होता है। यही विश्वरूपी तेज परमेश्वर का तेज है। सब देव परस्पर विभिन्न होने पर भी उन में जो अभिन्न एक सत्ता है वही विश्वरूपी प्रभु है। इसी में सब देवतायें समायी हैं।

विश्वरूप वस्त्र

विश्वरूपी वस्त्र की उपमा निम्न लिखित मन्त्र में कही है—

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथं आसदत्स्वः ।
वासो अग्ने विश्वरूपं सं व्ययस्व विभावसो ॥ (वा. य. ११।४०)

हे अग्ने ! तू (ज्योतिषा सह सुजातः) तेज के साथ प्रकट हुआ है, तेरा (स्वर् वरूथं शर्म) अपना प्रकाश वढानेवाली और सुखदायी है, हे स्वयं-प्रकाशी अग्ने ! तू (विश्वरूपं वासः संव्ययस्व) विश्वरूपी वस्त्र बुनकर तैयार कर।

विश्वरूप एक वस्त्र है ऐसा यहां कहा है। वस्त्र में ताना और बाना रहता है, वैसे ये देव यहां हैं। ये सब देव ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण 'ब्राह्म' कहे जाते हैं। ब्रह्म स्वयं कपास के स्थान पर है, उस कपास से बने तानेवाले के समान सब देव हैं। इनका यह विश्वरूपी वस्त्र है। जैसा कपास वस्त्ररूप बनता है, वैसा ही ब्रह्म देवतारूप बनकर विश्वरूप बनता है।

ब्रह्म	रूई (कपास)
|	|
३३ देवता (ब्राह्माः)	सूत्र (ताना+बाना)
|	|
विश्व	वस्त्र

वस्त्र की उपमा से यहां जिसका वर्णन किया है, वह बात तालिका इस से स्पष्ट हो सकती है। तथा और देखिये—

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
(वा. य. १३।४१)

(सहस्रस्य प्रतिमां) सहस्रों पदार्थों की जैसी एक प्रतिमा होती है, वैसी ही (विश्वरूपं) विश्वरूप एक ही प्रतिमा है। इस का (आदित्यं गर्भं) सूर्य गर्भ है उसको (पयसा समंग्धि) दूध की आहुतियों से सिंचित कर।

सहस्रों वस्तुओं की मिलकर एक ही प्रतिमा जो होगी वही यह विश्वरूप है। अर्थात् इस में सहस्रावधि पदार्थ हैं तो भी सब मिलकर एक ही प्रतिमा है। यहां यद्यपि वस्तु वस्तु में भेद दीखता है, तथापि तत्त्वदृष्टी से सब की एकता होने से सब सहस्रावधि वस्तुओं की मिलकर यह एक ही प्रतिमा है।

इमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। (वा. य. ९।१९)

ये द्यावापृथिवी विश्वरूपी हैं। अर्थात् द्युलोक और पृथिवी लोक इनका ही यह विश्वरूप है। पाठक यहां इस विश्वरूप में देखेंगे तो उन को पता लग जायगा कि, *इस विश्वरूप में कुछ भाग पृथ्वी के अन्तर्गत है और कुछ* भाग द्युलोक के अन्तर्गत है। बीच का अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक और पृथ्वी-लोक में विभक्त हुआ है। इस कारण द्यावापृथिवी विश्वरूपी हैं। यह स्पष्ट ही है। द्यावापृथिवी से भिन्न यहां कुछ भी नहीं है। इस विश्वरूप में कुछ भाग पृथ्वी का है, शेष भाग द्युलोक का है। इस तरह द्यावापृथिवीने विश्व का रूप धारण किया है।

विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः। (वा. य. १६।२५)

विविधरूप धारण करनेवाले तथा विश्वरूप बननेवाले रुद्र के लिये प्रणाम है। यहां अकेली रुद्रदेवता विश्वरूप बनती है ऐसा कहा है। रुद्र देवता के विश्वरूप होने का वर्णन इसी लेखमाला के क्रमांक ९ में देखिये। (यह लेख पृ० १७७ पर है। पृ० १८० में २५ वां मन्त्र है।)

विश्वरूप का अर्थ

विश्वरूप पद का अर्थ वेदने ही किया है, वह मन्त्र देखिये —

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥

(अथर्व. ९।१२ (७)।२५)

' यह सब विश्वरूप सर्वरूप है और यही गोरूप है। ' गोरूप ' का अर्थ ' *गो* ' *नाम इंद्रियों से* जो रूप ग्रहण किया जाता है वह सब रूप है, यही सब रूप विश्वरूप कहा जाता है। अर्थात् इस विश्व में जो नाना रूप या अरूप जो भी पदार्थ हैं, जो पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन बुद्धि से समझे जाते हैं, वे सब के सब विश्वरूप के अन्दर संमिलित होते हैं। '

विश्वरूप देवता

(दीर्घतमा औचथ्यः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप्)

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥
(ऋ. १।१६४।९; अथर्व. ९।१४।९)

दक्षिणा के लिये गौमाता नियुक्त हुई थी, उस का बछडा वहीं बन्धन में रखा था। वह बछडा गौ माता को देख देख कर शब्द कर रहा था। (त्रिषु योजनेषु) तीनों योजनाओं में अर्थात् तीनों लोकों में जो है, वह सब (विश्वरूप्यं) विश्वरूपी देवता के लिये अर्पण करने योग्य है।

भूः अन्तरिक्ष और द्यु इन तीन लोकों में जो भी कुछ है वह सब विश्वरूप देवता का सर्वव्यापक एक रस मधु का ही रूप है।

विश्वरूप गर्भ, त्रिपुटी का एकत्व

(अथर्वा । मधु, अश्विनौ । त्रिष्टुप्)

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥
(अथर्व ९।१।५)

देवोंने मधुकशा देवता को उत्पन्न किया (तस्या गर्भः) उस का गर्भ (विश्वरूपः अभवत्) विश्वरूप हुआ। माताने उस तरुण गर्भ को जन्मते ही परिपुष्ट किया। (स. जातः) वह प्रकट होने पर (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (वि चष्टे) विशेष रीति से देखता है।

यहां कहा है कि (१) एक मधुकशा नामक देवता है। यही मधु है। यही अपनी मधुरता के कारण सब को अपनी ओर प्रेरित करता है, अपनी ओर खींचता है। यह मधु है और सब को अपने पास खींचनेवाला है। (२) इस मधु से विश्वरूप उत्पन्न हुआ, अर्थात् सब विश्व में दीखनेवाले

पदार्थ इसी मधु ब्रह्म से उत्पन्न हुए। (३) जो उत्पन्न हुआ, उस का पालन पोषण और उन्नतीभवन यही मधुब्रह्म करता है। (४) और यही सब भुवनों को देखता है।

यही द्रष्टा है, दृश्य है और ज्ञान भी यही है, तथा ज्ञान से होनेवाला मधुर आनन्द भी यही है। त्रिपुटी का एकत्व यहां वर्णन किया है। (१) एक मधु तत्त्व है, (२) उस एक मधु तत्त्व से विश्व के नाना रूप उत्पन्न हुए, (३) उस मधुतत्त्व से ही इन सब विश्व का पालनपोषण हो रहा है (४) और वही मधु तत्त्व सब विश्व का यथायोग्य निरीक्षण कर रहा है। इस तरह ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान एक ही है। यह विशेष महत्त्व की बात यहां कही है।

विश्वरूप दूध

(अथर्वा। मधु, अश्विनौ। त्रिष्टुब्गर्भा पङ्क्तिः)

महत् पयो विश्वरूपं अस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत एति मधुकशा रराणा तत् प्राणः तदमृतं निविष्टम् ॥
(अथर्व. ९।१।२)

(अस्याः पयः) इस गौ का दूध ही (महत् विश्वरूपं) यह बडा विश्वरूप है। यह बडे (समुद्रस्य रेत.) समुद्र का जल जैसा ही है, ऐसा सब ज्ञानी (आहुः) कहते हैं। यह मधुकशा देवता सचमुच (तत् प्राणः) सब का प्राण है और यही (तत् अमृतं निविष्टं) अमृत अर्थात् सब अमरत्व संगृहीत होने के समान है।

ब्रह्मरूप एक गौ है, उस गौ से जो दूध निकल आया वही यह विश्वरूप है, अर्थात् इस विश्व में जो है, वह सब ब्रह्मरूपी गौ का दूध ही है। ब्रह्म का ही रूप यह विश्व है। यह प्राण अर्थात् जीवनरूप है और यही अमृत अर्थात् मोक्ष रूप है।

विश्वरूप यश

(कुत्स । आत्मा । त्रिष्टुप्)

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः, तस्मिन् यशो निहित विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं, ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥
(अथर्व. १०।८।९)

तिरछा मुखवाला एक लोटा उलटा करके रखा है। यही मानव का मस्तक है। इस में (विश्वरूप यश.) विश्वरूप यश रखा है, यही मस्तिष्क-मगज- है। इस मस्तिष्क में सात ऋषि-सात ज्ञानेन्द्रिय-बैठे हैं, जो इस बड़े आत्मा के रक्षक हैं।

मनुष्य का सिरही उलटा लोटा है। इस का तला ऊपर है और मुख नीचे परन्तु तिरछा है। इस लोटे के-मस्तकके-तले में विश्वरूपी यश अर्थात् मस्तिष्क अथवा मगज है। इस मस्तिष्क में संपूर्ण विश्व के नाना रूपों का ज्ञान रहता है। यदि यह मगज मनुष्य के सिर में न होता, तो विश्वरूप का ज्ञान मनुष्य को न होता। विश्वरूप ही इस परमेश्वर का यशस्वी सामर्थ्य है। यह मानो परमेश्वर का ही यश है। यह सब मानवी मस्तिष्क में समाया है। मनुष्य का मगज ही इस विश्वरूप का आकलन कर सकता है। इस मगज में दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएं, और एक मुख ये सात ऋषि ज्ञानयोग का साधन कर रहे हैं। अत यही सप्त ऋषियों का आश्रम है। ये ही सात ऋषि इस विश्वरूप के ज्ञान की रक्षा यहां कर रहे हैं।

इस मन्त्र में कहा कि ब्रह्म से जो विश्वरूप बना है, वह ब्रह्म के सामर्थ्य का प्रकटीकरण है। इस का आकलन मनुष्य का मस्तिष्क कर सकता है। मनुष्य का मस्तिष्क जिस का आकलन करता है, उतना ही विश्व उस के लिये है। न ज्यादह और न कम। इसलिये मनुष्य का मस्तिष्क ही मनुष्य का यश है। क्योंकि जैसा मनुष्य का मगज होगा, वैसा ही मनुष्य होगा।

इस मन्त्र मे कहा है कि मानवी ज्ञान मे ही ब्रह्म और उस से बने सपूर्ण और अखड विश्वरूप की स्थिति है।

रोहित का विश्वरूप

(ब्रह्मा। अध्यात्मं, रोहितः, आदित्यः । भुरिक्)

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं, समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना, सं ते राष्ट्रं अनक्तु पयसा घृतेन ॥
(अथर्व. १३।१।८)

(प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाणः) अंकुर और पौधों को इकट्ठा करनेवाला (रोहितः) रोहित देव (विश्वरूपं वि अमृशत्) सब विश्वरूप का विमर्श करता है। वह अपने बडे महिमा से द्युलोक पर चढकर तेरे राष्ट्र को दूध और घी देवे।

जो एक देव द्युलोक पर चढता है, अर्थात् जो स्वर्गलोक में विराजमान होता है, वह अपने विचार में बीज, अंकुर और पौधों को इकट्ठा लेता है। यही विश्वरूप का विमर्श है। यही विश्वरूप का विचार है। अंकुर, बीज, पौधा, वृक्ष, शाखा, पत्ते, टहनियां, फूल, फल इन पदों से प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से पृथक् दीखती है। बीज अंकुर नहीं, पौधा वृक्ष नहीं, शाखा टहनी नहीं, फूल फल नहीं। ये सब पदार्थ परस्पर पृथक् हैं। यह विभक्तीकरण की एक दृष्टि है। परन्तु दूसरी (समाकुर्वाणः) संगतिकरण की एक दृष्टि है, उस दृष्टि से उक्त सभी पदार्थ ' वृक्ष ' के एक ही रूप में समाविष्ट हो जाते हैं। यही विश्वरूप दृष्टी है। इस दृष्टी से पृथ्वी, जल, वनस्पति, मानव, पशु, पक्षी, वायु, मेघ, वृष्टी, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये सब ' विश्वरूपी सत् ' में संमिलित हुए हैं। एक दृष्टी विभक्तीकरण की है और दूसरी संगतिकरण की है। विश्वरूप में अनेक विभिन्न पदार्थ होते हुए भी समीकरण की दृष्टी से विश्वरूप एक ही सत् है, यह सत्य प्रकट होता है। (समाकुर्वाणः विश्वरूपं व्यमृशत्) समीकरण करनेवाला विश्वरूप एक है, ऐसा विचार द्वारा जानता है, परन्तु जो (विषमीकुर्वाणः) विषम भाव से देखेगा, वह प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् देखेगा।

इस तरह इस मंत्र में विश्वरूप के साक्षात्कार की दिव्य दृष्टि ' समाकुर्वाण ' पद से दर्शायी है। यह पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यहां तक हमने ' विश्वरूपी प्रभु ' का वर्णन करनेवाले अनेक मंत्र दिये हैं। ये विश्वरूपी प्रभु का वर्णन तो कर ही रहे हैं, परन्तु साथ ही साथ विश्वरूप प्रभु के साक्षात्कार की दिव्यदृष्टी भी बता रहे हैं। पाठक इस दृष्टी से इन मन्त्रों का विचार करें। पाठकों की सुविधा के लिये हम पूर्वोक्त मंत्रों में आनेवाले विशेष मननीय मन्त्रांशों को यहा रख देते हैं—

१ प्रजापतिः विश्वरूपं ससृजे, तत्र प्राविवेश।=

(अथर्व. १०।७।८)

प्रजापति ने विश्वरूप का सृजन किया और उस में वह स्वयं प्रविष्ट हुआ।

२ प्रजापतिः प्रजा असृजत...ता रूपेण...नाम्नाऽनुप्राविशत। रूपं .नाम ..वै प्रजापतिः। (तै. ब्रा. २।२।७)

प्रजापति ने प्रजाओं का सृजन किया और अपने रूप तथा नाम से वही उस में प्रविष्ट हुआ। नाम और रूप प्रजापति ही हैं।

३ एजत्, पतत्, तिष्ठत्, प्राणत्, अप्राणत्, निमिषत्, भुवत्, विश्वरूपं, संभूय, एक एव भवति।

(अथर्व. १०।८।११)

कांपने, उडने, ठहरने, प्राण धारण करने, प्राण धारण न करने, निमेषोन्मेष करने और बननेवाला जो है, वह विश्वरूप है, वह सब मिलकर एक ही तत्त्व है।

४ विश्वरूपं चर्षणीनां वृषभं। (ऋ. ६।६२।६)

विश्वरूप सब मानवों का बल बढानेवाला है।

५ विश्वरूप वाजं असनत्, द्यां आ अरुक्षत्।

(ऋ. १०।६७।१०)

जो साधक विश्वरूप का बल प्राप्त करता है, वह स्वर्गधाम पर चढता है।

६ विश्वरूपः अमृतानि तस्थौ। (ऋ. ३।३८।४)

विश्वरूपी प्रभु के पास सब प्रकार के अमृत हैं।

७ ऐन्द्रः विश्वरूपः शुष्मः अस्मभ्यं आयुः प्रजां रायः च दधत्। (अथर्व. ९।४।२२)

प्रभु का विश्वरूपी बल हमें दीर्घायु, सुप्रजा और धन देता है।

८ विश्वरूपः वृषभः त्रिपाजस्यः स शश्वतीनां रेतोधा वृषभः। (ऋ. ३।५६।३)

प्रभु का विश्वरूप बल देनेवाला है और वह तीनों भुवनों में फैला है, वह शाश्वत प्रजाओं में वीर्य और ओज भर देता है।

९ सविता देवः विश्वरूपः प्रजाः जजान, पुपोष च। (ऋ. ३।५५।१९)

प्रभु विश्वरूपी है, वह अपने में से सब प्रजाओं को निर्माण करता है और उन का पालन पोषण करता है।

१० सविता देव विश्वरूपः जनिता, अस्य व्रतानि न किः प्रमिनाति। (ऋ. १०।१०।५)

विश्वरूपी प्रभु सब का जनक है, कोई भी उस के नियमों का उल्लंघन कर नहीं सकता।

११ विश्वरूपं अग्रियं त्वष्टारं उप ह्वये। (ऋ. १।१३।१०)

विश्वरूपी पहिले कारीगर की मैं स्तुति करता हूं।

१२ विश्वरूपं यजतं। (ऋ. २।३३।१०)

विश्वरूपी प्रभु ही पूजनीय है।

१३ विश्वरूपं ज्योतिः विश्वेषां देवानां समित्। (वा. य. ५।३५)

विश्वरूप प्रभु की ज्योति सब देवों का इकट्ठा हुआ तेज है।

१४ विश्वरूपं वासः। (वा. य. ११।४०)

विश्वरूपी एक वस्त्र है। (इस में सब देव ताने बाने हैं जो ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं)

१५ सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपं। (वा. य. १३।४१)

सहस्रों पदार्थों की एक प्रतिमा ही विश्वरूप प्रभु है।

१६ द्यावा-पृथिवी विश्वरूपे। (वा. य. ९।१९)

ये द्युलोक और पृथिवी ये ही विश्वरूप हैं। (द्युलोक से पृथ्वीपर्यंत जो है वह विश्वरूप है)

१७ विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपं। (अथर्व. ९।१२।२५)

जो विश्वरूप कहते हैं वही सब रूप है और वही सब इंद्रियों के अनुभव में आनेवाला है।

१८ त्रिषु योजनेषु विश्वरूप्यं। (ऋ. १।१६४।९)

तीनों लोकों में जो है वह सब विश्वरूप है।

१९ विश्वरूपः विश्वा भुवना वि चष्टे॥ (अथर्व. ९।१।५)

विश्वरूप प्रभु सब भुवनों को देखता है।

२० अस्याः पयः विश्वरूपं, तत् प्राणः अमृतं। (अथर्व. ९।१।२)

(ब्रह्मरूपी) गौ का दूध ही यह विश्वरूप है वह सब को जीवन देता और अमरत्व भी देता है।

२१ विश्वरूपं यशः। (अथर्व. १०।८।९)

विश्वरूप यश है।

२२ प्ररुहो रुहः च समाकुर्वाणः विश्वरूपं व्यमृशत्।

(अथर्व. १३।१।८)

अंकुर और पौधे को इकट्ठा देखनेवाला ही विश्वरूप प्रभु का विमर्श कर सकता है।

ये सब मन्त्रभाग मनन करनेयोग्य हैं। इन का ठीक मनन होने से 'परमेश्वर के विश्वरूप' की ठीक ठीक कल्पना आ सकती है। पाठक इन मन्त्रभागों का विचार करें और विश्वरूप को यथावत् समझने का यत्न करें,

क्योंकि वैदिकधर्म का संपूर्ण आचार विचार सर्वथा विश्वरूप के यथावत् ज्ञान पर अवलम्बित है।

एक देवता के अनेक नाम

पूर्वोक्त मन्त्रों में जिन देवताओं के विश्वरूप का वर्णन हुआ है, वे देवता निम्नलिखित हैं–

आत्मा, स्कम्भ (आधारस्तम्भ) बृहस्पतिः, इंद्रः, ऋषभः, वृषभः, त्वष्टा, सविता, देवः, आग्नेयः (अग्निः) रुद्रः, आदित्यः, द्यावा-पृथिवी, गौः, मधु, अश्विनौ, रोहितः, अध्यात्म

इतने देवताओं के वर्णनपरक मन्त्रों में विश्वरूप का वर्णन है। इतने देव विश्व के रूप में प्रकट हुए हैं, ऐसा यहां कहा है। ये सब नाम एक ही आत्मा के नाम हैं, यह बात सब पाठक जानते हैं।

एकं सत् विप्रा बहुधा वदंति, अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः।
(ऋ. १।१६४।४६; अथर्व० ९।१०।२८)

' एक ही सत् है, जिस का वर्णन ज्ञानी अग्नि, यम, वायु आदि नामों से करते हैं। ' यह वेदका नियम है, अर्थात् ' एक सत् ' आत्मा ही है और उसी के लिये इंद्रादि नाम प्रयुक्त होते हैं।

मंत्र-द्रष्टा ऋषि

इन विश्वरूप वर्णन के मंत्रों के द्रष्टा ऋषि ये हैं–अथर्वा, कुत्सः, विश्वामित्रः, अयास्यः, प्रजापतिः, ब्रह्मा, यमी, मेधातिथिः, गृत्समदः, दीर्घतमाः। इन ऋषियों के मंत्रों में विश्वरूप देवता का वर्णन है। अर्थात् यह विश्वरूप देवता की कल्पना किसी एक ऋषिने देखी, ऐसी बात नहीं, अपि तु अनेक ऋषियों ने इस का अनुभव लिया है।

पूर्वस्थान में जिन देवताओं और ऋषियों के मन्त्र लिखे हैं, उतने ही मंत्र इस विषय का प्रतिपादन करनेवाले हैं, ऐसा समझना अशुद्ध होगा। प्रायः सभी देवताओं के और प्रायः सभी ऋषियों के मंत्रों में विश्वरूप

देवता का वर्णन है। ऐसे देवता और ऋषि अत्यन्त थोडे होंगे कि, जिन में विश्वरूप देवता का उल्लेख नहीं है। अतः विश्वरूप देवता का वर्णन वैदिक सिद्धांत के रूप में ही मानना उचित है। सर्वेश्वरवाद अथवा सैक्यवाद वेदका मुख्य सिद्धांत ही है। इसीलिये अनेक देवताओं के मंत्रों में तथा अनेक ऋषियों के मंत्रों में विश्वरूप देवता का वर्णन आता है।

इस तरह यह सब विश्वरूप एक ही आत्मा का रूप है। विश्वरूप का अर्थ 'देवता रूप' ही है। जितने पदार्थ हैं वे सब के सब देवता के ही रूप हैं, और सब देवता आत्मा के रूप हैं, अतः आत्मा का ही यह सब विश्वरूप है। अब पूर्वोक्त मंत्रों का संक्षेप से आशय यहां बताते हैं—

पूर्वोक्त मन्त्रोंका तात्पर्य

इस विश्व में जो पदार्थमात्र आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर है, वह सब परमेश्वर का स्वरूप है। सब सृष्टि की उत्पत्ति करके वही परमेश्वर सृष्टी के नामरूपों में घुस गया है। ये सब नामरूप उसी के हैं इस कारण जो नाम और जो रूप आप के सामने आ जाय, वह परमेश्वर का है, ऐसा मानो। (अथर्व. १०।७।८; तै. आ. २।२।७)

जो जंगम पदार्थ चलते, उडते, श्वास लेते, आंखें खोलते हैं, जो स्थावर पदार्थ अपने स्थान पर ठहरते हैं, अथवा जो स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब मिलकर परमेश्वर का रूप होता है, ये सब विभिन्न पदार्थ मिलकर एक ही 'सत्' होता है। (अथर्व. १०।८।११)

विश्वरूपी एक सत् का ज्ञान होने से मानवों का बल बढता है, जिन को यह ज्ञान होता है वे श्रेष्ठ होते हैं और इनको कोई दबा नहीं सकता। (ऋ. ४।६२।६)

जो मानव विश्वरूपी एक सत्तत्त्व का यथावत् ज्ञान प्राप्त करता है वह स्वर्ग में जाता है और उससे भी उच्चतम लोक में वह पहुंचता है। वही अपने अनुभव से परमेश्वर का यथावत् वर्णन करता है। वह नाना पदार्थों

में एक ही ज्योति की सत्ता देखता है। (ऋ. १०।६७।१०; अथर्व. २०।९१।१०)

विश्वरूपी परमेश्वर के शरीर के सूर्यचन्द्रादि देव भूषण हैं। वह एक देव स्वयप्रकाश है, वही सब का जीवनदाता है, और उसी के पास सब अमर-भाव नित्य रहते हैं। (ऋ. ३।३८।४, अथर्व ४।८।३, वा य ३३।१२)

आकाश के समान एक ही देव है, वह अपने बल से विश्वरूप बनता है। सब का बलदाता यही है। यही सब को दीर्घायु, सुप्रजा और पोषण करनेवाला धन देता है। (अथर्व ९।४।२२)

विश्वरूपी देव के तीन पेट भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु ये लोक हैं, इसी की सब प्रजा है। यही अपने पोषक रस से सब का पोषण करता है। यह महत्त्ववान् और सामर्थ्यवान् है। शाश्वत काल से सब प्रजाओं को यही बल देता है। (ऋ ३।५६।३)

विश्वरूपी देव सब का उत्पन्न कर्ता है और वही सब का पोषणकर्ता भी है। सब भुवन इसी के अर्थात् इसी से बने हैं सब देवों को यही एक जीवन देता है। (ऋ ३।५५।१९)

विश्वरूप परमेश्वर सब का सृजन करनेवाला है। वह इतना सामर्थ्यवान् है कि, कोई इस के नियमों का उल्लंघन कर नहीं सकता। (ऋ १०।१०।५, अथर्व १८।१।५)

विश्वरूपी देव प्रथम उपास्य है, उसका मैं वर्णन करता हू। वह हमारे लिये सहायक होवे। (ऋ १।१३।१०)

ईश्वर ही सब प्रकार से आदर के लिये योग्य है। उस का यह सब विश्व-रूप पूजनीय है। इस देवता से अधिक समर्थ दूसरा कोई नहीं है। (ऋ २।३३।१०)

तेजस्वी देव विश्वरूपी वस्त्र बुनता है। (वा य ११।४०)

सहस्रों वस्तुओं की जो एक प्रतिमा है वही विश्वरूप देव है।

(वा य १३।४१)

द्युलोक से पृथ्वीपर्यन्त जो है वही विश्वरूप है। (वा. ९।१९)
जो इंद्रियगोचर है वह सब विश्वरूप है। (अथर्व. ९।१२।२५)

ईश्वर के गर्भ से विश्वरूप प्रकट होता है, उत्पन्न होने के पश्चात् ईश्वर ही उस का पालन करता है और वही विश्वरूप में समाविष्ट सब भुवनों का निरीक्षण भी करता है। (अथर्व. ९।१।५)

ईश्वर गौ है उस का दूध ही यह विश्वरूप है, अतः यह विश्वरूप सब को जीवन और अमरत्व देता है। (अथर्व. ९।१।२)

मनुष्य के मस्तिष्क में इस विश्वरूप का ज्ञान समाविष्ट होता है।
(अथर्व. १०।८।९)

सब का एकीकरण करने की दृष्टि से विश्वरूप की एक सत्ता का अनुभव आता है। जो यह अनुभव लेता है वह स्वर्ग पर आरोहण करता है।
(अथर्व. १३।१।८)

पूर्वोक्त मंत्रों का मुख्य भाव यहां इसलिये बताया है कि, पाठक इस का वारंवार मनन करें, पूर्वापर संबंध देखें, पूर्वस्थान में जो पदों का अर्थ दिया है, उस का विचार करें, पश्चात् ' विश्वरूप ' के जो सूचक मन्त्रभाग दिये हैं उन का अवलोकन करें और भावार्थ का मनन करें, और वेद के इस ' विश्वरूप परमेश्वर ' का स्वरूप ठीक तरह समझने का यत्न करें। यह वेद का मुख्य सिद्धान्त होने से और वैदिक धर्म द्वारा समाज का जो व्यवहार निश्चित होना है, उस के लिये इस सिद्धांत के ठीक तरह पता लगने की अत्यंत आवश्यकता होने से इस विषय में इतना विशेष रीति से लिखा जा रहा है।

ऐसा भी संभव होगा कि, कई पाठक विशेष विचार करनेपर इस निश्चय पर पहुंच सकते हैं कि, इनमेंसे कुछ मन्त्र विश्वरूप देवता का विचार पूर्ण अंश से करनेवाले नहीं हैं। इसलिये इन मन्त्रों को यहां से हटाना चाहिये। ऐसे गौण अर्थवाले मन्त्रों को हटा देनेपर भी जो मन्त्र शेष रहेंगे, वे 'परमेश्वर विश्वरूप' है, यही बात सिद्ध करेंगे। यहां प्रश्न यह नहीं है कि, परमेश्वर

के विश्वरूप का उपदेश करनेवाले मन्त्र संख्या में कितने हैं। विश्वरूप का विचार करनेवाले मन्त्र थोडे हों, अथवा अधिक हों, मंत्रों में 'परमेश्वर विश्वरूपी है' यह बात कही है, वा नहीं कही है, यही विचार करने का विषय है।

हमारे मत से पूर्वोक्त मन्त्र परमेश्वर के विश्वरूप का उपदेश करनेवाले हैं। और इन मत्रों ने परमेश्वर विश्वरूप है यह बात सिद्ध की है। विश्व में जो शब्द स्पर्श रूप रस गंध हैं उनका दर्शन हमारे इन्द्रिय करते हैं। यही विश्वरूप का अनुभव है। मनुष्य इस विश्वरूप का अनुभव कर रहे हैं। यह विश्व परमेश्वर का व्यक्तरूप है और इसी विश्वरूप परमेश्वर की सेवा करना मानव का धर्म है।

विश्वरूप परमेश्वर का यही तात्पर्य है। मनुष्य दिन रात इसी परमेश्वरीय विश्वरूप में विचर रहा है, इसी से सब व्यवहार कर रहा है और स्वयं इस विश्वरूप का वह एक अंश ही है।

ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः। (गीता ५।२०)

ब्रह्म का ज्ञान जिसको प्राप्त होता है, वह अपने आप को ब्रह्ममें अवस्थित देखता है। इसका अनुभव पाठक यहां कर सकते हैं।

प्रत्येक पाठक इस विश्व में है, वह विश्व का अंश है, विश्व के रूप के साथ उस का रूप मिला जुला है, विश्वरूप से वह पृथक् नहीं है। यदि विश्वरूप परमेश्वर का ही रूप है, तब तो यह बात नितान्त निश्चित ही है, कि प्रत्येक पाठक परमेश्वर के स्वरूप में अवस्थित है और वह परमेश्वर का अंश है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः। (गीता)' मेरा एक अंश जीव बना है, यह गीता वचन सत्य है, यह बात यहां निर्णीतसी होती है। पाठक इस का अनुभव करें।

अस्तु, यहां तक परमेश्वर का ही निजरूप यह विश्व का रूप है, तथा जो विश्व का रूप है, वही परमेश्वर का देह है, जिस में सब पाठक संमि-

लिए हैं, इतनी बात यहां सिद्ध हुई। विश्वरूप का अर्थ 'सर्वरूप, अनंतरूप, बहुरूप, गोचररूप' है। यह अर्थ इस पद का निश्चित होने के पश्चात्, यही पद गौण अर्थ में 'अनेक रूपों से युक्त' इस अर्थ में वेद में प्रयुक्त हुआ दीखता है। ये मन्त्रभाग अब हम यहां देखते हैं—

१ सुकिंशुकं हिरण्यवर्णं सुचक्रं विश्वरूपं (रथं) आरोह।
(ऋ. १०।८५।२०; अथर्व. १४।१।६१)=

उत्तम वर्णों से युक्त सुनहरी और उत्तम चक्रवाले, अनेक रंगरूपवाले (रथ) पर चढ।

२ त्वाष्ट्रं विश्वरूपं- (ऋ. २।११।१९) त्वाष्ट्रस्य विश्वरूपस्य (ऋ. १०।८।९)=

त्वष्टा द्वारा निर्मित बहुत रूप।

३ पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति, पतिभ्यः स्योनं-
(अथर्व. १४।२।१२)

एकत्र लाया जो नाना प्रकार के रूपवाला दहेज है वह पति के लिये सुखकारी हो।

४ वेदा विश्वरूपाः। (अथर्व. ४।३५।६)
वेद अनेक प्रकार के हैं।

५ अस्य विश्वरूपाः स्तीर्णाः। (ऋ. ३।१।७)=
इस (अग्नि) के नाना प्रकार के रंगरूपवाले किरण फैले हैं।

६ जिगत्नवः विश्वरूपाः। (ऋ. १०।७८।४)=
प्रगतिशील अनेक रूपवाले (मरुत्) हैं।

७ विश्वरूपः सोमः। (ऋ. ६।४१।३)=
अनेक रंगरूपवाला सोम है।

८ यत् पृथिव्यां...अन्तरिक्षे...दिवि...देवेषु...
लोकेषु विश्वरूपं। (अथर्व. ९।११।७—११)=

जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, देव और लोकों में नाना प्रकार के रूप हैं।

९ विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय। (अथर्व. २।३०।४),
विश्वरूपां वधूं (अथर्व १०।१।१);
विश्वरूपा (नारी) पत्या संभव इह। (अथर्व. १४।२।३२) =

अनेक रंगरूप वेषभूषावाली कन्याओं का मन आकर्षित कर; अनेक रूपवाली वधू यह है; अनेक प्रकार की वेषभूषा करनेवाली यह स्त्री पति से संगत हो।

१० एताः द्वारः सुभगाः विश्वरूपाः। (वा. य, २९१५) =
ये सुन्दर द्वार अनेक प्रकार के रूपोंवाले हैं।

११ बभ्रुं कृष्णां विश्वरूपां रोहिणीं भूमिं अध्यष्ठां (अथर्व १२।१।११) =

भूरे और काले ऐसे नाना प्रकार के रंगरूपवाली उपजाऊ भूमि पर मैं अध्यक्ष होऊंगा।

१२ विश्वरूपा ओषधीः। (ऋ. ५।८३।५; १०।८८।१०) = अनेक रंग-रूप-आकारवाली औषधियां होती हैं।

१३ विश्वरूपा ओषधयः पृथक् जायन्तां, विश्वरूपा वीरुधः भूमिं महयन्तु। (अथर्व. ४।१५।२-३) =

नाना प्रकार की रंगरूपवाली औषधि वनस्पतियां भूमि पर उपजें और भूमि की महिमा बढा देवें।

१४ विश्वरूपां सुभगां जीवलां आवदामि। (अथर्व. ६।५९।३)=

अनेक रंगरूपवाली भाग्यशाली दीर्घायु बनानेवाली औषधि का वर्णन करता हूं।

१५ विश्वरूपान् वाजान् जयेम। (अथर्व. १३।१।२२) =
अनेक रंगरूपवाले अन्न विजय करके प्राप्त करेंगे।

१६ विश्वरूपं सारंगं अर्जुनं कार्मि शृणामि। (अथर्व. २।३२।२)=

अनेक रंगरूपवाला चितकबरा तथा श्वेत कीडा है उस का मैं नाश करता हूं।

१७ विश्वरूपाः क्रिमयः। (अथर्व ५।२३।५) = अनेक रंगरूपवाले कृमी होते हैं।

१८ विश्वरूपां उपाजत। (ऋ. १।१६१।६) = अनेक रंगवाली गौ को प्राप्त किया।

१९ विश्वरूपां धेनुं चक्रुः (ऋ. ४।३३।८) = अनेक रंगरूपवाली धेनु को (ऋभुओं ने) बनाया।

२० भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त। (अथर्व. ३।२८।१)= भूतों को बनानेवाले देवों ने नाना रंगरूपवाली गौवें निर्माण कीं।

२१ विश्वरूपा धेनुः मे कामदुघा अस्तु। (अथर्व. ४।३४।८; ९।५।१०) = अनेक रंगवाली धेनु मेरी इच्छा के अनुसार दूध देवे।

२२ विश्वरूपी गौ मा आविश। (वा. य. ३।२२) = अनेक रूपवाली गौ मुझे प्राप्त होवे।

२३ विश्वरूपेभिः अश्वैः इह आयातु। (ऋ. १०।७०।२) = अनेक रंगरूपवाले घोडों को जोतकर वह यहां आवे।

२४ विश्वरूपः अजः मेम्यत्। (ऋ. १।१६२।२; वा. य. २५।२५) = अनेक रंगरूपवाला बकरा शब्द करता है।

२५ विश्वरूपं अजं प्रोर्णुहि। (अथर्व. ४।१४।९) = अनेक रंगी बकरों को आच्छादित कर।

२६ विश्वरूपाः पशवः। (ऋ. ८।१००।११);
विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवः। (अथर्व. ९।७।२६);
ग्राम्याः पशवो विश्वरूपाः। (अथर्व. ३।१०।६; २।३४।४);
विश्वरूपैः पशुभिः नः पृणीहि। (अथर्व. १७।१।६-१९;४४)= अनेक रंगरूप और आकार के पशु ग्राम में होते हैं।

२७ विश्वरूपा वाहिनी। (अथर्व. १०।१।२, १५;२४)=

अनेक प्रकार के सैनिकों की यह सेना शत्रु का नाश करनेवाली है।

यहा तक चारों वेदों में करीब करीब ६० वार 'विश्वरूप पद' आया है और सर्वत्र इस का अर्थ 'अनेक विभिन्न रगरूप और आकारवाला' ऐसा है। इसका प्रयोग यहा 'रथ, कारीगरोके पदार्थ, दहेज, वेद, किरण, वीर मरुत्, सोमवल्ली, त्रिलोकी क पदार्थ, कन्या, नारी, वधू, द्वार, भूमि, औषधि, वनस्पति, अन्न, क्रिमी, गौ, धेनु, अश्व, वकरा, पशु, सेना इन क विशेषण क लिये यह 'विश्वरूप' पद आया है और पाठकों ने देखा है कि सर्वत्र 'अनेक रगरूप आकारवाला' ऐसा ही अर्थ है। इस पद का यह अर्थ गौण है। मुख्य अर्थ 'विश्व में समाविष्ट सब पदार्थ' ऐसा है, और वह इस लेख के प्रारभ में २२ मत्रों में बताया है। यह अर्थ मुख्य वृत्ति से परमेश्वर पर लगता है और गौण वृत्ति से सब अन्य पदार्थों क विशेषण अर्थात् गुण वर्णन के लिये प्रयुक्त होता है।

इस से पाठकों क मन में 'विश्वरूपी परमेश्वर' का वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से आ जायगा। चारों वेदों के सब मन्त्र यहा हमने इसलिये दिये हैं कि, विश्वरूप पदवाले मुख्य और गौण वृत्तिवाले चारों वेदों क सब मन्त्र पाठकों के सामने आजायँ, यहां हमने एक भी मन्त्र इस लिये छिपाया नहीं है, कि सपूर्ण वेद का यह सिद्धान्त पाठकों के सामने स्पष्ट रूप से आजाय, और वेद का यह मुख्य सिद्धात बिलकुल स्पष्ट हो जाय।

परमेश्वर अदृश्य है यह कल्पना असत्य है। परमेश्वर का देह ही यह सपूर्ण विश्व है। अत परमेश्वर विश्वरूप है। इस सपूर्ण विश्व में जो भी कुछ पदार्थ हैं, वे सब परमेश्वर क विराट देह क अश हैं, सब मानव उसी क देह के अश हैं, सब पाठक परमेश्वर के देह में अशरूप से रहे हैं। पाठक प्रतिक्षण जो व्यवहार कर रहे हैं, वह परमेश्वर के रूपों के साथ ही कर रहे हैं। पाठक विचार करें कि वे जो छलकपट कर रहे हैं वह साक्षात् परमेश्वर से ही छल कपट कर रहे हैं।

मनुष्य भ्रम से समझ रहा है कि, यह ससार तुच्छ है, यह ससार पर-

मेश्वर से भिन्न है, परमेश्वर प्राप्ति के लिये इस जगत् का त्याग करना चाहिये इ० इ०, जो अवैदिक विचार पाठकों के मन में इस समय हैं, और जिन अवैदिक विचारों को वेद प्रचार करनेवाले उपदेशक भी वारवार दुहरा रहे हैं, और पाठकों के मनो में अवैदिक विचारों को सुस्थिर करने का यत्न कर रहे हैं, वे सब अवैदिक विचार हैं, वे सब त्याज्य हैं और वेद के धर्म से दूर ले जानेवाले विचार हैं।

वेद कहता है कि 'यह सब विश्व परमेश्वर का रूप है,' परमेश्वर का महात्म्य इस विश्व में विश्वरूप से प्रकट हुआ है, प्रत्यक्ष परमेश्वर ही विश्वरूप होकर हमारे सामने खडा है, स्वकर्म से उस की सेवा करना ही मानव का 'सनातन धर्म' है। 'सना' का अर्थ 'सेवा' है, 'तन' का अर्थ 'विस्तार' है। परमेश्वर के विश्वरूप की सेवा का विस्तार करनेवाला वैदिक धर्म है। इसे पाठक यहा देखें।

ब्रह्म का यह विश्वरूप है। अत यह विश्व हीन तुच्छ और त्याज्य नहीं है। यह विश्वरूपी ससेव्य है। इस समय विश्व को जेलखाना, बधन, मोहका कारण आदि जो बताया जाता है, वह सब अवैदिक भाव है। वैदिक धर्म की दृष्टी से जन्म प्राप्त होना बधन मे पडना नहीं है, जन्म से तो परमेश्वर के स्वरूप में अपना निवास होता है, परमेश्वर के महाकार्य की योजना में अपने आप का समर्पण करने का वह एक अत्यत उत्तम अवसर है। अत वैदिक धर्मी जन्मका स्वागत करता है। अन्य मतवाले जन्म से घबराते, जगत् को बधन मानते, विश्व को तुच्छ समझते और यहा से भागने का उपदेश करते हुए जनता में भ्रम फैला रहे हैं, वैदिक ईश्वर से जनता को दूर ले जा रहे हैं। इन सब अवैदिक मतों का निरसन वेद के 'विश्वरूप परमेश्वर' के वर्णन ने किया है। जो पाठक इस विश्वरूप को ठीक तरह जानेंगे, वे अवैदिक उपदेशों के भ्रमजाल को तत्काल दूर फेंक देंगे। यह है विश्वरूप के यथार्थ ज्ञान का फल। जो जानने का यत्न करेंगे, वे ही लाभ उठायेंगे और वैदिक धर्म की जाग्रति करने के अग्रगामी सैनिक होंगे।

---

(१८)

उपमाओंका विचार

अथर्ववेद के 'स्कम्भसूक्त' (अथर्व. १०।७ पृ० २२२ देखो) का विचार किया और बताया कि वेद का तत्त्वज्ञान 'सदैक्य' का प्रतिपादन करता है। 'सदैक्य' ही वेद का रहस्यवाद है। स्कम्भसूक्त में यह रहस्य उपमाओं से उत्तम रीतिसे समझा दिया गया है। इन उपमाओं का थोडासा अधिक विचार इस लेख में करना है; क्योंकि उपमा का यथायोग्य ज्ञान होने से ही तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त विदित हो सकते हैं। इसलिये इन उपमाओं का यहां थोडासा अधिक विचार करना है। इस सूक्त में मुख्य विषय ये हैं, (१) एक 'वस्त्र' की और (२) दूसरी 'वृक्ष' की। इनके अतिरिक्त, (३) स्तंभ, (४) 'काल,' (५) एक का 'सहस्रधा विभक्त' होना, (६) सब इंद्रियों से सदा 'इकट्ठा बलिसमर्पण' होना, (७) पिण्ड-ब्रह्माण्ड का एकत्व, (८) सत् और असत् का एकत्व, (९) अंग-प्रत्यंगों में देवताओं के अनुभव और (१०) स्वराज्यप्राप्ति, इतने महत्त्वपूर्ण विषय इस सूक्त में आये हैं। इन सब का विशेष विचार करना चाहिये। तथापि हम इस लेख में सब से प्रथम 'वस्त्र' और 'वृक्ष' इन दोनों उपमाओं का विचार करते हैं—

(१) वस्त्र की उपमा

कपास, ऊन अथवा रेशीम के धागे बनते हैं और उन धागोंसे वस्त्र बुना जाता है, जो सब पहनते, ओढते, या बिछाते हैं। मनुष्य वस्त्र का अनेक प्रकार से उपयोग करता है।

कपास, ऊन अथवा रेशीम से वस्त्र बनता है। पहिले चर्खे पर अथवा चक्र पर सूत कांता जाता है, सूत के तानेबाने बनते हैं और उनसे करघे पर

कपडा बुना जाता है । जोलाहा कपडा बुनता है, उस की स्त्रियां सूत कांतती हैं, करघे पर वस्त्र बुना जाता है । बीच में अन्य यन्त्रों का भी उपयोग किया जाता है । अतः पाठक इष्ट प्रश्न करेंगे कि, जोलाहा, कपास और यंत्र ये तीन साधन यहां जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही ईश्वर, प्रकृति और जीव विश्वनिर्माण में लगते हैं, अतः यहां ' सदेकत्व ' नहीं है, परन्तु सत् का त्रैत है। परन्तु इस के समझाने के लिये ' अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण ' का सिद्धांत शास्त्रकारों ने माना है। जगत्में निमित्त और उपादान कारण भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु परमेश्वर और सृष्टि के विचार में एक ही ईश्वर निमित्त कारण, उपादान कारण तथा अन्यान्य कारण होता है, ऐसा शास्त्रकारों का मत है।

जोलाहा, कपास, करघा जगत् में भिन्न भिन्न हैं, परन्तु ईश्वर ही इस सब विश्वरूपी वस्त्र का अ-भिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है । यह बात इन उपमाओं का विचार करने से सहज ही से ध्यान में आ जायगी । कपास ही स्वयं सूत बन जाता है, सूत ही स्वयं वस्त्र बन जाता है, ऐसा स्वयं चैतन्य का बुद्धिपूर्वक शक्तिका प्रकटीकरण इस विश्व में यहां हो रहा है। इसी स्वयं प्रकटीकरण के तत्त्व को बताने के लिये ये दो उपमाएं इस स्कम्भ सूक्त में दी हैं । इनको यथायोग्य रीति से समझने पर यह बात स्वयं समझने में आ जायगी । इन उपमाओं का विचार होने तक पाठक यहां निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही है, ऐसा थोडी देरी के लिये मानें ।

सूत कपास से कैसा बनता है, सूत से कपडा कैसा बनता है, इस का विचार यहां पाठक न करें। कपास, सूत, ताना-बाना वस्त्र, सीये हुए कपडे और फटे कपडे इन सब में कपास की एकता कैसी है, इसी को यहां इस समय जानने का यत्न करें । कपास तो स्वयं कपास ही है, सूत बननेपर भी कपास ही एक विशेष रूप धारण करके रहता है, क्योंकि सूतमें कपास के बिना और कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती । सूत का ताना और बाना बना, यहां नया नामाभिधान हुआ, तो भी कपास का ही वह रूप है । ताने

और बाने से वस्त्र बन गया, तो भी कपासपन में कोई हेरफेर नहीं हुआ। इस कपडे से काटकर नाप पर सीकर नाना प्रकार के कपडे अर्थात् सदरा, कोट, चोगा, कुडता, पाजामा, सुरवार, धोती, उत्तरीय, साफा, फेटा, रूमाल, चादर, गादी, रजाई आदि अनेक उपयोगी कपडे बनाये जाते हैं। प्रत्येक कपडे का उपयोग भिन्न होता है, एक कपडा दूसरे काम में नहीं आता। तथापि उन सब में कपास ही कपास है, इस में संदेह नहीं है।

इस सूत को नाना प्रकार के रंग देने से और अधिक सौंदर्य तथा विविधता बढ जाती है। इतनी विविधता बनने पर भी ये सब कपडे एक ही कपास के हैं, इस में किसी को संदेह नहीं हो सकता। एक ही कपास इतने रंगरूपों में और नाना शकलों में प्रकट हुआ है, यह बात सहज ही से ध्यान में आ सकती है। कपास का यह विश्वरूप ही है, कपास ही के ये नाना रूप हैं, किसी दूसरी वस्तु की यहां कोई मिलावट नहीं है।

इतने विचार से यहां यह बात स्पष्ट हुई कि विविधता होने पर भी उस विविधता में एकता है। इस एकता को देखना ही वैदिक सदैक्य दृष्टि है। कपास से सूत बनने पर प्रत्येक सूत का धागा अलग अलग अपनी सत्ता रखता है। सूत से ताना और बाना बनने पर पृथक्त्व और अधिक बढता और प्रकट होता है। कोई भी ताने को बाना और बाने को ताना नहीं कह सकता। उस से कपडा बनने पर वह सर्वथा कपास, सूत और तानेबाने से पृथक् वस्तु दिखाई देता है। कपडे से कोट, कुडता, पाजामा आदि सीये हुए कपडे बनाये जाने पर उन के स्वरूपों में, उपयोगों में और प्रयोगों में अनेक प्रकार की विविधता निर्माण होती है। यह विविधता स्पष्ट प्रतीत होनेवाली है। इस विषय में किसी को शंका आनेकी भी संभावना नहीं है।

पाजामे का उपयोग साफे के समान नहीं हो सकता और कुडता धोतीका काम नहीं देता, तथा गादी इन सब से पृथक् है। इस तरह एक दूसरे में पृथक्त्व स्पष्ट है। इतनी विविधता और पृथक्ता होने पर भी कपास की दृष्टि से सब को देखने से सब में कपासपन की एकता ही प्रतीत होगी।

सदैक्यवाद की दृष्टि से विश्व की विविधता होने पर भी उस में ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व की एकता इसी तरह है। इसी एकत्व का अनुभव करना चाहिये। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्य में यही एकत्व की दृष्टि है। इसी तरह—

सर्वं खलु इदं ब्रह्म।　　　(छां. ३।१४।१)
पुरुष एव इदं सर्वं।　　　(ऋ. १०।९०।२)

उपनिषद् और वैदिक संहिता में यही संदेश दिया है, जो इस कपास के वस्त्र के उदाहरण से यहां समझा दिया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषो ऽन्नरसमयः।　　　(तै० उ० २।१।१)

'उस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से रेत, रेत से मनुष्य, इस तरह यह मनुष्य अन्नरसमय है।' आत्मा से सब सृष्टि कैसी बनी, इस का यह वर्णन है। यही कपास के वस्त्र की प्रक्रिया में देखिये—

'कपास से सूत, सूत से ताना और बाना, उस से कपडा, कपडे से कोट, कुडता आदि बने हैं। इस तरह ये सब कोट, कुडते आदि कपडे कपास के ही नाना रूप हैं।' इस वर्णन से सदैक्यवाद के द्वारा वेद इस विश्व की समस्या किस तरह हल करना चाहता है, यह पाठकों के ध्यान में आ सकता है। ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश इस विश्व के रूप में प्रकट हुआ है। यहां इस विश्व में प्रभु के ही सब रूप हैं। प्रभु को छोडकर इस विश्व में कुछ भी अन्य वस्तु नहीं है। यह वेद का सिद्धांत है। इस सिद्धांत को समझाने के लिये वेदने 'वस्त्र' की उपमा दी है और यह जटिल विषय समझा दिया है। इतने विवरण से पाठकों के समझ में यह वेद का सिद्धांत आया होगा।

इस विश्व में यद्यपि वस्तु वस्तु में विविधता है, तथापि मूलतः संपूर्ण विश्व एक ही ब्रह्मका स्वरूप है। इसलिये ईश्वर के नामों में 'विश्वरूप' यह एक नाम दिया गया है।"

जैसी वस्त्र की उपमा यहां दी है, वैसी और अनेक उपमाएं अन्यान्य स्थानों में इस समस्या को समझाने के लिये दी हैं। उन में से कई यहां देते हैं-

१. अनेक प्रकार के जेवरों में सुवर्ण के समान ईश्वर, सब विश्व के रूपों में है। सोने के मणि सोने के ही धागे में पिरोये गये, तो मणि और धागे की विविधता होने पर भी सोने की एक ही सत्ता होती है। इसी तरह विश्व के विविध रूपों में एक ही ब्रह्म ओतप्रोत है।

२. मिश्री के अनेक प्रकार के खिलौने बनाये, तो उन नाना रूपों में एक ही मिश्री एकसी ही मीठास से परिपूर्ण रहती है। इसी तरह विश्व के नाना रूपों में एक ही परमात्मा अपने सत्-चित्-आनन्दरूप निज भाव के साथ विराजता है।

३. एक मिट्टी के नाना प्रकार के छोटेमोटे बर्तन बनाये, तो उन नाना रूपों में एक ही मिट्टी रहती है। उसी तरह एक ही ब्रह्म इस विविध संसार में ओतप्रोत भरा है और उसी के ये नाना प्रकार के रूप हैं। इसी तरह तांबे, पीतल, लोहे, चांदी, सोने के बर्तनों के विषय में पाठक समझ सकते हैं।

४. एक ही लकडी से अनेक पात्र, खिलोने, गृहस्थी का अटाला आदि सब बनाया गया, तो उन सब में एक ही लकडी रहती है, इसी तरह सब संसार के वस्तुओं में एक ही परमेश्वर है। यहां इस संसार में दूसरी कुछ भी वस्तु नहीं, विना एक परमात्मा के।

सब इन तथा इसी तरह की अन्यान्य उपमाओं से 'एक सत्' है और वही सत् विश्व के नाना रूपों में प्रकट होता है, यह बात सिद्ध होती है।

स्कम्भसूक्त के ४२—४४ मंत्रों में इस तरह का वर्णन आता है—

' गोरी और काली स्त्री छः खूंटियोंवाले करघे पर कपडा बुनती हैं। इनमें से एक स्त्री धागे को अलग करती है, दूसरी धागों को यथास्थान में जमा देती है। दोनों स्त्रियां इस तरह कुशलता से कार्य करती हैं कि धागा न टूटे। पर ये सभी अपना वस्त्र बुनने का कार्य समाप्त भी नहीं करतीं। वे सदा नाचती हुई अपना बुनने का कार्य करती जाती हैं। वहां एक जोलाहा पुरुष है, वह ठीक तरह कपडा बुनता बैठा है। यह कपडा पृथ्वी से लेकर द्युलोक तक फैला है और इसकी बनावट अखण्ड चल रही है। '

यहां वस्त्र की उपमा काल के साथ वर्णन की है। इसलिये कालचक्र का भी यहां थोडासा विचार करना आवश्यक है। देखिये—

कालचक्रका विचार

' काल ' नाम परमात्मा का है। काल के विचार से भी अनेकत्व के व्यवहार में एकत्व किस तरह है, इस का ज्ञान हो सकता है। इसलिये इस विषय में थोडासा लिखते हैं।

काल एक ही है। वह अटूट और अखण्ड है। वह अनादि तथा अनंत है। काल का यह स्वरूप होने पर भी त्रुटी, लव, निमिष, लघु, गुरु, प्राण, पल, घटि, मुहूर्त, प्रहर, दिन, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि काल के छोटेमोटे अनेक विभाग किये हैं। इन कालावयवों से सब मानवी व्यवहार चलते हैं। इन के विना मानवी व्यवहार चलेंगे भी नहीं, इतनी इन कालावयवों की व्यवहार में आवश्यकता है। परन्तु सच देखा जाय, तो ये अवयव काल्पनिक हैं। वस्तुतः काल में कोई अवयव नहीं है।

काल अखण्ड, अटूट, अनाद्यनन्त, एक ही एक है, परन्तु मनुष्य अपने व्यवहार के लिये काल के खण्ड मानता है, उन का गणित करता है और इन कालखण्डों की ऐसी व्यवस्था मनुष्य ने रची है कि इन के नाप के घटियंत्र भी इसने बनाये हैं। अपनी हलचल इन कालखण्डों के साथ इसने जोड दी है। और अब ऐसी अवस्था पर मनुष्य पहुंचा है कि, इन कल्पित अवयवों

के नापने के घटियंत्रों के बिना इस का व्यवहार चल ही नहीं सकता। वस्तुतः काल में टुकडे नहीं हैं। काल अटूट है, अखण्ड है। उस में इसने विभागों की कल्पना की, क्योंकि कालविभाग करने की शक्ति मानव में नहीं है। इसने कितने भी विभाग करने के यंत्र निर्माण किये, तो भी काल अटूट और अखंडित ही रहेगा। अटूट काल के कल्पित विभाग इस मानवने अपनी कल्पनाशक्ति से किये और उन कल्पित विभागों के द्वारा अपने को ऐसा बांध दिया है कि, वह अब उन से मुक्त होना कठिन है।

काल में टुकडे न होने पर भी उस के टुकडों का हिसाब जैसा किया जाता है, वैसा ही सर्वत्र एकरस, अखण्ड, अटूट, अविभक्त, परमात्मा है, उस में विश्व के नाना खण्डित रूपों की कल्पना की जाती है और भिन्न के रूपों के विविध टुकडों के कारण मानवों-मानवों में अनंत लडाई, झगडे उत्पन्न होते हैं और हजारों और लाखों के बलिदान भी इन लडाइयों में होते हैं। पर जिस परमात्मा पर इस विश्व की रचना हुई है, और यह विश्वरूप जिस परमात्मा का रूप है, वहां नित्य एकरसता है, वहां खण्ड नहीं है, टुकडा नहीं है। मानव विभिन्नता की कल्पना करता है और इस कल्पित विभक्तता के कारण नाना प्रकार के झगडे करता रहता है।

अतः मनुष्य सर्वत्र परमात्मा की एकरसता देखे, अनुभव करे और काल्पनिक विभेदों के कारण खडे हुए झगडों को मिटावे और अपनी सब शक्ति विश्वरूपी अखंड परमेश्वर की सेवा के लिये लगा देवे। इस विश्वसेवा की उपासना से ही इस स्थानपर स्वर्गधाम का सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य के ध्यान में यह सत्यधर्म आने के लिये ही वेद के द्वारा ऋषियों की वाणी से यह सदेकत्ववाद का उपदेश हुआ है। इस सदेकत्ववाद को सुस्पष्ट करने के लिये ही वेद ने वस्त्र और काल की उपमा इस स्कम्भसूक्त में दी है, ताकि मनुष्य इस उपमाका बहुत मनन करें और सदैक्य का सिद्धांत समझें और अपना कर्तव्य जाने तथा तदनुसार व्यवहार करके इस पृथ्वी को स्वर्गधाम बनावे।

❀

वस्त्र और काल की उपमा उक्त सूक्त में है। काल के विषय में प्रश्न मंत्र २,५—६ में हैं। और कपडा बुनने का दृष्टांत भी वस्त्र के दृष्टांत के साथ काल का भी वर्णन करता है। अतः यहां इन दोनों का वर्णन किया। जो पाठक इन का मनन करेंगे, वे अद्वैक्यवाद के सिद्धांत को ठीक तरह जान सकते हैं। अब वृक्ष की उपमा का विचार करेंगे।

वृक्षकी उपमा

ऊपर के लेख में वस्त्र की उपमा का विवरण किया है। इस वस्त्र की उपमा में एक दोष है, वह यह कि कपास से वस्त्र स्वयं नहीं बनता। कपास से सूत, सूतसे वस्त्र, वस्त्रसे कपडे स्वयं नहीं उगते, वे बनाने पडते हैं। इस दोष के निवारण करने के लिये वेदने अर्थात् इस स्कम्भसूक्त ने 'वृक्षकी उपमा' दी है। वृक्ष स्वयं बढता है, स्वयं फूलता और स्वयं फलता है। जो दोष वस्त्र की उपमा में था, वह दोष यहां से दूर हुआ है। वृक्ष अन्दर से बढता है। बीज जमीन में पडने पर जल की अनुकूलता रहने से बीज के अन्दर से स्वयं अंकुर उत्पन्न होता है और वह अंकुर बढने लगता है। थोडा बढने पर उस की शाखाएँ निकल आती हैं। आगे शाखाओं से टहनियां निकल आती हैं। टहनियों से पत्ते, फूल और फल निर्माण होते हैं, यह सब ऋतु अनुसार स्वयं अंदर से ही होता रहता है। यहां ' अन्दर से वृद्धि होती है, ' यह बात मुख्य है। यही बात इस उपमा द्वारा बतानी है। शेष सब विवरण वस्त्रकी उपमा द्वारा बताया गया है। यह अन्दर से उगने की बात बताने के लिये निम्न लिखित मन्त्र-भाग इस सूक्त में आया है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥
असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परमं इव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखां उपासते ॥ २१ ॥

' इस भुवन के मध्य में एक वृक्ष है, वह तेजस्वी है। जो सब देव हैं, वे

इस यक्ष के आधार से रहते हैं, जैसी वृक्ष के आधार से शाखाएं रहती हैं। असत् से उत्पन्न प्रतिष्ठा पायी [विश्वरूपी] शाखा को ज्ञानी लोग परम श्रेष्ठ मानते हैं, परन्तु कनिष्ट लोग केवल उसी एक शाखा को सत् मानकर केवल उसी एक ही शाखा की उपासना करते हैं, ये (अवरे) कनिष्ठ अर्थात् अज्ञानी लोग हैं। ' तथा—

बृहन्तो नाम ते देवा ये असतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि० ॥ १० ॥

' वे बडे प्रसिद्ध सूर्यादि देव हैं, जो असत् से उत्पन्न हुए हैं। यह असत् नामक शाखा (स्कम्भस्य) स्तम्भ का एक अङ्ग है, ऐसा श्रेष्ठ लोग कहते हैं। (स्कंभ) स्तम्भ में असत् और सत् दोनों शाखाएं हैं और असत् से बडे देव (परि जज्ञिरे) चारों ओर उत्पन्न हुए हैं। '

यहा एक वृक्ष है और उस की मुख्य दो शाखाएं हैं। यहां का वृक्ष ब्रह्म अथवा यक्ष है और उस की शाखाएं देवताएं हैं। एक शाखा का नाम सत् है और दूसरी का नाम असत् है। अवर अर्थात् कनिष्ठ अज्ञानी लोग एक ही शाखा को सत् मानकर उसी की उपासना करते हैं। ये लोक ' सत्+असत् ' मिलकर स्कंभ हुआ है, ' यह जानते नहीं, यही उन की अज्ञानता का सूचक है। उक्त मन्त्र को ठीक तरह समझने के लिये एक चित्र करते हैं। वह चित्र ऐसा है— (चित्र पृ० ४२२ पर देखें)

१. यह ब्रह्म का वृक्ष है। यही सबका आधारस्तंभ है। यही स्कम्भ है।
२. इस वृक्ष की दो शाखाएं हैं, एक असत् और दूसरी सत्। (मंत्र १०)
३. असत् शाखा की टहनियों से ३३ देव और अनंत उपदेव निर्माण हुए हैं। ये देव बडे शक्तिशाली हैं। (मन्त्र २५)
४. इस असत्‌शाखा को स्कंभ में प्रतिष्ठित अर्थात् स्कंभ में आधार पाय
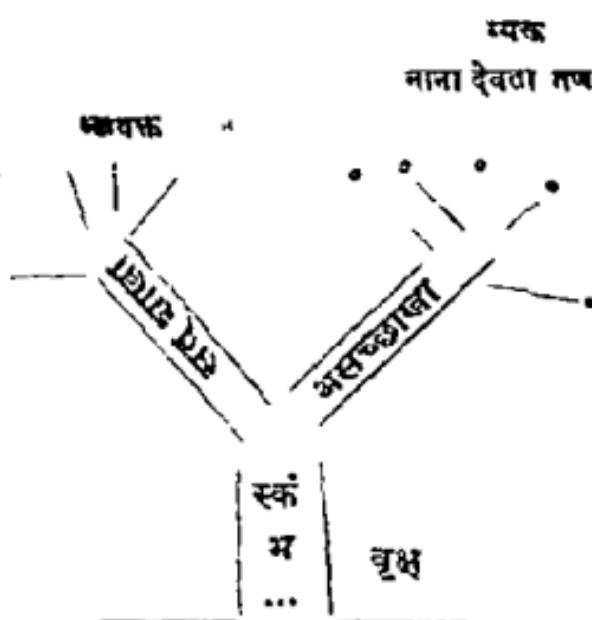
मान कर उसे तत्त्वज्ञानी (जनाः विदुः) लोग (परम) परम श्रेष्ठ मानते हैं। (मन्त्र २१), क्योंकि इसी असत् शाखा से सब देव बने हैं। अत यही विश्वरूप ब्रह्म का ही रूप है। (मन्त्र २५), यह ब्रह्म सदसत् शाखा रूप है (मन्त्र १०), ये सदसद्ब्रह्म के उपासक हैं। अतः ये लोग श्रेष्ठ हैं।

५. परन्तु दूसरे अज्ञानी लोग हैं वे केवल इसी एक ही शाखा को 'सत्' मानते हैं और केवल इसी एक ही शाखा की (स्कंभ में प्रतिष्ठित न मानते हुए) उपासना करते हैं। (२१), [ये इस शाखा के बिना दूसरा स्कंभादि कुछ भी नहीं मानते। सदसत् में से एक की ही उपासना करना इनका दोष है।]

६. जो कोई सूर्यचन्द्रादि देव हैं, वे सब, वृक्ष की शाखाओं और टहनियोंकी तरह, इस ब्रह्मरूप वृक्षके आश्रय से हैं। (मन्त्र ३८), इसलिये संपूर्ण वृक्ष को मानना योग्य है। [वृक्ष का स्तम्भ, वृक्ष की शाखाएं और टह-

नियाँ, पत्ते, फूल और फल मिलकर अखण्ड वृक्ष है, वही उपास्य है। केवल एक भाग उपास्य नहीं, यद्यपि उपासना तो एक भाग की ही होगी, तथापि अनन्यभाव से उपासना होनी चाहिये, अन्य भाव से नहीं।]

७. वृक्ष के किसी एक विभाग को स्वतंत्र मान कर उपासना करना 'अन्यभाव से उपासना' है। यह हीन है।

८. वृक्ष के किसी एक विभाग को अखण्ड और समग्र वृक्ष का भाग मान कर, उस विभाग की उपासना से समग्र वृक्ष की सेवा होगी, ऐसी 'अनन्य-भाव से उपासना' करना ज्ञानी श्रेष्ठ लोगों का कर्तव्य है। यही श्रेष्ठ उपासना है। (मं० २१)

९. सत्-असत्, [चेतन-जड, अव्यक्त-व्यक्त] ये एक ही के दो भाव हैं, (मं० १०) ऐसा अनुभव करना 'अनन्यभाव' से होता है। इन को विभिन्न मानना 'अन्यभाव' से होता है, यही सब झगडों का मूल कारण है। यही द्वैत और द्वन्द्व है।

१०. सब विश्वरूप वृक्ष को ब्रह्मबीज का आविष्कार मानो। इस वृक्ष में छोटी बड़ी शाखाएं हैं, टहनियां, पत्ते, फूल, फल हैं। ये ही विश्व के सब पदार्थ हैं। सब मानव इसी में हैं। अतः जनता की उपासना अनन्यभाव से करना ही श्रेष्ठ धर्म है।

वृक्ष की उपमा का विवरण यहां तक किया है। इन दोनों उपमाओं से पाठकों के ध्यान में सब बातें आ गयीं होंगीं। अब 'काल' का थोडासा वर्णन पूर्वस्थान में किया है। तथापि उस विषय में यहां थोडा अधिक लिखना आवश्यक है, वह अब लिखते हैं—

कालका वर्णन

पूर्व स्थल में काल के वर्णन में यह बताया है कि काल एक है और अखण्ड है, परन्तु त्रुटि, पल, घटी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष महिना, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि अनेक विभाग कल्पना से माने गये हैं।

वास्तव में काल का कोई खण्ड कर नहीं सकता, तथापि अखंडित काल क खंडों की कल्पना कर के मानव अपने सब व्यवहार कर रहा है। इसी तरह अखण्ड एकरस ब्रह्म में नाना पदार्थों के खण्डित रूपों की कल्पना कर के मानवों का सब व्यवहार हो रहा है। कितनी भी खण्डित रूपों की कल्पना क्यों न की जाय, उस से ब्रह्म अनन्य, अखण्डित और एकरस होने में कोई संदेह नहीं है। यही बात हमें काल के वर्णन से प्राप्त होती है।

एक ही काल नाम सूर्य से सब से प्रथम दिनप्रभा और काली रात्रि ये दो विभिन्न रूप उत्पन्न होते हैं। ये परस्पर विभिन्न रूप हैं, तथापि एक ही सूर्य से ये निर्मित हैं। अतः ये सूर्य की दो अर्धाङ्गियाँ यहां मानी हैं, (युवती विरूपे अहोरात्रे। मं० ६)। इन ही में से एक को सत् और दूसरे को असत् मानो तो एक वृक्ष की दो शाखाओं की ठीक कल्पना हो सकती है।

रात्री असत् रूप मानो, क्योंकि उस में सूर्य के पूर्ण प्रकाश का अभाव है और दिन को सत् मानो, क्योंकि उस में सूर्य का प्रकाश रहता है। पुराणों में सूर्य को ही शिव कहा है और उस की एक धर्मपत्नी 'गौरी' और दूसरी 'काली' कही है। यह बात यहां के पूर्वोक्त रूपक में देखनेयोग्य है। सूर्य ही काल है और दिन और रात्री ये एक काल के ही दो रूप हैं। काल का वस्त्र बुनने में इन दोनों का बडा भारी कार्य रहता है, इन के विना आयुरूपी कपडा बुना नहीं जाता।

रात्रीरूपी असत् शाखा के आश्रय से चन्द्रमा, नक्षत्र, गुरु, शुक्र, बुध, शनि, विद्युत् आदि आकाशस्थ देवतागण प्रकट होते हैं। दिनरूपी सत् प्रकाशमयी शाखा में केवल एक ही चैतन्य का प्रकाश ही प्रकाश रहता है। नक्षत्रादि नाना देवताओं की सभा तो रात्री में ही, असच्छाखा में ही लगी दीखती है। असच्छाखा से इन देवताओं का प्रकट होना इस तरह प्रत्यक्ष होता है।

दिन-रात्री, शुक्ल-कृष्ण पक्ष, उत्तरायण-दक्षिणायन, (विश्वनिर्माण-विश्व-

प्रलय अथवा) ब्रह्मदिन-ब्रह्मरात्री यहां तक इस कालवृक्ष की शाखाएं और टहनियाँ फैली हैं। इतना होने पर भी काल एक, अखण्डित और अनन्य है और अटूट है। इसी तरह विश्व में विविध पदार्थ दीखने पर भी (सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छां० उ०) यह सब ब्रह्म का ही अखण्ड रूप है, इस में संदेह नहीं है।

सहस्रधा विभक्त होना

स्कम्भसूक्त के नवम मन्त्र में (स्कम्भः एकं अङ्गं सहस्रधा अकरोत्। मं. ९) कहा है कि इस स्कम्भ ने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त किया है। इन विभागों से ही ये विश्व के नाना पदार्थ बने हैं। यह बात हमने वृक्ष के वर्णन के प्रसंग में अच्छी तरह देख ली है। एक वृक्ष का स्तंभ विभक्त होकर उस की अनेक शाखाएं बनती हैं, प्रत्येक शाखा अनेक टहनियों में विभक्त होती है, प्रत्येक टहनी पत्तों, फूलों और फलों में विभक्त होती है। इस तरह यह विभक्तीकरण वृक्ष में स्पष्ट दीखता है।

कपास का विभक्तीकरण सूत्र में होकर उस सूत्र से ओतप्रोत वस्त्र रहता है। परमेश्वर के वर्णन के लिये भी यही ओतप्रोत शब्द वेद-मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है—

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। (वा. य. ३२।८)

वह परमात्मा सब प्रजाओं में ओतप्रोत है, जैसा सूत्र कपडे में ओतप्रोत (ताने और बाने के समान) है। कपडा ताने बाने से जैसा भिन्न नहीं है, वैसा ही सब प्रजाओं में प्रभु ताने बाने के समान होने से उन से निभिन्न नहीं है। यहां कपडे में तानेबाने अथवा सूतके समान है, घडे में पानी पृथक् रहने के समान कपास वस्त्र से पृथक् नहीं है। कपडेमें सूत्र के समान अपृथक् है। ऐसा विश्व के रूप से ब्रह्म पृथक् नहीं है।

यहां सहस्रधा विभक्त होना और नाना रूप धारण करना, परन्तु नाना वस्तुओं से पृथक् न रहना आदि भाव स्पष्ट हो रहे हैं। 'सहस्रधा विभक्त'

होकर परमात्मा विश्वरूप बनता है। अतः वही विश्व में ओतप्रोत है। पाठक यहां परमात्मा की सर्वव्यापकता जानने का यत्न करें।

सर्वव्यापकता

सर्वव्यापकता अनेक प्रकार की रहती है, उदाहरण के लिये देखिये—

१. कपडे में सूत्र और कपास सर्वव्यापक है, घडे में मिट्टी सर्वव्यापक है, जेवर में सोना सर्वव्यापक है। यह 'अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण' रूप निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है।

२. बर्तन में जल भरपूर भरा है, अतः बर्तन के अवकाश में जल सर्वव्यापक है। यह आधाराधेय द्वन्द्वरूप की सर्वव्यापकता है।

३. तपाये हुए लोहे में अग्नि सर्वव्यापक है, पदार्थों में विद्युत् सर्वव्यापक है। तिलों में तेल और दूध में घी सर्वव्यापक है। यह व्याप्यव्यापक द्वन्द्व की सर्वव्यापकता है।

मुख्यतया ये तीन प्रकार की सर्वव्यापकताएं हैं। इन में पहिली सर्वव्यापकता निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है और अन्य दोनों 'द्वन्द्व सर्वव्यापकताएं' हैं। इस सूक्त में वस्त्र और वृक्ष आदि उपमाओं द्वारा जो सर्वव्यापकता कही है, यह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है, जिस में शास्त्रकारों ने निमित्त उपादान आदि कारणों के एक होने का वर्णन किया है। पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्त आदि वैदिक सूक्तों में यह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता बतलायी गयी है। सदैक्यवाद में ईश्वर की यही व्यापकता मानी है।

अन्य सब सर्वव्यापकताएं द्वैत-आश्रित हैं। दो वस्तुओं के मानने पर एक में दूसरी को व्यापक मानने से उन की सिद्धि है। पाठक इस सर्वव्यापकता के सूक्ष्मभेद को जानें और वेद में जो अन्तिम सिद्धान्तरूप सर्वव्यापकता कही है, वह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है, अर्थात् एक ही 'सत्' नाना रूपों को धारण करता है, अथवा स्वयं नाना रूप बनता है, जैसा कपास वस्त्ररूप लेता है। पाठक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके जान सकते हैं

कि स्थायी दो पदार्थ मानने पर जो सर्वव्यापकता होती है, वह वास्तव में सर्वव्यापकता ही नहीं है।

क्योंकि जब एक वस्तु पूर्णतया सर्वव्यापक होती है, तब दूसरी वस्तु वहा रह ही नहीं सकती। अतः वेद के अद्वैतवाद से जो निर्द्वन्द्व सर्व-व्यापकता है, वही सच्ची सर्वव्यापकता है।

सत् और असत् एक ही के दो भाव हैं

इस विश्व का विचार करने के समय सत्-असत्, चेतन-जड, अव्यक्त-व्यक्त, आत्मा-जड, पुरुष-प्रकृति, इत्यादि पदों से बताये जानेवाले दो पदार्थों का अस्तित्व स्थायी है, यह एक बात सदा खटकती रहती है। इस लिये इस सूक्तने बताया है कि ये एक ही स्कंभ के दो भाव हैं, ये दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं। देखिये—

असत् च यत्र सत् च अन्तः स्कम्भं तं ब्रूहि० ॥ १० ॥
असत् शाखां प्रतिष्ठन्ती० ॥ २१ ॥
एकं तत् अंगं स्कंभस्य असत् आहुः ॥ २५ ॥

'सत् और असत् ये दो भाव स्तंभ में हैं। असत् नामक शाखा स्कम्भ पर प्रतिष्ठित है। असत् नामक एक अंग स्कम्भ का ही है।' इस से स्पष्ट है कि सत् और असत् ये दो भाव एक ही सत् के हैं। तथा—

लोका वै तस्मिन् संप्रोता तस्मिन् ह ऊताः प्रजाः इमाः ॥४॥
(पिप्पलाद १७।११)

पिप्पलाद की अथर्वसंहिता में इसी सूक्त में यह मन्त्र अधिक है। इस मन्त्र में यह अधिक स्पष्ट किया गया है कि- 'उस एक ही सत् में ये सब लोक ओतप्रोत हैं अर्थात् वस्त्र में जैसे तानेबाने के धागे होते हैं, वैसे ये सब लोक उस में हैं।' वस्त्र से धागे पृथक् नहीं होते, वैसे ही उस सत् से वे लोक पृथक् नहीं हैं, यह भाव यहा अधिक स्पष्ट किया गया है। इस से क्षर और अक्षर की एकता स्पष्ट हो जाती है। वेद के सिद्धान्त मे क्षर और अक्षर मिलकर ही 'एक सत्' है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एकता है। जो नियम पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इस सूक्त में कई ऐसे मन्त्र हैं कि जो पिण्ड के वर्णन पर तथा ब्रह्माण्ड के वर्णन पर लगाने के लिये हैं। देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥ १७॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे सर्वे समर्पिताः ॥ १३॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥ २७॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्रे आस्यं० ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी० ॥ ३४ ॥

'जो मनुष्य में ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठी-परमात्मा को जानते हैं। तैंतीस देव जिस के अंग में अर्पित हुए हैं, तैंतीस देव जिस के अंगप्रत्यंगोंमें विभक्त होकर रहे हैं, अंगप्रत्यंग बनकर रहे हैं, सूर्य जिसकी आंख बना, फिर से नया बननेवाला चन्द्रमा इसकी दूसरी आंख बनी है, अग्नि जिस का मुख हुआ है, वायु जिसका प्राण-अपान हुआ है, अंगिरस जिसकी आंख है, दिशा जिसकी प्रज्ञान देनेवाली श्रुति अर्थात् कान हैं।' इस तरह यह वर्णन जैसा परमात्मा का है, वैसा ही एक मानव व्यक्ति का भी है, क्योंकि व्यक्ति के आंख, कान, मुख आदि इंद्रिय भी क्रमशः सूर्य, दिशा और अग्नि तत्व के अंश से ही बने हैं। ऐसे ही ३३ देवों के अंश मानव-शरीर में निवास करते हैं और परमात्मा के शरीर में ३३ देव संपूर्णतया निवास करते हैं। मनुष्य परमात्मा का अंश है और परमात्मा अंशी है। परमात्मा में ३३ देवता पूर्णरूप से रहते हैं और जीव-शरीर में अंशांश से हैं, परन्तु दोनों में ३३ देवताएं निवास करती हैं। इस से न केवल पिण्ड-ब्रह्माण्ड के नियमों की एकता सिद्ध हुई, परन्तु पिण्ड-ब्रह्माण्ड मिलकर 'एक ही सत्

है, यह भी इस से सिद्ध हुआ। क्योंकि ब्रह्मांड के प्रत्येक अंश में इसी तरह ३३ देवताएं हैं, अतः सब अंश समान हैं और सब अंशों से युक्त पूर्ण अंशी भी समान अतः सब एक सत् है।

अंश और अंशी में तत्त्वदृष्टि से भेद नहीं है। अंशी बडा और अंश छोटा, यह छोटेपन और बडेपन विचार में न लिया जाय, तो तत्त्व की दृष्टि से अंश और अंशी एक ही है। जीव को परमात्मा का अंश और परमात्मा को अंशी कहा है। अतः तत्त्वतः ये दोनो एक ही है। यही बात यहां दोनों के वर्णनों में ३३ देवताओं के होने से सिद्ध की है। पाठक इस का अधिक विचार करें।

मनुष्य के पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड में मास्तिष्क से लेकर गुदा के पीछे रहनेवाली रीढ की निचली हड्डी तक ३३ पर्व हैं, हड्डियों के जोड हैं। इन प्रत्येक दो हड्डियों में एक मासग्रंथी है। इस प्रत्येक मांसग्रंथी अर्थात् मज्जा-ग्रंथी में एक एक देवता की शक्ति केंद्रित हुई है। योगियों ने इनमें से ८ केन्द्र योगानुभव के अभ्यास के लिये लिये हैं। वेद में भी 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' (अ. १०।२।३१) ऐसा इन आठ चक्रों का वर्णन है। इस ध्यानयोग के अनुष्ठान से इन शक्तिकेन्द्रों की शक्ति बढती है और अंशका योग अंशी के साथ हो जाता है। यही अनुभव लेने के लिये योगसाधन है। इससे अंश और अंशी की एकता निःसंदेह सिद्ध होती है। यह एकता तर्क से भी जानी जा सकती है। क्योंकि अंश और अंशी की एकता युक्ति से भी सिद्ध है।

अंग-प्रत्यंगोंमें देवतांशोंका अनुभव

मानव-शरीर के प्रत्येक अवयव, इंद्रिय और मज्जाकेन्द्र में ३३ देवताओंके अंश हैं। इन की सांघिक शक्ति से ही मनुष्य शक्तिमान् हुआ है। इस में से किसी एक की शक्ति नष्ट होने से मानव शक्तिहीन होता है। मनुष्य अपने अन्दर इस का अनुभव कर सकता है। देखिये, मनुष्यकी आंख है, यह

सूर्यतत्व का अंश है। सूर्य के होने से ही यह कार्य करती है। विना सूर्य की सहायता के यह कार्य कर नहीं सकती। इस से सूर्य और आंख का संबंध मालूम हो सकता है। इसी तरह अन्यान्य देवताओं का अन्यान्य इन्द्रियों के साथ के संबंध का पता लग सकता है। इस संबंध के ज्ञान से ही अपने अन्दर कौनसी देवता का अंश कहां कार्य करता है, इस का पता लग सकता है। इस विचार से, ध्यानधारणा से, योग अभ्यास से, वेद-मंत्रों के मनन से यह देवताओं का अपने इंद्रियों से संबंध स्पष्ट विदित हो जाता है। इसी से परमात्मा का मैं अंश हूं, मैं परमात्मा का अमृत-पुत्र हू, इस का ज्ञान हो जाता है। अंश की अंशी के साथ एकता भी इसी अनुष्ठान से स्पष्ट हो जाती है। अपने अन्दर दैवी अंश का साक्षात्कार इस तरह हो जाता है और तत्वतः अपनी योग्यता का भी पता लगता है। यह दैवी योग्यता का वर्धन करने के लिये ही वैदिक धर्म के सब अनुष्ठान हैं, यही ध्यानधारणा से किया जाता है। यह अनुष्ठान प्रत्यक्ष फलदायी है। यह कोई ख्याली बात नहीं है। इंद्रियों से देवताओं का संबंध स्वभाव से ही है। यह जानने और अनुभव करने से अपना देवतामयत्व स्पष्ट दीखने लगता है। मानवी उन्नति का यही उत्तम साधन है।

सदा बलिका समर्पण

ये सब ३३ देव एक ही परमात्मा के लिये सदा बलिसमर्पण करते रहते हैं। ये देवतागण जो करते हैं, वह सब आत्माको ही अर्पण होता रहता है। आप अपने शरीर में ही देखिये। इंद्रियों और अवयवों से जो होता है, उस का परिणाम आत्मा पर अवश्य होता है। इंद्रियाँ अपना किया कर्म आत्मा को अर्पण करें, या न करें, सदा वह आत्मा को अर्पण होता ही रहता है। इसी तरह बाह्य सृष्टि के अन्तर्गत देवताओं के सब व्यापारोंका सम्बन्ध परमात्मा के साथ लगता है।

इस में और भी एक तत्त्व है। संपूर्ण विश्वरूप परमात्मा का ही रूप है। इसलिये मनुष्य जो जो करता है, वह परमात्मा के साथ ही व्यवहार करता

है। भलाई या बुराई जो कुछ कर्म मनुष्य करता है, वह परमेश्वर के साथ करता है। क्योंकि—

अङ्गानि यस्य यातवः ॥ १८ ॥

चलनवलन करनेवाले सब प्राणी उस के अंग-प्रत्यंग ही हैं। यदि सब प्राणी तथा सब विश्व ईश्वर के अवयव हैं, तब तो मनुष्य का सब व्यवहार परमेश्वर के साथ ही हो रहा है, यह सिद्ध ही है। इसलिये कहा है कि 'मनुष्य जो करे, वह परमात्मा को अर्पण करे।' यही कर्म का सुधार करने की कुंजी है। मनुष्य जो करता है, वह परमेश्वर के पास न समझते हुए जाता ही है, यह ज्ञानपूर्वक अर्पण करेगा, तो उस के कर्म सुधरेंगे और उस का चित्त शुद्ध होता जायगा। इस तरह संपूर्ण मानव-जाति वैदिक-धर्म के पालन से परम उन्नत होगी। इसी का नाम भूमि पर स्वर्ग का अवतरण है। अपने कर्म परमेश्वर को अर्पण करने से ऐसा लाभ होता है। जो स्वयं सदा हो रहा है, वही ध्यानपूर्वक और योगपद्धति से करने से वही परम उत्कर्ष का साधन बनता है। सब उपासना का विषय इस में आ चुका है।

स्वराज्य-प्राप्ति

पूर्वोक्त सब लेख में जिस विचार-प्रणाली का अवलंब किया है, वह विचारप्रणाली और उस से करनेयोग्य अनुष्ठान यह सब मानव को मानव कोटी से उठा कर देवकोटी में उन्नत करनेवाला है। मानव ईश्वरांश होने से उस में स्वभावतः देवत्व है। परन्तु वह बढनेवाला है। जैसी चिनगारी अग्नि ही है, परन्तु वह बढाने से प्रज्वलित होकर अग्नि बनती है, उसी तरह मनुष्य भी परमात्मारूपी महा अग्नि की चिनगारी है और वह योजनापूर्वक किये अनुष्ठान से बढती है। यही 'नर' का 'नारायण' बनना है।

यही स्वराज्य-प्राप्ति है, जिस का वर्णन—

स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परं अस्ति भूतं ॥ (३१)

वह उस स्वराज्य को प्राप्त होता है, जिस से अधिक उच्च कुछ भी नहीं है। नर का नारायण होना ही उच्च पद प्राप्त होना है। यही स्व-राज्य अर्थात् आत्म-प्रकाश का विकास है।

ईश्वरभाव से युक्त मानव ही 'नारायण' है, यही स्वराज्य है। क्योंकि इसका नियमन यही स्वयं करता है। इसका नियमन करनेवाला कोई दूसरा नहीं है, अथवा इस पर दूसरे किसी का शासन आवश्यक नहीं है। यही परम शुद्ध आचरण करनेवाला होता है। इसके आचरण में कोई अशुद्धि नहीं होती। यह मूर्तिमान् धर्म ही होता है। यही महात्मा और शुद्धात्मा है। मानव की परा कोटी की उन्नति की अवस्था ही यह है।

जगत् में ऐसे पूर्ण पुरुष जितने अधिक होंगे, उतना यहां आनन्द और शान्तिसुख अधिक होगा। यह वैदिक धर्म का ध्येयबिंदु है। यही मानव का साध्य है। यही मानव की पूर्णता है। यही नर का नारायण होना है।

साधक वेद के धर्म का ग्रहण करेंगे और, वेद के तत्वज्ञान के अनुसार अपना आचरण करेंगे, तो वे निःसन्देह उन्नति के पथ से उन्नत होते जायंगे।

(१८)

बड़ा बहुरूपिया

'बहुरूपिया' उसे कहते हैं कि, जो स्वयं एक ही होता हुआ अनेक रूप धारण करता है परन्तु पहचाना नहीं जाता। एक दिन पण्डित, दूसरे दिन बनिया, तीसरे दिन किसान, चौथे दिन मजदूर, पांचवे दिन वकील, छटे दिन भिखमँगा, सातवें दिन रोगी, आठवें दिन वैद्य या डाक्टर, नववें दिन गायक, दसवें दिन बजवैया, इस तरह नाना रूपोंको हुबहू धारण करता है। अनेक रूपोंको इतना हुबहू धारण करता है कि, देखनेवालेको ऐसा मालूम होता है कि, यह सचमुच वही है कि जो रूप सामने आया है। परन्तु वस्तुतः वैसा नहीं होता। वस्तुतः अनेक रूपोंको धारण करनेवाला रूपोंसे सर्वदा पृथक् रहता है, अपनी कुशलताकी महिमा बतानेके लिये वह बहुरुपिया इन नाना रूपोंको धारण करता है, और अपनी कारीगरी प्रकट करता है, तथा अपनी महिमा व्यक्त करता है।

बहुरूपियाकी कुशलता न पहचानने जानेमें है। यदि हरएकने उसे पहचाना, तो उसमें कोई कुशलता नहीं। थोडे लोग जो विशेष प्राज्ञ हैं, वेही उसे पहचानेंगे, शेष लोग प्रतिदिन अलग अलग आदमी आ रहा है, ऐसा ही समझेंगे, परन्तु जो विशेष ज्ञानी होंगे, वे समझेंगे कि यह वही बहुरूपिया है, जो इन नानारूपोंको धारण करके आता है, यह बहुत कुशल और होशियार है।

बहुरूपियाके रूपोंको अलग अलग व्यक्ति मानना फंस जाना है, अतः वह अज्ञानका द्योतक है। इस अज्ञानसे भय, मोह और दुःख प्राप्त होगा। यही बंधन है। बहुरूपिया वही एक है, ऐसा पहचानना, उसको एक मानना और वह अपनी कारीगरीसे ये नाना रूप धारण करता है, यह जानना ही ज्ञान है। इस ज्ञानसे निर्भयता प्राप्त होती है, मोह दूर होता है, कारीगरकी

कारीगरीकी पहचान होनेसे आनन्द होता है। यही बंधनसे निवृत्त होना है। बंधमुक्ति की यह व्यवस्था है। अत. सदैक्यका सिद्धान्त जाननेकी मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यकता है।

परमेश्वर ही बडा बहुरूपिया है कि जो विश्वके नाना रूपोंकी शकलें धारण करता और इन नाना रूपोंमें विचरता है। यह 'त्वष्टा' है अर्थात् बडा 'कारीगर' है, यही बडा कुशल है। यह इतना कुशल है कि, नाना रूपोंके अन्दर इसको पहचानना साधारणसी बात नहीं है। बहुतसे लोग फंस गये हैं और फस रहे है। सब लोग ये नाना रूप परमेश्वरसे पृथक् है ऐसा ही मान बैठे है। इन लोगोंकी सहायता करनेके लिये 'वेद' आया है, और वेदने कहा है कि, ये नाना रूप धारण करनेवाला 'एकही बडा बहुरूपिया' है। वेदने उसको 'विश्वरूप, पुरुरूप' ऐसे पदोंसे वर्णन किया है। ये सब रूप उसीके हैं, ये बहुत रूप वही धारण करता है ऐसे वर्णन करके वेद उसको पहचानने की सूचना देता है, पूर्व लेखमें 'विश्व-रूप' का वर्णन किया है। इस लेखमें 'पुरु-रूप' का वर्णन करना है। बहुरूपियाको वेदमें 'पुरुरूप' कहा है, देखिये कितने स्पष्ट शब्दोंसे उसका वर्णन वेद कर रहा रहा है-

पुरुरूप इन्द्र

(गर्गो भारद्वाजः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्)

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥
(ऋ. ६।४७।१८)

यही एक इन्द्र (रूपं रूपं) प्रत्येक रूपके लिये (प्रतिरूपः बभूव) उत्तम आदर्श हुआ है। (अस्य तत् रूपं) इस इन्द्रका वही निज रूप (प्रति-चक्षणाय) सबके देखनेके लिये है, अर्थात् यही रूप विश्वके रूपोंमें दिखाई देता है। यही इन्द्र (मायाभिः) अपनी अनेक शक्तियोंसे (पुरुरूपः)

अनेक रूप धारण करके सर्वत्र (ईयते) गमन कर रहा है। इसी लिये (अस्य दश शता हरयः) इसके दस सौ अश्व (युक्ताः) नियुक्त हुए हैं।

इन्द्रका निजरूप प्रत्येक पदार्थके रूपमें दिखाई देता है। जो विश्वमें रूप दीखता है, वह इस इन्द्रका ही रूप है। यही इन्द्र अपनी अनंत शक्तियोंसे अनन्त रूप बनता है, यही उसका विश्वरूप है। प्रत्येक प्राणीके जो इंद्रिय हैं व इसीकी नाना शक्तियां हैं। मनुष्यके तथा पशुओंके दस इन्द्रिय होते हैं। पञ्च ज्ञानके और पञ्च कर्मके इंद्रिय हैं। प्रत्येक इंद्रियमें सैकडों शक्तियां हैं। इसीलिये मन्त्रमें (दश शताः हरयः) दस शत अश्व कहा है।

एकही इन्द्र अर्थात् एकही प्रभु अपनी कुशलतासे नाना रूपोंमें प्रकट होता है। इस विश्वमें जो ये नाना रूप दीख रहे हैं, वे किसी पृथक् सत्ताके रूप नहीं हैं, परन्तु वे सबके सब एकही प्रभुके रूप हैं।

इस विश्वमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारका, वायु, विद्युत्, मेघ, पर्जन्य, वृक्ष, नदियां, तालाब, पशु, पक्षी, मानव, कृमी, कीट, पृथ्वी आदि अनंत रूप हैं। सब अज्ञानी लोग मान रहे हैं कि, ये रूप परमेश्वरसे सर्वथा पृथक् किसी अन्य सत्ताके रूप हैं। परमेश्वर अदृश्य है अतः ये दृश्य रूप उससे भिन्न किसी अलग सत्ताके रूप हैं।

परन्तु यहां वेद कह रहा है कि, 'प्रभुही अपनी कुशलतासे ये नाना रूप धारण करके विचर रहा है।' अर्थात् ये सब रूप उसीके हैं, उससे पृथक् विभिन्न सत्ताके नहीं हैं। किंवा उससे विभिन्न कोई सत्ताही यहां नहीं है। (एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. १।१६४।४६) एकही सत् है, ज्ञानी लोग उसका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। सब रूप उसी एक सत्के होनेके कारण उसी सत्को बहुरूप या 'पुरुरूप' अथवा 'विश्वरूप' कहा जाता है।

इन्द्र देवताका इस बहुरूपियाके वर्णनपरक एक मन्त्र ऊपर दिया है। इसी देवताके और भी मन्त्र अब देखिये और उनमें इस इन्द्रके (पुरु-वर्पस्) (बहु शरीरधारी) होनेका वर्णन कितना स्पष्ट है सो देखिये--

बहु शरीरधारी इन्द्र

(बृहद्दिव आथर्वण । इन्द्रः । त्रिष्टुप्)

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वं इनतमं आप्त्यं आप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ।
(ऋ १०।१२०।६)

इन्द्र (स्तुषेय्य) स्तुत्य, (पुरुवर्पस) अनेक शरीरोंका धारण करनेवाला (ऋभ्वं) बडा (इनतमं) श्रेष्ठ स्वामी, (आप्त्यानां आप्त्यं) आप्त पुरुषोंमें अत्यंत आप्त पुरुष है। वह अपने (शवसा) बलसे (सप्त दानून् आ दर्षते) सातों राक्षसोंका नाश करता है, तथा (भूरि प्रतिमानि) वैसे ही बहुतसे शत्रुओंको भी (प्र साक्षते) अपने वश करता है।

इस मंत्रमें कहा है कि इन्द्र (पुरु-वर्पस्) अनेक शरीर धारण करता है। इनके अनंत शरीरोंका मिलकर ही यह विश्व बना है अर्थात् विश्वातर्गत सभी शरीर इन्द्रके ही शरीर हैं।

' पुरुरूप ' और ' पुरुवर्पस् ' इन दो पदोंका अर्थ एकसा ही है। ' पुरुरूप ' का अर्थ ' अनंत-रूपवाला ' है और ' पुरु-वर्पस ' का अर्थ ' अनंत-शरीरधारी ' है। जो अनेक शरीर धारण करता है वही अनेक रूपोंका धारण करता है, इसमें संदेह नहीं। अतः ये दोनों पद पाठकोंको मनन करनेयोग्य हैं।

इन्द्र अनेक शरीर धारण करता है। इस विश्वमें जितने शरीर हैं, वे सबके सब इन्द्रके शरीर हैं। एक ही इन्द्र इन नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करके नाना प्रकारके रूपोंमें दिखाई देता है। अतः 'पुरु-वर्पस्' होना और ' पुरु-रूप ' होना समान भाव व्यक्त करनेवाला है। इससे पूर्व (पृ. ३८२) ' विश्व-रूप ' का वर्णन किया है। विश्वरूप होनेका ही अर्थ सम्पूर्ण रूपोंको धारण करना है। इसीसे स्पष्ट है कि अनेक शरीरोंका धारण करना ही अनेक रूपोंका धारण करना है। अर्थात् 'विश्वरूप, पुरुरूप और पुरुवर्पस्'

एक ही सिद्धान्तकी पुष्टी करनेवाले तीन पद हैं।

यहां जो दो मन्त्र दिये हैं, वे इन्द्र देवताके हैं। जैसा इन्द्र देवताके वर्णनवाले मंत्रोंमें परमेश्वर बहुरूपिया है ऐसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन अग्नि देवताके मंत्रोंमें भी है। उदाहरणके लिये अग्नि देवताके एक दो मन्त्र यहां देते हैं-

अनंतरूपी प्राचीन अग्निदेव

(इष आत्रेयः। अग्निः। जगती)

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥
(ऋ ५।८।२)

हे (अग्ने) तेजस्वी देव! तू (अतिथिं) पूजनीय (पूर्व्यं) पुरातन प्राचीन, (शोचिष्केशं) तेजस्वी, (बृहत्केतुं) बडे ज्ञानसे युक्त (धन-स्पृतं) धनदेनेवाला (सु शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाला (सु-अवसं) उत्तम रक्षा करनेवाला (जरद्-वि-षं) विषमताको दूर करनेवाला (गृह-पतिं) गृहस्वामी तथा (पुरुरूपं) बहुतसे, अनंतरूपोंको धारण करने-वाला देव है, (विशः) प्रजाजन अपने अन्तःकरणकी वेदीपर तेरीही (नि षेदिरे) स्थापना करते हैं।

इस मंत्रमें (पुरुरूपं पूर्व्यं) अनेक रूपोंको धारण करनेवाले सबसे प्राचीन अग्निदेवका वर्णन किया है। सबसे प्राचीन और सब रूपोंको धारण करनेवाला यह अग्निदेव है, जो सबको सेवा करने योग्य है।

यह मन्त्र अग्निदेवताका है। इसी देवताके और मन्त्र देखिये—

(इष आत्रेयः। अग्निः। जगती)

त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत।
पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे
(ऋ. ५।८।५)

हे अग्ने! (त्वं पुरुरूपः) तू अनेक रूप धारण करता हुआ (विशे विशे प्रलया वयः दधासि) प्रत्येक प्राणीके लिये प्राचीन कालसे आयु देता है, हे (पुरु-स्तुत) बहुत प्रशंसित अग्ने ! तू (सहसा) अपने बलसे (पुरूणि अन्ना वि राजसि) अनेक अन्नोंको तेजस्वी करता है । (तित्विषाणस्य ते) प्रकाशित होनेवाले तेरा (सा त्विषिः) यह तेज (न आधृषे) कोई रोक नहीं सकता।

इस मंत्रमें कहा है कि यह तेजस्वी देव (पुरु-रूप) बहुरूप है, तथा अनेक रूपोंको धारण करता है। नाना रूप धारण करके प्रकट होता है। अनेक अन्नोंके रूपोंमें यह विराजता है। (पुरूणि अन्ना वि राजसि) अनेक अन्नोंको प्रकाशित करता है। नाना प्रकारके अन्न यही बना है और इनका भोक्ता भी यही है। यदि एकही देव विश्वरूप हुआ है, तब तो यह बात निःसंदेह सिद्ध होगी कि, अन्न और अन्नभक्षक भी तत्वतः एकही है। यही बात यहां इस मन्त्रमें पाठक देख सकते हैं। और देखिये—

(ब्रह्मा । पाप्मनाशनोऽग्निः। गायत्री ।)

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ॥ ६ ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ॥ ७ ॥

(अथर्व. ४।३३)

तू सचमुच (विश्वतः मुखः) सब ओर मुखवाला है, (विश्वतः परिभूः असि) सब ओरसे घेरनेवाला है। वह तू हमें (द्विषः नावा इव अति पारय) शत्रुओंसे परे कर दे, जैसे नौकासे नदीपार होते हैं।

यदि सब विश्वके रूप उसी एक देवके रूप हैं तब तो निःसंदेह यह सिद्ध है कि, सब प्राणी भी प्रभुके ही रूप और शरीर हैं। सब प्राणियोंके मुख चारों ओर हैं वे सब इसी प्रभुके मुख हैं। इन चारों ओर फैले मुखोंसे विश्वके नाना पदार्थोंका वह भोग करता है। भोक्ता और भोग्य वह एकही देव है।

अब यह देवके विश्वरूपके विषयमें देखिये—

बहुरूपी रुद्र

(गृत्समद आंगिरसः । रुद्रः । त्रिष्टुप्)

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेः न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् ॥

(ऋ. २।३३।९)

(बभ्रुः पुरुरूपः उग्रः) भरणपोषण करनेवाला अनेक रूप धारण करनेवाला उग्र वीर रुद्र देव (शुक्रेभिः हिरण्यैः स्थिरेभिः अंगैः) वीर्यवान्, सुवर्ण जैसे चमकनेवाले, अपने सुदृढ अंगोंसे (पिपिशे) सुहाता है। (अस्य भूरेः भुवनस्य ईशानात् रुद्रात्) इस बडे भुवनोंके ईश्वर रुद्रसे (असुर्यं न वा उ योषत्) उसका बल कोई भी दूर नहीं कर सकता।

इस मंत्रमें कहा है कि, रुद्र देव बहुरूपी है, अर्थात् ये सब रूप उसीके हैं। वह इतना बलवान् है कि, उसकी उस अतुल शक्तिको उससे कोई भी दूर कर नहीं सकता। (पुरुरूपः रुद्रः) रुद्र देव अनंतरूपवाला है, यह इस मन्त्रने कहा। रुद्रके अनेक रूप (पृ० १७७ से पृ० २२२ तकका लेख देखो) बताये हैं। पाठक इस स्थानपर वह लेख अवश्य देखें। इससे रुद्र देव अनेक रूपवाला कैसा है, यह स्पष्ट होगा और 'पुरुरूपः रुद्रः' का स्पष्टीकरण भी होगा।

यहां तक इन्द्र, अग्नि और रुद्र इन तीन देवोंके बहुरूपी होनेके विषयमें कहा है, अब ब्रह्मके एक अंशसे यह सब विश्व बनता है इस विषयमें देखिये—

ब्रह्मका बहुरूपी अंश

(ब्रह्मा । विराट् अध्यात्मं, गौः । त्रिष्टुप्)

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥

(अथर्व. ९।१०।१९)

(त्रिपाद् ब्रह्म) त्रिपाद् ब्रह्म ही अपने एक पादमें (पुरु-रूपं वि तष्ठे)

अनेक रूप धारण करके यहां ठहरा है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उससे चारों दिशाएँ जीवित रहती हैं।

पुरुष सूक्तमें (पादः अस्य इह अभवत्। ऋ. १०।९०।३) इसका एक अंश यहां वारंवार जन्मता है और (त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत्) इसके तीन अंश ऊपर हैं, ऐसा कहा है। वही भाव यहां है। त्रिपाद् ब्रह्म अपने एक अंशसे नाना रूपोंको धारण करके यहां विश्वके रूपसे ठहरा है। इससे सब विश्व जीवित हुआ है। पाठक पुरुषसूक्तके वर्णनकी इस वर्णनके साथ तुलना करें। यहां ब्रह्मका एक अंश बहुत रूपवाला बन गया है, यह बात स्पष्ट कही है। इसीके नाम इन्द्र, अग्नि, रुद्र हैं। अब यम देवताका भी ऐसाही वर्णन है, वह अब देखिये—

बहुरूपी यम

(अथर्वा। यमः, मन्त्रोक्ताः। त्रिष्टुप्)

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तानि एकस्मिन् भुवन आर्पितानि॥
(अथर्व १८।१।१७)

(कवयः) ज्ञानीजन (त्रीणि छन्दांसि वि येतिरे) तीनों छन्दोंद्वारा उसका विस्तार करते हैं जो (पुरुरूपं) अनेक रूपोंका धारण करनेवाला अतएव (दर्शतं विश्वचक्षणं) वह दर्शनीय और सम्पूर्ण विश्वके रूपमें दिखाई देनेवाला है। जो (आपः) जल (वातः) वायु और (ओषधयः) औषधियां हैं, इसी तरह जो नाना प्रकारके रूप हैं (तानि) वे सारेके सारे (एकस्मिन् भुवने आर्पितानि) एकही बननेवाले सत्में अर्पित होते हैं।

सब विभिन्न पदार्थ एक ही मूल सत् वस्तुके बने हैं। ये नाना रूप एक ही सत्के रूप हैं। यहां यद्यपि इस मन्त्रमें देवतावाचक यम पद नहीं है, तथापि १५ वे मन्त्रसे 'यम' पद की अनुवृत्ति इस मन्त्रमें है, अतः इस

मन्त्रका देवता यम है। यह यमदेव पुरुरूप अर्थात् बहुरूपी होता है, ऐसा यहां कहा है। (विश्व-चक्षणं दर्शतं पुरु-रूपं यमं) इस विश्वमें दीखनेवाला दर्शनीय बहुरूपी यम यहां बताया है। इसका वर्णन वेद-मंत्रोंमें होता है। औषधि, जल, वायु आदि सब पदार्थ एकहीमें हैं, और यम ही इन रूपोंका धारण करता है। जैसा इन्द्र, अग्नि, रुद्र और ब्रह्म बहुरूपी होता है, वैसा ही यह यम भी बहुरूपी बनता है। क्योंकि एक ही सत्के ये नाम हैं। और देखिये—

एकही देवताके नानारूप

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंषि ऊर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् महद् देवानां असुरत्वं एकम्॥
(ऋ. ३।५५।१४)

(पद्या) एक ही वर्णनीय देवता (पुरुरूपा वपूंषि वस्ते) अनेक रंग-रूपवाले नाना शरीरोंको धारण करती है। वह (त्रि-अविं रेरिहाणा) अपने तीन संरक्षणोंसे युक्त शक्तिका प्रकाश करती हुई (ऊर्ध्वा तस्थौ) खडी रहती है। (ऋतस्य सद्म विद्वान्) इस सत्यके स्थानको जानकर, मैं (वि चरामि) विचरता हूं। यही देवोंमें (एकं महत् असु-र-त्वं) एक ही जीवन सत्त्वका प्रदान करनेवाला महत् तत्त्व हैं।

एक ही देवता है जो नानारूपों और नाना शरीरोंको धारण करती है। वह अपनी त्रिविध रक्षाशक्तियोंसे सबकी रक्षा करती है। यही सब मानवोंको जानने योग्य शक्ति है। यही एक सत्ता है, जो सब देवोंको जीवन देती है, अर्थात् इसीकी शक्तिसे सब देव शक्तिमान् हुए हैं। इस मन्त्रमें (पद्या पुरुरूपा वपूंषि वस्ते) वंदनीय एक देवता बहुरूपी होकर नाना शरीरोंमें रहती है, यह वर्णन बडे महत्व का है। इससे एक ही सत् नाना रूप होकर नाना शरीरोंमें विचरता है। यह बात सिद्ध होती है, नाना रूप लेनेका अर्थ नाना देवताओंके रूप धारण करना है यह बात अगले मंत्रोंमें देखिये—

सर्वदेवरूपी प्रभु

(वामदेवः । बृहस्पतिः । त्रिष्टुप्)

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋ. ४।५०।६; अथर्व. २०।८८।६)

(विश्वदेवाय) सब देवोंके रूपवाले (वृष्णे) बलवान् (पित्रे) रक्षक देवके लिये हम नमनपूर्वक हविके साथ यज्ञ करते हैं। हे ज्ञानवान् उत्तम प्रजाओंके साथ हम वीरवान् बनें और हम धनोंके स्वामी बनें।

इस मन्त्रमें बृहस्पति देवताको ' विश्वन्देव ' कहा है। विश्वदेव का अर्थ सब देवोंके नाना रूप धारण करनेवाला। ३३ देवोंके रूपोंमें प्रकट होनेवाला यह ईश्वर है। इस विश्वमें जो भी कुछ है, वह सब देवतामयही है। यहां की प्रत्येक वस्तु देवता है। और ये देवताएं ब्रह्मसे बनी हैं। अतः देवताओंको ' ब्राह्म ' कहते हैं, और आत्माको ' ब्रह्म ' कहते हैं। ' एकही सत् है। ज्ञानीजन इस सत्का अनेकविध वर्णन करते हैं। इसी एक सत्को ज्ञानीजन इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कहते हैं। ' ऐसा ऋ. १।१६४।४६ में कहा है। यही बात हमने इतने मंत्रोंमें देखी है। इन्द्र, अग्नि, रुद्र, ब्रह्म, यम, (आप्, वायु, औषधी), एकः, बृहस्पति इतने देवोंका वर्णन यहां समान रूपसे ही आया है। ये सभी देव बहुरूपी बनते हैं, ऐसा यहां कहा है। इन्द्र भी विश्वदेव है, इस विषयमें अगला मन्त्र देखिये—

(नृमेधः । इन्द्रः । उष्णिक्)

त्वमिन्द्राभिभूरसि, त्वं सूर्यं अरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥ (अथर्व. २०।६२।६)

हे इन्द्र ! तू शत्रुका पराभव करनेवाला है, तू सूर्यको प्रकाशित करता है। तू विश्वकी रचनाका कर्म करता है, तू (विश्वदेवः) सर्व देवरूपी है और सबसे बडा है।

ईश्वरने सूर्यको प्रकाशित किया है, संपूर्ण विश्वकी रचना उसने की है, वही सर्व देवोंका रूप है अर्थात् वही देव सब बना है।

पूर्व मन्त्रमें बृहस्पतिको 'विश्व-देव' कहा था, इस मन्त्रमें इन्द्रको 'विश्व-देव' कहा है अर्थात् जो बृहस्पति है वही इन्द्र है और जो इन्द्र है वही बृहस्पति है। एक ही देवके ये सब नाम हैं। एक ही देव सब-देव-रूपी है तथा वही सर्व मानवरूप भी है, इस विषयमें इन्द्रके ही मन्त्र देखिये-

सर्वमानवरूपी इन्द्र

(मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री)

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा॥
(अथर्व २०।७१।९)

हे (विश्वचर्षणे) सर्व मानवरूपी इन्द्र। (सुशिप्र) उत्तम हनुवाले इन स्तुतियोंसे तू आनंदित हो।

इस मन्त्रमें 'विश्व-चर्षणि' इन्द्र है, ऐसा कहा है। 'विश्व-चर्षणि का अर्थ है सब मनुष्यरूप। सब मानवोंके रूप यह इन्द्र धारण करता है, यही बात अगले मन्त्रमें देखिये-

(त्रिशोकः। इन्द्रः। गायत्री)

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर॥
(अथर्व. २०।४३।३)

(विश्व मानुषः ते) सब मनुष्यरूप तुझ इन्द्रका वह जो सब स्पृहणीय धन है, वह हमें ला दे।

इस मन्त्रमें सर्व मानवरूप इन्द्र है, ऐसा कहा है। अग्निका नाम 'वैश्वा-नर' सुप्रसिद्ध है। 'विश्व-नर' का अर्थ 'सर्व-मानव' ऐसा ही है। ये तीनों पद यहां देखिये-

विश्व-चर्षणिः (इन्द्रः)= सर्व मनुष्यरूप इन्द्र
विश्व-मानुषः (,,)= ,, ,, ,, ,,
वैश्वा-नरः (अग्निः)= ,, ,, ,, अग्नि

इनके साथ निम्नलिखित पद भी देखनेयोग्य हैं—

पुरु-रूपः	(इन्द्रः)=	अनेक रूपोंवाला इन्द्र
पुरु-वर्पस्	(,,)=	,, शरीरों ,, ,,
पुरु-रूपः	(अग्निः)=	,, रूपों ,, अग्नि
,, ,,	(रुद्रः)=	,, ,, ,, रुद्र
,, रूपं	(ब्रह्म)=	,, ,, ,, ब्रह्म
,, रूपः	(यमः)=	,, ,, ,, यम
,, रूपा	(पथ्या)=	,, ,, ,, वर्णनीय देवता
विश्व-देवः	(बृहस्पतिः)=	,, देवोंके रूप धारण करनेवाला बृहस्पति
,, ,,	(इन्द्रः)=	,, ,, ,, ,, ,, इन्द्र

ये सब पद एक ही वैदिक सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं, वह सिद्धान्त यही है कि, एक ही प्रभु सब विश्वके रूपमें दीख रहा है। देखिये-

सर्वमानवरूप मन्यु

(ब्रह्मा स्कन्दः। मन्युः। त्रिष्टुप्)

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयान् अस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥
(अथर्व. ४।३२।४)

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तू सचमुच प्रभावी सामर्थ्यवाला है। तू (स्वयंभूः) स्वयं ही होता है अथवा स्वयं ही विश्वको उत्पन्न करता है, (भामः) तेजस्वी, (अभिमातिषाहः) शत्रुओंको परास्त करनेवाला (सहुरिः) सामर्थ्यवान् (सहीयान्) शत्रुओंका नाश

"तू स्त्री, तू पुरुष है, तू कुमार और कुमारी है। तूं जीर्ण होकर डण्डा हाथ में लेकर चलता है, तू जन्म लेकर सब ओर मुखवाला होता है।"

एक ही आत्मा स्त्री पुरुष, कुमार कुमारी, तरुण वृद्ध होता है। वही सब प्राणियों के रूप लेकर सब ओर मुखवाला होता है। प्रभु सब प्राणियों के रूप किस तरह लेता है इस का वर्णन (पृ० ३८२ से आगे के सब लेखों में यही बात है) पाठक देख सकते हैं। प्रजापति गर्भ में प्रविष्ट होता है और नाना रूपों में तथा कुमार तरुण वृद्ध आदि अवस्थाओं में विचरता है ऐसा यहां नाना मन्त्रों के प्रमाणों से बताया है। पाठक ये लेख इस प्रसंग में देखें।

यहां 'विश्वतोमुखः' पद है। सर्वत्र मुखवाला ऐसा इस का अर्थ है। सब प्राणी सर्वत्र हैं, अतः सब प्राणियों के मुख इसी प्रभु के मुख होने से वह सर्वत्र मुखवाला है। अन्यान्य अवयव भी इस के ऐसे ही सर्वत्र हैं, इस का वर्णन करनेवाला मन्त्र विभिन्न संहिताओं में कुछ कुछ पाठभेद से है उसे अब देखें—

(विश्वकर्मा भौवनः। विश्वकर्मा। त्रिष्टुप्)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(ऋ. १०।८१।३; वा. य. १७।१९)

(ब्रह्मा। अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतम्। भुरिग्जगती)

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो
यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैः

सं बाहुभ्यां नमते सं यजत्रैः
द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः॥ (काठक १८।१३)
सं बाहुभ्यामधमत् सं पतत्रैः०॥ (मै. सं. २।१०।१८)

परमेश्वर (विश्वतः चक्षुः) चारों ओर नेत्रवाला है, (उत विश्वतः मुखः) और चारों ओर मुखवाला है तथा (विश्वतः बाहुः) चारों ओर बाहु और (विश्वतः पात्) चारों ओर पांववाला है। (बाहुभ्यां पतत्रैः सं स धमति) वह अपने बाहुओं तथा पंखों से सर्वत्र गति करता है। (द्यावा-पृथिवी जनयन्) द्युलोक और पृथिवी की उत्पत्ति करनेवाला यह (एकः देवः) देव एक ही है।

अथर्ववेद में इस देव को ' विश्व-चर्षणिः ' अर्थात् ' सर्व मनुष्यरूप यह देव है ' ऐसा कहा है। यदि सर्व मनुष्यरूपी यह देव है तब तो इस के नेत्र, हाथ, पांव, मुख चारों ओर हैं यह बात स्वयं सिद्ध है। विभिन्न शाखाओं में इस के पद विभिन्न हैं देखिये—

१ विश्वचर्षणिः (सर्व मनुष्य रूपी देव) [अथर्व० १९।३३।४]
२ विश्वतोबाहुः (सर्वत्र बाहुवाला) [ऋ० १०।८१।३];
विश्वतस्पाणिः [अथर्व०]; विश्वतो हस्तः [काठक० १८।१३]
३ विश्वतस्पृथः (चारों ओर हाथवाला) [अथर्व० १३।२।२६]

द्यावापृथिवी का प्रजनन करनेवाला यह देव एक ही है। यह (सं धमति) सर्वत्र श्वासोच्छ्वास करता है, (सं भरति) भरण पोषण करता है, (सं नमते) सर्वत्र नम्र होकर चुपचाप रहता है। (सं अधमत्) सर्वत्र जीवन का संचार करता है। ऐसा यह देव एक ही है। इस विषय में निम्नलिखित दो मन्त्र देखने योग्य हैं—

सर्वशरीरी सर्वात्मा

(अथर्वा । सर्वात्मा रुद्रः । पंक्तिः)

इन्द्रस्य गृहोऽसि। तं त्वा प्रपद्ये, तं त्वा प्रविशामि, सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मे अस्ति तेन॥
(अथर्व. ५।६।११-१४)

तू इन्द्र का संरक्षक सामर्थ्य है, तुझे प्राप्त होते है, तेरे अन्दर प्रविष्ट होते हैं। (सर्व-गुः) तू सब इंद्रियरूप अथवा गोरूप, किंवा सब गौओं से युक्त है, (सर्वपूरुषः) सब मानवरूप तू है, (सर्वात्मा) तू सर्वात्मा है, (सर्व तनूः) सब शरीर तेरे ही हैं। जो मेरे पास है उस के साथ तेरी सेवा हम करते हैं।

इस मन्त्र में चारो पद विचार करने योग्य है वे पद हैं—

सर्वात्मा = सब का एक आत्मा है

सर्व-तनूः = सब शरीर धारण करनेवाला एक आत्मा है,

सर्व-पूरुषः = सब मानवरूपी प्रभु है,

सर्व-गुः = सब गो नाम इंद्रियशक्तियों से युक्त वह आत्मा है।

सब मानवरूप प्रभु होने से, उस के ये सब शरीर हैं, और उस के सब शरीर होने से, उस के सब इंद्रिय हैं। अतः उस के बाहु, हाथ, पाव सर्वत्र हैं यह जो पूर्व मन्त्र में (विश्वतोबाहुः, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतो-मुखः, विश्वतोहस्तः आदि पदों द्वारा) कहा है, उस का ठीक ठीक भाव ध्यान में आ सकता है। सब प्राणियों के मुख, बाहु, हाथ, पांव उसी के अवयव हैं, और वे पृथ्वीभर में चारों ओर हैं। यही प्राणि-समष्टि-रूप विश्वात्मा मानवों का उपास्य है। तथा और देखिये—

(अथर्वा । ओदनः)

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ॥

(अथर्व ११।३ (२) ३२-४८)

वह (ओदनः) अन्न (सर्वांगः) सब शरीररूपी, (सर्वतनूः) सब देहवाला (सर्वपरुः) सब अवयववाला है।

अन्न से ही सब प्राणियों के देह, अवयव और अंग होते हैं वैसा ही अन्न परमात्मा का रूप है। परमात्मा ही अन्न बनता है और सब देहों के रूपों में ढल जाता है।

यहां ओदनरूप देवताको ' सर्वांगः, सर्वपरुः, सर्वतनूः ' कहा है। इस का आशय भी पूर्ववत् समझना उचित है। इस से सिद्ध है कि प्रभु सर्व प्राणियों के रूप से हमारे सामने है। इसी का नाम ' वैश्वानर ' है। यह पद अगले मंत्र में देखिये—

(खिलं)

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिं आ सुनोता परिक्षितः॥

(अथर्व. २०।१२७।७)

(यः देवः) जो एक देव (मर्त्यान् अति) मर्त्य मानवों का अतिक्रमण करके, पूर्णतया अमर है, उस (विश्व-जनीनस्य) सब जन्म लेनेवाले (वैश्वा-नरस्य राज्ञः) सब मानवस्वरूपी राजा की (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुति करो।

यहां भी सब मानवरूप प्रभु का वर्णन है। इस तरह वेदों में मानव, प्राणी, पशुपक्ष्यादि जंगम जगत्, स्थावर विश्व, सूर्यचन्द्रादि देव ये सब प्रभु के रूप हैं, ऐसा कहा है। यही सब मानवोंके लिये प्रत्यक्ष उपास्य देव है।

प्रत्येक मानव यह माने कि " मैं प्रभु के देह का प्रत्यक्ष अंश हूं। अतः मैं प्रभु से अनन्य हूं, अर्थात् मै प्रभु से पृथक् नहीं हूं।" इस अनन्य भाव से प्रभु की सेवा जितनी हो सकती है, उतनी प्रत्येक मानव करे। मानव की इतिकर्तव्यता का यही एक मार्ग है।

' पुरु-रूप ' का अर्थ 'अनेक रूप, अनेक प्रकार का ' ऐसा होता है और यह पद इस अर्थ में अन्य वर्ण्य विषयों का विशेषण भी होता है। इस के कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

१ पुरुरूपं वाजं आभर (ऋ. ८।१।४, ८।६०।१८; अथर्व. २०।८५।४)= अनेक प्रकार का अनेक रंगरूपवाला अन्न दो।

२ पुरुरूपं शतिनं (ऋ. २।२।९) = अनेक प्रकार का, सैकडों प्रकार का धन।

३ पुरु-रूपा प्रजावतीः गावः (ऋ. ६।२८।१; अथर्व. ४।२१।१) = अनेक रंगरूप आकारवाली बछडोंवाली गौवें।

इतने उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'पुरु-रूप' पद का अर्थ अनेक-रूप-वाला है। अतः जब यह पद प्रभु का विशेषण होता है, तब 'नाना रूपों का धारक' इस अर्थ को बताता है। यही वर्णन इस लेख में किया है।

यहां हमने बताया है कि जो पूर्व लेखमें 'विश्व-रूप' (पृ. ३८२) पदसे वेद ने बताया था, वही इस लेख में 'पुरु रूप' पद से बताया है। इसके साथ अन्यान्य पद भी इसी अर्थ को स्पष्ट करनेवाले हैं। पाठक इस का विचार करें और इस विश्वरूप को 'प्रभु का स्वरूप' जानकर स्वकर्तव्य से विश्वसेवा कर के कृतकृत्य होने का पुरुषार्थ करें।

---

(२९)

वेदमें वर्णित ईश्वरका दर्शन

'वैदिक ईश्वर अदृश्य नहीं, वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।' इस आशयके लेख पढनेपर कई लोगोंको अचम्भा प्रतीत हुआ होगा इसका उत्तर देना आवश्यक है–

ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है कि, जैनों एवं बौद्धोंके पूर्ववर्ती वैदिक धर्म और वर्तमान कालमें प्रचलित हिंदुधर्मके बीच अँधियारी और उजालेकी नाई बडा भारी अन्तर विद्यमान है। उपर्युक्त अचम्भेमें गर्भित रूपसे विद्यमान शंकाको हटानेके लिए इस प्रचण्ड विभिन्नताको समझ लेना सुतरां आवश्यक है। जैनों एवं बौद्धोंने वैदिक धर्म पर जो आघात किये थे उनकी अमिट छाप सदाके लिए उस पर बैठ गयी और उनके प्रसृत अ-वैदिक

मतों एवं विचारधाराओंको आगे चलकर शाश्वत रूपसे हिन्दुधर्ममें अन्तर्भाव हो गया। इसका नतीजा यही हुआ कि आजकल का प्रचलित हिन्दुधर्म सभी विभिन्न मतमतान्तरोंका अनोखा सम्मिश्रण बन चुका है और चाहे जो मत हिंदुधर्ममें पाया जाता है। यह तो इसका स्पृहणीय लक्षण है, ऐसा कई मानते हैं। लेकिन इससे हिंदुजातिकी जो क्षति हुई है, उसे हटाना थोडेसे प्रयत्नोंसे संभव है, ऐसा नहीं जान पडता। दुराचार कालके आचार्य, साधुसन्त, कथाकीर्तन करनेवाले सज्जन जो कुछ आज कह रहे हैं वह इसी सम्मिश्रणात्मक धर्मका विवरण करनेके लिए है। यद्यपि ये अपने आपको वैदिकधर्मी कहलानेमें गौरवका अनुभव करते हैं, तथापि ये इस बातसे पूरा अनभिज्ञसे जान पडते हैं कि, अवैदिक कल्पनाओंका उच्चार एवं प्रचार ये स्वयं ही बिना सोचे कर रहे हैं। इस मिलावटी धर्मका इतना गहरा प्रभाव इनके वक्ता तथा श्रोताओंके अन्तस्तलपर हुआ है और यह दृढमूल भी हो चुका है। अतः यदि कोई कई शताब्दियोंकी परंपरामें रूढ इस धारणाके खिलाफ वेदमन्त्रोंके आधारपर प्रतिपादन करने लगे तो वह इन्हें बडा ही अरुचिकर प्रतीत होता है, उसे पढनेपर इनकी आत्मा तिलमिला उठती है, पुराने संस्कारोंको भारी ठेस पहुंचनेके फलस्वरूप ये बडेही व्यथितहृदय एवं क्षुब्ध हो उठते हैं और सत्य वैदिक सिद्धांतोंका ग्रहण करना बडा दूभर जान पडता है। यह क्यों? सिर्फ इसीलिए कि स्वयं वैदिक धर्मानुयायियोंके दिलपर अवैदिक वायुमण्डलका एवं वेदविरुद्ध धारणाओंका खूब गहरा तथा चिरस्थायी प्रभाव पडा हुआ है।

इस सम्बन्धमें निहायत स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए इसलिए निम्नलिखित कोष्टकमें वेदप्रतिपादित सत्य सिद्धांत एक ओर और अवैदिक जैनबौद्धादिकोंके मत दूसरी ओर दर्शाकर तौलनिक ढंगसे पाठकोंके सम्मुख वैदिक एवं अ-वैदिक सिद्धान्तोंके बीच पाई जानेवाली चौडी खाईका स्वरूप रखा है, ताकि वे जान लें कि वेदके सत्य सिद्धांतोंका स्वरूप कितना उज्ज्वल है।

वैदिक सत्य सिद्धान्त	भ्रामक अ-वैदिक मत
१. 'एकं सत्' (ऋ. १।१६४।४६) = एक ही सच्चिदानन्दमय ब्रह्म विराजमान है।	१. शून्य (कुछ भी नहीं)।
२. 'नेह नानास्ति' = यहाँ अनेक वस्तुएँ नहीं हैं।	२. यहाँ अनेक वस्तुएँ हैं और वे परस्पर विभिन्न हैं, एकका दूसरेसे संबन्ध नहीं।
३ 'पुरुष एव इदं सर्वं' (ऋ. १०।९०।२) = यह सारा विश्व परमात्माका ही रूप है, या ईश्वर विश्वरूप ही है।	३. शून्यमेंसे सृष्टि निकली, अत यह हीन, दीन, हेय त्यागने योग्य है।
४. परमात्मा विश्वरूप है,इसलिए समूचा विश्व आनन्द-मय है।	४. यह सृष्टि अनित्य, नश्वर, दुःख-शोक-मय है, अतः त्याज्य है।
५. चूँकि विश्वरूप परमात्माका ही रूप है, अत यह आदरणीय तथा सेवनीय है।	५. दुःखशोकपूर्ण होनेसे सृष्टिका त्याग करना ठीक है। (विविध उपायोंसे देहत्याग कर इस बंधनसे रिहाई पाना)
६. विश्व परमात्माका रूप है, इसलिए उसमें जन्म लेना बंधनकारक नहीं, इससे परमात्मामें निवास करना स्पष्ट एवं प्रकट होता है। जीव एवं शिवमें इस भाँति अभेद देखना, महसूस करना और तद्रूप कर्म करनाही कृतकृत्य होना है।	६. जन्म बंधनरूप है, जिससे जन्मही न होने पाए ऐसा करना ठीक है और यही मुक्तिका साधन है। शरीर पिंजड़ा है, इसमेंसे जल्द छूटना चाहिए (कठोर उपवासादि साधनोंसे देह कृश करना है।)

७. परमात्माके जीव अपना निवास स्पष्ट होता है, अतः जन्म लेना अपना स्वभावही है। बन्धन तो नहीं लेकिन यही कृतकृत्यताके लिए आवश्यक है।	७. कर्मफलोंका भोग होता रहे इसलिए जन्म है, शरीर बंधनरूप है, जन्म न हो तो अच्छा, जन्म एवं शरीरको देखनेसे भी ऊब जाय तो ठीक। देहपर तिरस्कार करके ऊँची साँस खींचनी चाहिए, क्योंकि यह मलरूप है।
८ जन्म देनेहारा गृहस्थाश्रम अतीव आदरणीय है। नारीका स्थान महत्वपूर्ण है। क्योंकि वही ब्रह्मके अंशको धारण कर प्रकटीभवनमें सहायता देती है।	८. नारी शरीरको जन्म देती है, इसीलिए वह तिरस्कर-णीय, इसी कारण गृहस्थाश्रम पापमूलक एवं त्याज्य है। नारी पापकी खान, उससे दूर भागना, भिक्षु बनना ठीक, गृहस्थी न बने तो ठीक, संतान न पैदा हो ऐसा करना, मरणकी राह देखता रहे।
९. मानवी शरीर सात ऋषियोंका पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। (वा. य. ३४।५५)	९. मनुष्यका शरीर पूयविण्मूत्रका गोला है, मला किस के भरे गृहमें कौन ज्यादह देर ठहरेगा? शरीरको घोरदुःखरूप समझ देनेसे यहाँसे तुरन्त भाग जानेकी इच्छा पैदा होगी।
१०. मानवी शरीर ३३ देवताओंका निवासस्थल एवं मन्दिर है।	१०. शरीर पापमूलक है, गन्दगीका भण्डार है।
११. सात ऋषियोंका आश्रम एवं ३३ देवताओंका घेर नरदेहको जन्म देनेवाली नारी देवी है, अतः	११. पापमूलक नरदेहको जन्म देनेवाली नारी पापकी मूर्ति है, वही सभी पापों तथा दुःखोंका आदिस्रोत है, अतः

वैदिक सत्य-सिद्धान्त	भ्रामक अ-वैदिक मत
गृहस्थाश्रम पवित्र, दस बालकोंको जन्म देना (दशास्यां पुत्राना धेहि ।' ऋ. १०।८५।४५)	उसका दर्शन दूरतः त्याज्य है ।
१२. नरदेहमें ३३ देवोंके तथा विश्वव्यापी सारी दिव्य शक्तियोंके अंश हैं । योगसाधनद्वारा इस दिव्य वैभवका अनुभव ले लेना तथा इसे बढ़ाना । दीर्घ जीवनकी प्राप्ति करना ।	१२. नरदेह सिर्फ मलिनता एवं पूयविण्मूत्रका गोला है, अतः इस बंधनको जितना जल्द हो सके दूर करना निहायत जरूरी है । देहकी कृशता यदे ऐसे उपायोंको काममें लाना तपस्या है ।
१३. जीवका शिवमें परिणत होना (अहं ब्रह्माऽस्मि) अत्यन्त महान् सर्वोपरि सामर्थ्य मुझमें है, ऐसी अनुभूति पाना ।	१३. शून्यसे जीवका आविर्भाव हुआ, अत अन्तमें यह निष्क्रिय एवं शून्य बन जाय, निष्क्रियता ही साध्य है ।
१४. गर्भवास अनिवार्य, आवश्यक एवं आदरणीय । गर्भमें सभी दिव्य अंश आ जायँ इसलिए गर्भधारणाके समय प्रार्थना करना (देखो गर्भाधान मंत्र), इसके लिए कई अनुष्ठान करना, इच्छानुसार गुणवान् पुत्र उत्पन्न करना और आगामी पुश्त गुणोंमें अधिकाधिक गुणसंवर्धन करना ।	१४. सभी दुःखोंका आदिस्रोत गर्भवास है, इस कारण यह तिरस्करणीय, जो कुछ भी गर्भवासके लिए कारणीभूत यह सारा हेय मानना ।
१५. जन्मका अर्थ शरीर पाना है, जो कि विश्वरूपी परमात्माके शरीरका एक अंश है । अतः इससे अपना परमा-	१५ जन्मकी वजहसे शरीर मिलता है और शरीरके कारण दुःखका भोग करना पड़ता है, अतः जन्म बुरा है

स्मामें अपना स्पष्ट और प्रकट होता है, इसलिए जन्म श्रेष्ठ है और जन्मदात्री माता स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।

१६. प्रवृत्तिके कारण कर्म करना पडता है, जिसे ईश्वर तथा जीवका अनन्य संबंध जानकर तदनुरूप कर्म करना उन्नतिके लिए सहायक होता है। (न कर्म लिप्यते नरे। वा० यजु० ४०।२) शरीरके कारण कर्म किया जाता है, अतः वह उन्नतिके लिए मदद करता है। इस कारणसे यह आवश्यक है कि विशिष्ट मेधाबुद्धिसंपन्न संतान पैदा की जाय।

१७ समूचा विश्व एकही सत्ता है (एकं सत्) यहाँ विभिन्न सत्ताओंके लिए स्थान नहीं। सब मिलकर एक ही सत्तामें परिणत होनेसे मुक्ति सबकी मिलकर एक होगी। इसी कारणसे, हरएक पुरुष अधिक प्रगतिशील हो ऐसी सतर्कता रखनी आवश्यक है। समाज विशिष्ट दिशामें तिशील हो, यह सबके लिए अनिवार्य कर्तव्य है। अकेली प्रगति नहीं हो सकती, व्यक्ति और समाज परस्पर

और जन्म देनेवाली नारी पापरूपिणी है, जिसका स्मरण-तक करना अनिष्ट है।

१६. प्रवृत्ति होनेसे कर्म हुआ करते, कर्मसे दोष पैदा होते हैं जिनसे पापोंका निर्माण होता है और पापफल भोगनेके लिए शरीरधारण करना पडता है। यही कारण है कि प्रवृत्ति ही बुरी है तथा शरीर भी एक बंधन ही तो है। इस कारण वही मुक्तिका साधन है जो शरीर-प्राप्तिको ही रोक दे। सत्प्रवृत्ति एवं असत्प्रवृत्ति दोनों बुराइयाँ हैं कारण दोनोंके फल भोगनेके लिए शरीर-धारण अनिवार्य है जो कि निरा बंधन ही है।

१७. हरएक जीव भिन्न है। एक जीवका दूसरे जीवसे कोई संबंध नहीं, अत हरएक अपनी निजी उन्नति करता रहे, दूसरेकी चिंता काहेको? कौन किसका सगा है? जीव अकेला आया, अकेला ही जायगा। इस प्रकृतिकी धर्म-शाला या सरायमें विवश हो ठहरना पडा है, यहाँसे आगे निकलना है, अतः प्रस्थान करनेकी जल्दी करनी चाहिए।

वैदिक सत्य-सिद्धान्त

सुसंबद्ध है । उनका हितसंबंध एक दूसरेसे निगडित है ।

१८. हरएक यहाँपर यज्ञीय जीवन बिताये, क्योंकि यज्ञ करनेके लिए ही जन्म हुआ है, अतः यथाशक्ति यज्ञका प्रचलन जीवनभर अक्षुण्ण रहे ।

१९. इस विश्वमें प्रत्यक्ष स्वर्गधाम उतर आए इसलिए नीरोगितापूर्ण दीर्घजीवन पाना चाहिए और आजन्म यज्ञीय जीवन व्यतीत करें ।

२०. परमात्मा विश्वरूपी है और उसीकी उपासना, सेवा करना ठीक है ।

२१. (सहस्रशीर्षा पुरुषः) इस परमात्माके सहस्रों मस्तक, हजारों हाथ, सहस्रों पेट एवं सहस्रों पैर हैं (जो प्राणी हैं वे सभी विश्वरूपी परमात्माके विभिन्न रूप हैं)

२२. (ब्राह्मणोऽस्य मुखं०) इस परमात्माके मुख ज्ञानी, बाहु ये क्षत्रिय जो कि प्रजाको क्षतिसे बचाते हैं तथा कृषिगोरक्षवाणिज्यमें निरत वैश्य परमेश्वरका मध्यभाग और निरे श्रमजीवि उसके पैर हैं । इसी नारा-

भ्रामक अ-वैदिक मत

'१८. यज्ञादि कर्म निरा पागलपन है, यज्ञ याने कर्म, लेकिन कर्म ही बंधनकारक है, इसलिए कोई उस झंझटमें न पडे ।

१९. इस दुःखमय संसारमें छनभर भी निवास करना अयोग्य है; घरबार छोड दो, सर्वस्व त्याग दो, देह क्षीण करो, अहद शरीरत्याग कर दो ।

२०. संसार दुःखपूर्ण और हेय है । जो दिखाई दे रहा है वह दुःखका कारण है तथा क्षणभंगुर भी है ।

२१. विभिन्न देहोंमें कर्मफलका उपभोग लेनेके लिए जीव आये हैं, वे सभी विविध दुःख भोगते रहे हैं, यह देख विचारशील मानवको खिन्न होना चाहिए ।

२२. सभी लोग बंधनमें पडे हुए हैं, संसार एक महान् कारागृह है जिसमें पूर्वकर्मोंके भोक्ता पडे हैं । यह संसार असार है । यह सृष्टि हानिकारक है इसलिए इस विषयमें उदासीनता दर्शाना ही मुक्तिकी पहली सीढीपर पैर

यणकी सेवा करना मुक्तिका साधन है।

२३ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जिसमें समाविष्ट हैं, वह जनता ही नारायण है। जहाँ जिसकी अल्पता हो वहाँ उसकी पूर्ति करके परमात्माकी सेवा करना हरएकका कर्तव्य है, सेवा करना ही उपासना है।

२४. विचारशील मानव ही समझ पाता है कि इस विश्वरूप परमात्माकी आवश्यकता किस तरह पूर्ण, की जा सकती है? वैसा करके ही परमात्माको संतुष्ट रखा जा सकता है और यह जानना कि उपासना तथा सेवासे इसे प्रसन्नता हुई या नहीं, अत्यन्त आसान काम है।

२५. विश्वरूप परमात्मा (गीता० ११ वाँ अध्याय) आनन्दमय है। (पुरुरूपः इन्द्रः। ऋ ६।४७।१८)

२६. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (बृ. उ. २।३।१) एकही ब्रह्मके दो रूप हैं, एक साकार तथा दूसरा निराकार। मूर्त तथा अमूर्त मिलकर एक ब्रह्म है, वही विश्वरूप बना है।

२७. प्रकृति, जीव, ईश्वर मिलकर 'एक सत्' है, या एक सत्के ही ये तीन रूप हैं।

रखना है।

२३. परमात्मा, ईश्वर नामक कोई है ही नहीं, तो ईश्वरसेवा कहाँकी? हर कोई विभिन्न है और अपने अपने रास्ते पर चले। यहाँ एक दूसरेका संबंध ही क्या?

२४. भाइयो! यह संसार नश्वर है, विनाशी है। आगे की तैयारी करो, इस सारहीन संसारमें क्या मिलेगा? यहाँके मोहमें न फँस जाना, वर्ना शोक दुःख पीछे पड़ेंगे। अत. सांसारिक बातोंमें उदासीन बनना ठीक।

२५ संसार दुःखरूप है जिसका त्याग करनेसे सुख मिलेगा। भला कारागृहमें सुख कैसे?

२६. पंच महाभूत विभिन्न हैं। अमूर्त परमात्मा नामक कोई नियंता नहीं है। सब मिलकर एक सत्ता नहीं। हरएक जीव अलग है।

२७. संसार स्थूल है जो कि दुःखमय है। जीव जिस किसी ढंगसे पैदा होता है। ईश्वर कोई है ही नहीं।

ऊपर दिया हुआ कोष्टक पूर्ण नहीं है, क्योंकि सिर्फ बानगी के तार पर यह दिया गया है, अतः वह संक्षिप्त है। इसमें किन्हीं जगहों पर मन्त्र दिये हैं तो अन्य स्थानों में नहीं दिये और चूँकि सभी जैन-बौद्धों एवं तत्सम मतों से परिचित हैं, इसलिए उन के आधारवचन नहीं दिये हैं।

इस ऊपर दिये हुए कोष्टक के देखने से पाठकों के दिल में यह बात भली भाँति पैठ गयी होगी कि सत्य वैदिक सिद्धान्तों तथा अन्य प्रचलित अ-वैदिक मतों में आकाशपाताल का अन्तर है। बौद्धों के पश्चात् जितने दर्शनकार हुए वे सभी 'दुःख-जन्म-दोष मिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः।' इसी सिद्धान्त पर सुदृढ विश्वास रखते थे। मिथ्या ज्ञान से दोष पैदा होता है, दोष की वजह से जन्म लेना पड़ता है और जन्म लेने का मतलब यही कि अविरत दुःख भोगते रहना। इस भाँति यह मानव-जन्म दुःखों से लबालब भरा है। आज यही धारणा हरजगह प्रचलित है और इसी सिद्धान्त को बारबार दोहराना व्याख्याताओं एवं उपदेशकों का प्रमुख कर्तव्य बन बैठा है !!!

अब तनिक जन्मविषयक वैदिक धारणा को देखिए, वह ऊपर की कल्पना से कितनी विभिन्न दिखाई देती है। ब्रह्म का अंश तथा ३३ देवताओं के अंश मिलकर उचित स्थान खोजने में लगे हैं कि अवतार लेकर यज्ञ किया जा सके। ठीक जगह निश्चित होनेपर वे उस में प्रवेश करते हैं। यही गर्भ का प्रारंभ है। यह धारणा अत्यन्त पवित्र है और पाप से कोसों दूर है। इन ३४ देवों का निवासस्थान अर्थात् ही मानवी शरीर है जिसे देवताओं का मन्दिर या ऋषियों का आश्रम भी कहा है। यहाँ पर शतसावत्सरिक सत्र या यज्ञ प्रचलित है या जारी रखना है। हाँ, रोग आदि अनेक राक्षस या दानव उस यज्ञ में रोड़े अटकाने के लिये हर तरह से कोशिश करते हैं, परन्तु उन का जबर्दस्त प्रतिकार करके इस शतवार्षिक यज्ञ को सानन्द एवं सकुशल निष्पन्न करना देवों एवं ऋषियों का आद्य कर्तव्य है। ठीक उसी तरह, यह उच्च कोटि का देव-मन्दिर बने तथा सर्वोपरि पवित्र ऋषि आश्रम हो जाय, ऐसा उत्तरदायित्व इन साधकों पर रखा है।

इस के साथ की दूसरी कल्पना, जिस के कि चँगुल में हमारी जनता इस कदर बुरी तरह फँस गयी है कि उसे छोडना महा कठिन कर्म जान पडता है, अर्थात् ' मानवी देह गन्दगी का घर है ' इस विचारप्रणाली के फल-स्वरूप यदि जनता शरीर से ऊब जाए तो कौन अचरजकी बात है ? जब कि वैदिक काल में यह धारणा जनसाधारण में प्रचलित थी कि परमात्मा का ही रूप यह सारा विश्व है । धीरेधीरे यह विलुप्त हुई और आजदिन अगर जनता किसी एक विचारधारा से प्रबलतया प्रभावित है तो वह यही कि जगत् असार अशाश्वत तथा दु:खमय है । इस नितान्त अवैदिक कल्पना के फंदे में जनमानस यहाँ तक अटक गया है कि मूल वैदिक विचारकी ओर आँख खोलकर देखना भी किसी को पसन्द नहीं !

वेदकाल में जब छात्रगण आठवें वर्ष में गुरुगृह चले जाते तो ' पुरुष-सूक्त '.पढ लेते थे । आज उसी अवस्था के छात्र शालामें जाकर ' क्षणभगुर ससार ' का पाठ पढते हैं । असदाय, वेदकालीन विद्यार्थियों को पुरुषसूक्त के मन्त्र समझना कठिन न था । ' पुरुष एव इदं सर्वं ' मन्त्र का धीर-गभीर ध्वनि से पठन करते ही तुरन्त वे बडी आसानी से समझते थे कि ' यह समूचा विश्व ही साक्षात् पुरुष या परमात्मा है । ' मूर्त और अमूर्त के अभिन्नत्व को बतानेवाला ' पुरुष ' शब्द बडा ही उत्कृष्ट है । इस पद ने दर्शाया कि प्रकृति एव चेतन में एकता है । जैसे ' ब्रह्म ' पद से जतलाया कि मूर्त+अमूर्त= एक सत् है, जैसे मधुरिमा+खांड = एक शक्करका ढेला बनता है वैसे ही प्रकृति+पुरुष = एक सत् है और यह उसी पुरुष का रूप है । वैदिक युग के बालक आठवें वर्ष ही इस बात से भली भाँति परिचित हुआ करते थे । '

लेकिन आज की हालत क्या है ? क्या बालक, क्या बूढे सभी पर ससार की दु:खमयता तथा असारता की धुन सवार है । इसी विचार की बदौलत इन साधकों पर इसी अवनीतलपर स्वर्गधाम बनाने का जो उत्तरदायित्व था वह हट गया और सारशून्य ससार के बारे में घोर उदासीनता जनता में छा गयी । पाठक ध्यान में रखें कि वेदोत्तरकालीन हीन विचार-प्रवाह की यही-

छल जो जनमानस में उथलपुथल हुई उस से लगभग हमारे सारे जीवन पर बुरा परिणाम ही हुआ।

पुरुष अर्थात् परमात्मा और यह विश्व उसी का प्रत्यक्ष रूप है जो कि हर-कोई देख सकता है। 'परमात्मा का यह प्रत्यक्ष विश्वरूप अपने चतुर्दिक् विराजमान है और मैं उसी का एक अंश हूँ (देखो गीता का वचन, " ममैव अंशो जीवभूतः सनातनः" गी. १५।७) मैं परमात्मासे विभिन्न नहीं, किन्तु अनन्य हूँ।' इस की जानकारी होने से अंश अपना कार्य यथाशक्ति संपूर्ण की सेवा के लिये करता रहे। बस, इसी का नाम यज्ञ है और अनन्यभावसे संपन्न होने पर यह बडा ही प्रभावशाली साधन सिद्ध हो सकता है। वेदकाल में मानवको परमात्मासे अपना अनन्यत्वसम्बन्ध उपर दिखलाये ढंगसे शिक्षा प्राप्त होने से ज्ञात होता था। पर आज बिलकुल उलटा प्रकार दीखता है।

यह विचारणीय है कि हिन्दुजाति के सभी देवदेवता अतीतमें मानवरूपसे अवतरित हुए हैं। उदाहरणार्थ राम, कृष्ण आदि। यह जाननेपर भी वर्तमान में हिन्दुजाति यह मानने को तैयार नहीं कि आधुनिक मानव-समाज भी उसी तरह उपास्य नारायण है। भक्त अर्जुन ने प्रत्यक्ष शरीरधारी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा कैसे की थी ? उन के निर्धारित राष्ट्रीय कार्य में खुद भाग लेकर ही तो वीर अर्जुन की श्रीकृष्णोपासना पूर्ण हुई। भक्त हनुमानजी ने भी मानव देह धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामचंद्रजी के उस काल में चलाये राष्ट्रीय कार्य में हाथ बँटाकर ही रामोपासना की थी। यह पूर्वेतिहास सर्व-विश्रुत है। लेकिन आज कोई इस बातपर श्रद्धा नहीं रखता कि वर्तमान युग में भी ऐसी उपासना की जा सकती है। अर्जुन एवं हनुमानजी के कालमें लोग प्रत्यक्ष देहधारी तथा हलचल करनेवाले परमात्मा से बोलते, मतभेद प्रकट करते और अवसर पर सहकारिता भी करते थे। उन के प्रवर्तित महान् राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय सहानुभूति दर्शाते एवं उसे ही अपना परम कर्तव्य समझते थे। पर आज की हिन्दुजाति, कई सहस्र वर्ष पूर्व कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण, लेकिन इसीलिए आजदिन कुछ भी हलचल न करते हुए, देवों की उपासना करने में तल्लीन है। यह तो नितरां असंभव है कि अतीत में जो

लोकसेवा का कार्य उन्हों ने आँका था, उसकी पूर्ति करने में वे अपना तन-मनधन लगा दें; तथापि तत्सदृश कार्यमें अपना हाथ बँटाने की भी तैयारी नहीं दिखाई देती है। इतना ही क्यों, वैसा करना भक्तिका ही रूप है, इतना मान लेना भी आज असंभव प्रतीत होता है।

अतीत में लोगों ने अपने उपास्य देवता से किस तरह बर्ताव रखा था, उस का यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से निरीक्षण किया जाय तो भी, वर्तमानकाल के लोगों को अपने सत्यकर्तव्य का परिचय पाना सुगम होगा और सच्चे मार्ग का दर्शन भी होगा। लेकिन बडे दौर्भाग्य से, ऐतिहासिक दृष्टि से देवों के चरित्र का निरीक्षण न हो तो ठीक ऐसी प्रवृत्ति जनता में रूढ है, जिस से वह सत्यमार्ग से अधिकाधिक दूर जा रही है।

साधुसंतों के वचनों का क्या किया जाय, उस के बारे में इतना कहना ठीक होगा कि प्रायः सभी संतों ने माना है विश्व ही परमात्मा का साक्षात् रूप है। तुकाराम ने जैसे कहा कि—

'समूचा संसार सुखमय करूँ। विश्वको उबारूँ लीलयैव।' वैसे ही अन्य संतों ने कहा है अर्थात् वे निःसंशय चाहते थे कि संसार सुखमय बने तथा उस की सिद्धता के लिये वे सचेष्ट भी थे। देखिए, तुकाराम जैसे सन्त क्या कहते हैं—

> विष्णुमय विश्व धर्म वैष्णवोंका।
> कपच धर्मों सर्वेश्वर-पूजनका।
> समूचा ब्रह्मरूप, नहीं सूना स्थल।
> कहत तुका नाद। समूचा हुआ गोविन्द॥

मुकुन्दराज कहते हैं— कहे मुकुन्दराज समूचा यह गोविन्द।

बस, इसी भाँति सभी संतों को विश्वरूप परमात्माका परिचय प्राप्त हुआ था। संत रामदासजी ने कहा कि 'श्रोतागण हैं ईश्वर का रूप' तथा 'कुत्ता बनकर गुर्राता है' कहके सूचित किया कि सभी भूत उसी के रूप हैं। कबीर भी कहते हैं कि "लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गई लाल॥" विश्वरूप, परमात्मा के संबन्ध में

संतों के अन्तस्तल में सन्देह कभी था ही नहीं, हाँ सभी वैदिक कल्पनाएँ उन की वाणी में नहीं पाई जाती हैं ।

गर्भवासजन्य दुःख एवं पीडा का बखान करते हुए संत रामदासजी लिखते कि " गर्भस्थ शिशु के मुँह में कीडे कृमि घुस जाते हैं " आदि । लेकिन, यद्यपि समर्थ रामदास तथा दूसरे कई संतों की वानीमें इस ढग का घिनौना वर्णन पाया जाता है तो भी वह सरासर असत्य है । पाठकोंको अगर सन्देह प्रतीत हो तो वे वैद्यकीय ग्रन्थोंमें बतलाया गर्भ का विवरण देख लें या विश्रुत वैद्यों या डॉक्टरों से पूछ लें । गर्भ की रक्षा इतने अनोखे एवं आश्चर्यजनक ढंग से की जाती है कि उधर विष्ठा, मूत्र या कृमि पहुँच ही नहीं पाते । यदि वैदिक भाषा में इस का विवरण करना हो तो यों होगा । साक्षात् ब्रह्म का प्रत्यक्ष अंश अपने साथ ३३ देवताओं को लेकर अवतीर्ण होनेवाला है, अतः उस का संरक्षण सुचारु रूपसे जितना भी किया जा सके उतना करने के लिए सर्वोपरि श्रेष्ठ आयोजना की गयी है । जैसे यदि अपने घर कोई नरेश पधारे तो मानव हर किस्म का साफसुथरापन रखने के लिए जीजान से परिश्रम करने लगेगा; ठीक उसी प्रकार, गर्भ में राजाओं के भी राजा का अंश पुत्र-रूप से प्रकट होनेवाला है, इसीलिए उस की हिफाजत में तनिक भी न्यूनता या त्रुटिका रहना नितांत असंभव है ।

पर, असल में बात यही थी कि, 'पापमूलक जन्म है' ऐसा ही बताना संतों का उद्देश्य था । शरीर कारागृहतुल्य है या एक पिंजडा है, बस और अधिक कुछ नहीं । यही कारण है कि, गर्भवास एक महान् एवं रोंगटे खडे करनेवाला दुःख पैदा करता है, ऐसा मानने के सिवा सन्त और कर ही क्या सकते ?

इस विषय पर ज्यादह लिखना आवश्यक नहीं जान पडता, सिर्फ यही बतलाना है कि, संतवाणी की भली भाँति जाँच करनी चाहिए, हरएक वचन को ठीक परख लेना चाहिए । यदि कोई ऐसा प्रतिपादन करने लगे कि वेद-वचनों तथा वैदिक सत्य सिद्धांतों और संतवाणी के मध्य पूर्ण सामजस्य है तो वह निराधार है, इतना ही यहाँ बतला देना है ।

बीज ही वृक्ष में परिणत होता है जो कि पुष्पित हो अन्त में फलभार से लदा हुआ दीख पडता है। सभी इस बात से परिचित हैं। यहाँ दो अवस्थाएँ, यानें प्रथम (१) बीजावस्था और दूसरी (२) पुष्पफलयुक्त वृक्ष की स्थिति हैं। अब विचारशील पाठक तनिक सोचकर देख लें कि इन दो स्थितियों में 'बीज' की दशा ठीक है या 'पुष्पफलभारावनम्र वृक्ष' का रूप अधिक स्पृहणीय एवं गौरवास्पद है! सब को यह विदित है कि मानव सदैव फलों से लदे हुए पेड़ की ही उपासना एवं अभिलाषा करता है और मिट्टी खोदकर उस में छिपे पडे बीज क निकट जाने की चेष्टा कदापि नहीं करता !

ध्यान में रहे कि ब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर बीज है और उस बीज से निष्पन्न पुष्पित एवं फलित वृक्ष अथात् ही यह दृश्यमान विश्व है। बीज का विस्तार या विकास वृक्ष है जिसे हम बीज का अध पतन नहीं कह सकते। उसी तरह ब्रह्म में विद्यमान बीजरूप शक्तियों का विस्तार 'विश्वरूप' है। विश्व तो उन का व्यक्तीकरण या प्रकटीकरण है। अतएव निस्सन्देह साधक के लिये विश्वरूप ही उपास्य है जो कि नितान्त स्वाभाविक है। सच पूछा जाय तो साधक भला किस लिये और क्योंकर मूल बीज की ओर दौड़ता चला जाय ? यह समीकरण इस तरह दिखाया जा सकता है—

ब्रह्म = गुप्त विश्वशक्ति = बीज

विश्व = प्रकट ब्रह्मशक्ति = वृक्ष

यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि विश्वरूप बन जानेपर ब्रह्मने अपना निजी सत्त्व बिलकुल नहीं गँवाया है, जो वास्तव में था उसे प्रकट किया, विस्तृत बनाया, प्रभावमय हो जाय इस ढंग का सृजन कर के बताया। अर्थात् यह सुतरां स्पष्ट है कि ब्रह्म जिस प्रकार आनन्दमय है, ठीक उसी प्रकार विश्व भी आनन्दमय ही है और साधक का यह आद्य कर्तव्य है कि वह भी उस आनन्द को प्राप्त करे।

अतएव विश्व का वर्णन करते समय हीन, दीन, दु.खमय, अपूर्ण, त्याज्य, दोषपूर्ण आदि विशेषणों का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं, पर यही

दीख पड़ता है कि प्रायः सभी आचार्यों ने विश्व के लिए उपर्युक्त ढंग के विशेषण काम में लाये हैं ! किसी ने मिथ्या कहा, किसीने बंधनरूप बताया, अन्य किसी ने जाला या फंदा है ऐसा दर्शाया तो एक ने पूछा कि 'जो हुआ ही नहीं, उस की खबर भला तू क्यों पूछे ?' यह सत्य वैदिक तत्त्वज्ञान से किसी भी तरह मेल नहीं खाता। भगवद्गीता ने कितना स्पष्ट कहा कि– 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' (गी० १२।५) याने 'अव्यक्त ब्रह्म की उपासना अशक्य या कष्टतर है और व्यक्त ब्रह्मकी ही उपासना मानव के लिए शक्य है।' तथापि अभीतक व्यक्त ब्रह्मको हेय एवं परिहरणीय समझ लेने का साहस किया जाता है !!!

पूर्णमिदं, पूर्णमदः। '(इदं) यह विश्व भी पूर्ण है और (अदः) वह ब्रह्म भी पूर्ण है' क्यों ? क्योंकि यह विश्व ब्रह्म का ही रूप है। भला इस से भी स्पष्टतम भाषा में कौन कैसे बतलाये ? और इतने स्पष्ट एवं निस्संदिग्ध ढंग से कहनेपर भी यदि विश्वरूप में परिणत ब्रह्म या परमात्मा को त्याज्य मान लेना हो तो भला उन को कौन समझा दे ? देखिये गीता में कहा है—

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।' (गी० ९।११)

'मानवी शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्मा की अवहेलना मूढ अर्थात् अज्ञानी लोग करते हैं।' आज दिन सर्वत्र यही अवहेलना या तिरस्कृति प्रचलित है। कहने का आशय यही कि 'नर में विद्यमान नारायण' का अपमान हर किसी स्थान में रूढ है और क्याही बड़े अचम्भे की बात है, कि नारायण का अपमान एवं तिरस्कार मानवकृतिद्वारा प्रतिपल जारी रहने पर भी नारायण को प्रसन्न करने के लिये मन्दिरों में ऊँची आवाज में प्रार्थनाएँ की जाती हैं !!!

सब कोई दर्शनसौभाग्य प्राप्त कर सकें इसीलिए परमात्मा ने 'विश्वरूप' धारण किया है, लेकिन अचरज की बात यही है कि विश्वरूप को ही जनता ने त्याज्य ठहराया और वह अदृश्य का साक्षात्कार हो जाए इसलिये घोर परिश्रम उठा रही है ! जो अदृश्य है, भला उस का दर्शन भी कैसे हो ? वह दृश्य तो नहीं होगा, पर साधकों को उसी के साक्षात्कार की अमर साध लगी

है। ' गंगानदी सुस्त मानवके निकट चली आयी, आलसी मनुष्य उसे देखकर दूर भागने लगा।' पवित्र गंगानदी नितान्त हमारे निकट है, उसके शीतल छींटे शरीरपर प्रतिपल गिर पड़ते हैं, पर खेद की बात है कि साधक-गण उसे ही गन्दी नाली का जल मानकर सुदूर अज्ञात की ओर भागते दौड़ पड़ते हैं। इन के उद्धार के लिए गंगानदी भला क्या करे ?

विष्णुसहस्रनाम के बिलकुल प्रारम्भ में ही ' विश्वं विष्णुः ' कहा है याने ' विश्व ही साक्षात् विष्णु है।' ऐसा कहनेपर भी प्रतिदिन स्नान कर चुकने पर ' विष्णुसहस्रनाम का पठन ' करनेवाले लोग अगर विश्व को विष्णु न मानें तो फिर विष्णुसहस्रनाम के लेखक भी इन्हें और अधिक स्पष्ट रूप से कैसे बतलाये ?

पुरुष एव इदं सर्वम्। (ऋग्वेद) आत्मा वा इदं सर्वम्। (उपनिषद्)
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (उपनिषद्) वासुदेवः सर्वम्। (गीता)

इस प्रकार, सभी श्रेष्ठ वैदिक शास्त्रों ने स्पष्ट एवं अति सरल शब्दों में बताया कि ' सर्व ही आत्मा है, सर्व ही देव ' इस में जो ' सर्व ' शब्द है उस का सच्चा आशय ' यह समूचा विश्व ' ऐसा स्पष्ट है, उस में कोई वस्तु छूटनेवाली नहीं है। प्रतिदिन पुरुषसूक्त पढनेवाले तथा गीता पाठ किये विना अन्नजल का ग्रहण न करनेवाले महानुभाव भी यदि हरदिन उप-र्युक्त वचन पढते हुए भी विश्वरूपी परमात्मा का निरादर ही करना ठान लें, तो इस का क्या उपाय किया जाय, समझ में नहीं आता।

वेदप्रतिपादित सत्य एवं सनातन धर्म की केन्द्रभूत कल्पना ' विश्व-रूपी परमात्मा ' यही है। इसका तात्पर्य ' विश्व के रूप में परमात्मा है ' ऐसा नहीं, किन्तु ' विश्वरूप परमात्मा ही है ' ऐसा है। विश्व में परमात्मा है, ऐसा तो सभी मानते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ है कि परमात्मा भिन्न है और विश्व का रूप विभिन्न है, यह अन्य किसी का रूप है। यह द्वैत भाव बतलानेवाला अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। ' विश्वरूप परमात्मा है ' यही एकत्वका भाव व्यक्त करनेवाला अर्थ लेना चाहिए। इसी का स्पष्टीकरण हो जाय, इस हेतु से भगवद्गीता का ग्यारहवाँ अध्याय लिखा गया। यह

सचमुच बड़े ही अचरभे की बात है कि उस अध्याय पर भाष्य और स्पष्टीकरण लिखनेवालों ने भी विश्व का रूप त्याज्य ठहरा कर ऐसा कहा कि "विश्व का त्याग किए बिना परमात्मा का दर्शन होगा ही नहीं।"

शक्कर या चीनी की एक गुड़िया बनाई जाय तो शक्कर और गुड़िया का दर्शन एक ही समय हो जाता है। सुवर्ण के कटक वलय जैसे आभूषण तैयार किये जायें तो गहनों पर दृष्टि डालते ही सुवर्ण एवं आभूषण दिखाई देते हैं। मिट्टी का घड़ा बनाने पर मिट्टी तथा घड़ा उसी वक्त दिखाई देते हैं। ये दृष्टान्त समझने में अति सुगम हैं और ठीक वैसे ही ब्रह्म या सत् या आत्मा विश्वरूप हुआ है। इसी वजह से विश्व की ओर दृष्टिपात करते ही उसी वक्त विश्व तथा ब्रह्म का दर्शन होना चाहिए और ठीक वैसे ही हो रहा है। पर उपदेशक, कीर्तन-प्रवचनकार तथा कथा कहनेवालोंने समय असमय पर विश्व त्याज्य तथा बंधनकारक है, ऐसा दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया। इसलिए सभी लोगों पर विश्व का त्याग करने की धुन सवार है। इसका शोकजनक परिणाम यही हुआ कि दीखने पर भी नहीं दीखता और समझ में भी नहीं आता। यही आज की हालत है।

अनेक आचार्यों ने तत्त्वज्ञान से व्यवहार को अलग कर रखा है। वे सामग्रह प्रतिपादन करते हैं कि सिर्फ बूढे लोग ही तत्त्वज्ञान के बारे में चर्चा करते रहें, क्योंकि तत्त्वज्ञान कार्यरूप में परिणत हो ही नहीं सकता, व्यवहार में उतर ही नहीं सकता। पर यह अत्यन्त अयोग्य है। आचरण में उतर आये इसीलिए सत्य वैदिक तत्त्वज्ञान का सृजन हुआ है। यदि उस वेदप्रतिपादित सत्य तत्त्वज्ञान की बुनियाद पर व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के पारस्परिक संबंध का महल खड़ा किया जाय, तो ही विश्वभर में स्वर्गीय सुख–शान्ति का साम्राज्य फैल सकता है। मानवी व्यवहार एवं जीवन को आनन्दरूप बनाने के लिए जिस वैदिक तत्त्वज्ञान का सृजन दूरदर्शी एवं प्रतिभासंपन्न ऋषियोंने किया था, वही अव्यवहार्य है, ऐसा पश्चात्वर्ती आचार्यों ने बताना शुरू किया। इससे अधिक विपर्यास भला और कौनसा किया जा सकता है ? यह तो ठीक ऐसा ही हुआ है जैसे कि देवता

अमृत को अमृत देवे, लेकिन भ्रान्तिवश मानव उसे विष समझ कर मिट्टीमें फेंक दे। प्रत्यक्ष दृश्यमान विश्वरूपी परमात्मा को त्याज्य मान कर मानवजाति माया को ढूंढने में व्यर्थ समय खो रही है। इतना ही क्यों, परमात्मा तो भी नहीं दिखाई देगा और स्यात् कहीं एकाध मौके पर दीख पड़े तो जन्म-जन्मान्तरों के बीतने पर संभवतः परमात्मप्राप्ति का सौभाग्य मिल जाय ऐसा भी धर्म-प्रचारक कहने लगे हैं। फिर भला ' पुरुष एव इदं सर्वं ' या ' विश्वं विष्णुः ' या ' वासुदेवः सर्वं ' आदि वचनों ने क्या कहा?

वैदिक धर्मके प्रमुख सिद्धान्तसूत्र की दशा आज इस प्रकार हुई है। वैदिक धर्म में यदि जाननेयोग्य कोई बात हो तो यही है। इस का भली भाँति ज्ञान होनेपर शेष सारा ज्ञान स्वयमेव हो जाना संभव है। पर इसी सिद्धान्त के घोर अंधकार में रहने से केवल भ्रान्तिजनक मतमतान्तरों की मिलावट ही दीख पडती है।

आजकल मूलभूत परमात्मविषयक कल्पना का ही इतना विचित्र विपर्यास होने से, मुक्ति मोक्ष के साधन, पुनर्जन्म या आवागमन, उपासना आदि सभी बातों का विपर्यास हो चुका है। अब वैदिक धर्मियों का प्रमुख कर्तव्य यही होना चाहिये कि वर्तमानकाल में प्रचलित शुद्धाशुद्ध मिलावटी विचारधारा का ठीक तौर से जाँचपड़ताल करके शुद्ध सत्य सनातन वैदिक विचार-प्रणाली कौनसी है और दूसरे अवैदिक मत कौनसे हैं, सो निर्धारित कर लें और अन्य सभी अनावश्यक विचारों को हटाकर, केवलमात्र वैदिक कल्पनाएं ही निश्चित रूप से शुभफलदायी हैं, अतः उन को सोचकर आचार-व्यवहार में भी परिणत करने का प्रयत्न होना चाहिये।

यद्यपि हमने ऊपर अवैदिक कल्पनाओं को जैनबौद्ध कहकर निर्दिष्ट किया तथापि हम इस बात से परिचित हैं कि आजकल प्रचलित अन्य वेदविरुद्ध मतमतान्तरों में उपलब्ध कई विचारधाराएं जैनबौद्धों से पहले भी अति पुरातन कालसे प्रचलित थीं। बुद्धोत्तर संसारमें निर्मित ग्रन्थोंपर बौद्ध विचार-धारा का बड़ाही जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था, इसीलिये वह प्रभाव आजतक

ज्यों का त्यों अटल, अडिग एवं अक्षुण्ण बन बैठा है तथा स्थानस्थान पर बड़ा कष्टदायक भी प्रतीत होता है। इसलिये भी हमने अवैदिक मतों को साधारण रूप से जैन बौद्धमत नाम दे रखा है। यहाँ पर यह प्रश्न तनिक भी महत्वपूर्ण नहीं कि अवैदिक मत इस व्यक्तिविशेष का है या उस विशिष्ट प्रस्थापक का है। वर्तमान युग में हमारे सम्मुख एक ही महान् समस्या उठ खड़ी हुई है और वह है– ' उन्नत एवं प्रगतिशील बनने के लिये प्रबल एवं उत्साहवर्धक सत्य वैदिक तत्वज्ञान का अंगीकार किया जाय अथवा आज दिन के रूढ़ मिथ्यावादी मतमतान्तरों के दिगन्तव्यापी कोलाहल में किंकर्तव्यमूढ बन बैठें ?' इस महत्वपूर्ण प्रश्न के बारेमें हमारी स्पष्ट और असंदिग्ध राय यही है कि इन दिनों प्रचलित मतों के कशमकश में जनता अपना कोई निर्णय नहीं कर पाती जिस से यह हक्का–बक्का या भौंचक्की रह गयी है। उस के सम्मुख सरल, उज्ज्वल एवं स्फूर्तिदायक वैदिक तत्वज्ञान स्पष्ट शब्दों में रखना चाहिए, ताकि सत्य वैदिक सिद्धान्त के उजाले में जनता प्रगति की राहपर अविरत गति से आगे बढ़ती रहे। बेशक, यह कार्य दुष्कर, बीहड एवं महाकठिन है, क्योंकि इस का जोरों से प्रतिकार एवं विरोध करने के लिये पुराने तथा नये दोनों दलों के प्रतिस्पर्धी सुसज्ज होकर खड़े हैं। उन के आघातों को सहते हुए सरल भाषा में सत्य वैदिक सिद्धान्तों की जानकारी का प्रचार जनता में करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

ज्यों का त्यों अटल, अडिग एवं अक्षुण्ण बन बैठा है तथा स्थानस्थान पर बड़ा कष्टदायक भी प्रतीत होता है। इसलिये भी हमने अवैदिक मतों को साधारण रूप से जैन बौद्धमत नाम दे रखा है। यहाँ पर यह प्रश्न तनिक भी महत्वपूर्ण नहीं कि अवैदिक मत इस व्यक्तिविशेष का है या उस विशिष्ट प्रस्थापक का है। वर्तमान युग में हमारे सम्मुख एक ही महान् समस्या उठ खडी हुई है और वह है– 'उन्नत एवं प्रगतिशील बनने के लिये प्रबल एवं उत्साहवर्धक सत्य वैदिक सत्यज्ञान का अंगीकार किया जाय अथवा आज दिन के रूढ मिलावटी मतमतान्तरों के दिगन्तव्यापी कोलाहल में किंकर्तव्यमूढ बन बैठें?' इस महत्वपूर्ण प्रश्न के बारेमें हमारी स्पष्ट और असंदिग्ध राय यही है कि इन दिनों प्रचलित मतों के कशमकश में जनता अपना कोई निर्णय नहीं कर पाती जिस से वह हक्का–बक्का या भौचक्की रह गयी है। उस के सम्मुख सरल, उज्ज्वल एवं स्फूर्तिदायक वैदिक तत्त्वज्ञान स्पष्ट शब्दों में रखना चाहिए, ताकि सत्य वैदिक सिद्धान्त के उजाले में जनता प्रगति की राहपर अविरत गति से आगे बढती रहे। बेशक, यह कार्य सुतरां बीहड एवं महाकठिन है, क्योंकि इस का जीजान से प्रतिकार एवं विरोध करने के लिये पुराने तथा नये दोनों दलों के प्रतिस्पर्धी सुसज्ज होकर खडे हैं। उन के आघातोंको झेलते हुए सरल भाषा में सत्य वैदिक सिद्धान्तों की जानकारी का प्रचार जनता में करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

यहाँपर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कार्य की कठिनताको महसूस करते हुए भी अपने उदयोन्मुख तथा प्रगति की सुदीर्घ राहपर दृढनिश्चयपूर्वक आगे बढने के लिए कटिबद्ध राष्ट्र का उदय शीघ्र संपन्न हो जाय इसीलिये यह कार्य करना सुतरां आवश्यक है।

इस लेख में वह प्रमुख कल्पना पाठकों के सम्मुख रखने की भरसक कोशिश की गयी है जिस से अनेक प्रश्नों के उत्तर दिये जा सकते हैं। यदि यह विचारप्रणाली ठीक प्रकार ज्ञात हुई तो इसी तरह के प्रायः सभी सवालों का फैसला हो जायगा।

॥ प्रथम भाग समाप्त ॥